हिन्दी नाट्य साहित्य
और
रंगमंच की मीमांसा

प्रथम खण्ड

लेखक
कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
बड़ौदा विश्वविद्यालय बड़ौदा

१९६४
भारती ग्रन्थ भण्डार
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
२, अन्सारी रोड, दरिया गंज दिल्ली-६

प्रकाशक
गौरीशंकर शर्मा
भारती ग्रन्थ भण्डार

मूल्य १२ ५०

मुद्रक
आधुनिक प्रेस
बड़ौदा।

स्वगुरुवर डॉ० दशरथ शर्मा जी

को

सस्नेह



आत्म निवेदन

'हिन्दी नाट्य-साहित्य और रंगमंच की मीमांसा' ग्रन्थ हिन्दी जगत् के वरेण्य विद्वानों शोधकर्ताओं और मर्मज्ञों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे हार्दिक संतोष का अनुभव हो रहा है। यह ग्रंथ मेरे दीर्घकालीन अध्ययन और शोध का परिणाम है। यह ग्रन्थ सन् १९६६ में ही प्रकाशित हो चुका था किन्तु अनेक अनिवार्य कारणों से उसके प्रकाशित होने में विलम्ब हो गया।

इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में भारतीय नाट्यपरम्परा के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में विभिन्न विदेशी एवं स्वदेशीय विद्वानों ने जो मत व्यक्त किए हैं उनकी समीक्षा करते हुए उनके वास्तविक स्वरूप के उद्घाटन एवं प्रतिपादन का प्रयत्न किया गया है। दूसरे, तीसरे चौथे और पाँचवें अध्याय में मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परम्परा का विस्तृत प्रामाणिक अनुशीलन किया गया है। इसमें यह सिद्ध किया गया है कि मुसलमानों के आक्रमण के परिणामस्वरूप राष्ट्र की नाट्यपरम्परा के सर्वथा विच्छिन्न अथवा निःशेष हो जाने की धारणा वास्तविक तथ्यों पर आधारित नहीं है। वस्तुतः इस संकट-काल में लोक-नाट्य एवं धार्मिक लीला-नाटकों के रूप में हिन्दी नाट्यपरम्परा का सम्वर्द्धन हुआ जिससे हमारे साहित्य की तत्कालीन सभी धाराएं समृद्ध एवं प्रभावित हुईं। इसी काल के प्रारम्भ में गोविन्द हुलास तथा मर्मानुकूल सात्त्विक नाटक लिखा गया। इस नाटक की उपलब्धि शोध के क्षेत्र में एक युगान्तरकारी घटना है जिससे हिन्दी की साहित्यिक नाट्यपरम्परा की प्राचीनता और अखण्डता दोनों ही निर्विवाद बन गई हैं। इन शोधों के परिणाम स्वरूप हिन्दी की नाट्यपरम्परा की पूर्व सीमा का अप्रत्याशित विस्तार हुआ है और यह धारणा सर्वथा मिथ्या प्रमाणित हो गई है कि हिन्दी नाटक का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में हुआ। इन अध्यायों में रासलीला, रामलीला, नौटंकी, स्वांग, भगत, माच, ख्याल, भवाई, यात्रा आदि नाट्यरूपों के उद्भव और विकास के अधिक से अधिक प्रामाणिक विवरण का प्रयास किया गया है और बहुत-सी नवीन एवं प्रमाण सामग्री प्रकाश में लाई गई है। छठे सातवें और आठवें अध्याय में नाटककार भारतेन्दु और उनके समसामयिकों एवं परवर्तियों की नाट्य-कृतियों का अध्ययन तथा उनका मूल्यांकन परिमार्जित दृष्टिकोण से किया गया है और ऐसी बहुत-सी सामग्री प्रकाश में लाई गई है जिसकी चर्चा अब तक नहीं की गई थी।

हिन्दी के प्रायः सभी नाट्यशोधकों ने द्विवेदीयुगीन नाट्यप्रवृत्तियों एवं उपलब्धियों की उपेक्षा की है। इस ग्रन्थ में द्विवेदी युग में हिन्दी रंगमंच की क्रियाशीलता का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस युग में अनेक व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक नाट्य मंडलियों का उद्भव हुआ और उनका

मदन जैसे अनेक सर्वस्व त्यागी नाटककार एवं अभिनेता सामने आए उन सबका विस्तृत विवरण इस प्रबंध के अन्तिम अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रबन्ध में पहले-पहल अहमदाबाद की अज्ञात नाट्यशाला का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह नाट्यशाला अपने समय में हिन्दी रंगमंच की एक महान् उपलब्धि थी पर इसका परिचय हिन्दी साहित्य-जगत को नहीं था। मुझे विश्वास है इस प्रबन्ध में प्रस्तुत सामग्री द्वारा हिन्दी के नाट्य साहित्य के अध्ययन को नई दिशा एवं प्रगति प्राप्त होगी। इस प्रबन्ध में प्रस्तुत सामग्री हिन्दी के अखिल भारतीय स्वरूप को भी प्रमाणित करती है।

इस ग्रंथ के लिए सामग्री-संकलन लेखन एवं मुद्रण की अवधि में जिन विद्वानों से मुझे प्रेरणा और परामर्श प्राप्त हुआ उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। इनमें आचार्य डा० जयदेवसिंह आचार्य बलदेव प्रसाद मिश्र एवं आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का स्थान प्रमुख है। आचार्य जयदेव सिंह ने मुझे इस विषय पर कार्य करने की प्रेरणा दी और आचार्य मिश्र ने मुझे इस दिशा में निरन्तर कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस कार्य के निमित्त मुझे ब्रजभूमि राजस्थान मध्यभारत आदि के लम्बे-लम्बे प्रवास करने पड़े हैं। इन यात्राओं में मुझे अनेक भक्तों विद्वानों पुस्तकालयों के अध्यक्षों आदि का सहज सौहार्द्रपूर्ण सहयोग मिला है उन सबके प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता निवेदित करता हूँ। इन महानुभावों की संख्या इतनी अधिक है कि उनका अलग अलग उल्लेख सम्भव नहीं। विद्वद्वर डॉ० दशरथ ओझा जैसे नाट्यसाहित्य के कृती अध्येताओं के प्रति भी मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने अपनी साधना से इस [illegible] को समृद्ध किया है। डॉ० ओझा ने मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परम्परा की कतिपय अत्यन्त महत्वपूर्ण कड़ियाँ खोज निकाली हैं अतएव उनका कार्य चिरस्मरणीय बन गया है।

मेरे विद्वान् सहयोगी डा० मदनगोपाल गुप्त का हार्दिक सहयोग इस ग्रंथ की सफल व्यवस्था में रहा है। उनकी आत्मीयता का मेरा कृतज्ञताज्ञापन सहन नहीं होगा। मेरे शोध छात्र श्री रामदेव त्रिपाठी ने सहायक-ग्रन्थ-सूची तैयार करने तथा प्रूफ की पढ़ाई के अन्तिम दौर की व्यवस्था का पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया वे मेरे आशीर्वाद के अधिकारी हैं। अन्त में मैं अपने उत्साही प्रकाशक श्री गौरीशंकर शर्मा को धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी तत्परता के फलस्वरूप यह ग्रंथ प्रकाश में है।

विश्वास है सुधी जनों के अनुशीलन की कसौटी पर खरा उतरकर यह ग्रंथ अपने अस्तित्व को सार्थक करेगा।

प्रधान संस्था सयाजी ग्राम बड़ौदा
तुलसी जयन्ती श्रावण शु० २०२० वि०

चंद्रप्रकाशसिंह

विषय-सूची

१

भारतीय नाट्य-परंपरा

देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने भारतीय नाटक की उत्पत्ति के संबंध में अनेक मतवादों की सृष्टि की है। इन सभी लोगों का ध्यान सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध उस रूपक की ओर जाता है जिसमें ब्रह्मा द्वारा योगस्थ होकर ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गान और अथर्ववेद से रस लेकर एक सार्ववर्णिक नाट्यवेद के रचे जाने की कथा कही गयी है।[1] विद्वानों ने प्रायः इस भारतीय नाटक की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत मान लिया है, और इसकी ऐतिहासिक समीक्षा में प्रवृत्त होकर विभिन्न अभिनव निष्कर्ष निकाले हैं। वस्तुतः इस प्रकार इस रूपक का वास्तविक रूप उपेक्षित हुआ है और अनेक निराधार और अनावश्यक[2] कल्पनाओं को आधार मिला है। यह कथा एक रूपक-मात्र है और इसका नाटक के जन्म अथवा विकास की परंपरा के विवरण में कोई विशेष स्थान नहीं है। इसमें केवल नाट्यकला के स्वरूप और उसके आदर्शों का निर्देश किया गया है।

वैदिक संवाद—सूक्त

नाटक की उत्पत्ति के विषय में अनुसंधान करने का उद्देश्य है उसके पूर्वतम रूप का ज्ञान लेना। भारतीय नाटक का पूर्वतम रूप हमें वैदिक संवाद-सूक्तों

१—नाट्यशास्त्र १।११ १९।

२—द्रष्टव्य कीथ 'संस्कृत ड्रामा' पृ० १२।

में मिलता है। अकेले ऋग्वेद में ही इस प्रकार के प्रायः पंद्रह संवाद-सूक्त मिलते हैं जिनमें यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, अगस्त्य-लोपामुद्रा, विश्वामित्र-नदी इंद्र-वामदेव आदि के संवाद हैं। निर्विवाद रूप से इन संवाद-सूक्तों में नाटकीय कथोपकथन के गुण विद्यमान हैं।

मैक्समूलर[1] का अनुमान है कि ऋग्वेद का इंद्र-मरुत् संवाद मरुतों के सम्मान में होने वाले यज्ञों के अवसर पर दुहराया जाता था। संभवतः दो दलों द्वारा इसका अभिनय भी होता था जिनमें एक इंद्र और दूसरा मरुतों और उनके अनुचरों का प्रतिनिधित्व करता था। प्रोफेसर लेवी ने भी इस धारणा की पुष्टि की है। इसे दुहराते हुए उन्होंने कहा है कि सामवेद से प्रकट है कि संगीत-कला वैदिक काल में पूर्ण विकास को प्राप्त कर चुकी थी। ऋग्वेद[2] में ऐसी कुमारियों का उल्लेख है, जो वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर नृत्य करती हैं और अपने प्रेमियों को आकर्षित करती हैं। ऋग्वेद में चमकीले-वस्त्र नर्तकी के रूप में उषा का मनोहारी वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में संगीत के साथ नृत्य करने वाले पुरुषों का विवरण मिलता है। अतएव यह मान लेने में कोई विशेष आपत्ति नहीं हो सकती कि ऋग्वेद-काल में नाटकीय प्रदर्शन होते थे, जिनका स्वरूप धार्मिक था। इनमें पुरोहित पृथ्वी पर स्वर्ग की घटनाओं का अनुकरण करने के लिए देवताओं और ऋषियों की भूमिका ग्रहण करते थे। इस मत का स्वाभाविक निष्कर्ष प्रोफेसर वान श्रॉयडेर के सिद्धांत में मिलता है। उनका कथन है कि संवाद-सूक्त और मत-सूक्त (ऋग्वेद १०।११९) जैसे कुछ स्वगत-सूक्त भी वैदिक अध्यात्म-रूपकों के अवशेष हैं, जो लोकरूप में भारोपीय काल से चले आ रहे हैं। इन रूपकों की परंपरा का जन-साधारण में प्रचलित लोकप्रिय रूप हजारों वर्ष बाद आज भी बंगाल की यात्राओं में मिलता है। इसके विपरीत सुसंस्कृत तथा पुरोहित वर्ग के आश्रय में पोषित वैदिक नाटक बिना किसी उत्तराधिकारी के ही समाप्त हो गया।

संवाद-सूक्त आध्यात्मिक नाटक (रूपक) हैं, इस मत के समर्थन में डा० हर्टेल ने एक नवीन तर्क उपस्थित किया है। उनका कहना है कि वैदिक सूक्त गाये जाते थे। गाने में एकाधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती थी,

---

1—Die Sagenstoffe des Rigveda P 27

२—१।९२।४

क्योंकि गान समय एक ही गायक के लिए विभिन्न वक्ताओं के बीच आवश्यक अंतर स्पष्ट कर सकना असम्भव था। एक व्यक्ति ऐसा तभी कर सकता था जब ये सूक्त गाये न जाते होंगे। अतएव इन सूक्तों में नाट्यकला का प्रारंभिक रूप मिलता है जिसकी तुलना 'गीत-गोविंद'[1] से की जा सकती है। हर्टेल 'सुपर्णाध्याय' को अधिक विकसित रूप में एक पूरा नाटक मानते हैं। उनके मत में वैदिक नाटक का पृथक् अस्तित्व नहीं, उसके विकास की एक शृंखला है। ऋग्वेद में यह केवल अपने प्रारंभिक रूप में दिखायी देता है, 'सुपर्णाध्याय' में यह विकास के पथ पर है और यात्राओं में हम पुरानी शैली की परंपरा पाते हैं, जिससे हमें वैदिक नाटक से भारत के शास्त्रीय नाटक के विकास को समझने में सहायता मिलती है। इस दृष्टि से यह मत प्रायः श्रॉयडर के मत से भिन्न है। श्रॉयडर यात्राओं का प्रकृत संबंध परवर्ती नाटक से मानते हैं, जिसका विकास विष्णु-कृष्ण और रुद्र-शिव सम्प्रदायों के घनिष्ठ संपर्क में हुआ। उनके अनुसार यात्राओं तथा वैदिक संवाद-सूक्तों का मूल तो एक ही है पर विकास भिन्न है।

कीथ ने श्रॉयडर के मत का खण्डन किया है और इन सूक्तों की नाटकीयता को अमान्य ठहराया है। अपने मत का प्रतिपादन करते हुए श्रॉयडर ने ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों को प्रजनन-कर्मकांड (Fertility-ritual) के अंतर्गत होने वाले नाटक का अंग माना है। कारण, उन्होंने भारतीय नाटक की उत्पत्ति भी पाश्चात्य नाटक के उद्भव की भाँति प्रजनन-कर्मकांड से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कीथ का यह कहना ठीक ही है कि इन नाटकों में प्रजनन-कर्मकाण्ड को खोजने का विफल प्रयास किया गया है। परन्तु प्रजनन-कर्मकाण्ड के अभाव में भी इन सूक्तों की नाटकीयता कम नहीं हो जाती। यथार्थ में जैसा कि नाट्यशास्त्र में कहा गया है, भारतीय नाटक का आदर्श वेद-व्यवहार को सार्वजनिक बनाना है।[2] अतः वेद के आध्यात्मिक और दार्शनिक तथ्यों को अभिनय द्वारा जन-साधारण के लिए भी ग्राह्य बनाने का प्रथम प्रयास ऋग्वेद-काल में ही प्रारंभ हुआ प्रतीत होता है। ये संवाद-सूक्त इन्हीं अध्यात्म-नाटकों के कथोपकथन भाग का सार है। वेद के आध्यात्मिक और

१—सं० ड्रा० पृ० १०-२०
२—ना० शा० १।१२

अलौकिक सिद्धि मात्र समझ लिया जाता है। परन्तु यज्ञों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह बात भली-भाँति समझी जा सकती है कि आरंभ में उनका लक्ष्य केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक तथ्यों को अभिनय या कर्मकांड द्वारा सर्वग्राही बनाना हो था[1]। पीछे, कर्मकांड के अत्यंत विस्तृत और जटिल हो जाने के कारण यह प्रधान लक्ष्य विस्मृत हो गया और नाटक से सादृश्य रखनेवाला यज्ञों का अभिनय रूप प्रायः नष्ट हो गया। फिर भी नाटक को यज्ञों से पूरी तरह नहीं निकाला जा सका और जो उकताने वाले लम्बे-लम्बे यज्ञों के बीच-बीच सूक्तियों और यजमानों के मनोरंजन के लिए प्रहेलिका-कथाओं के साथ-साथ कुछ छोटे-मोटे नाटक के ढंग के प्रदर्शन भी होते रहे। सोम-क्रयण तथा महाव्रत के साथ होने वाली नृत्य आदि क्रियाओं को हम इसी प्रकार के प्रदर्शनों में गिन सकते हैं। अतः प्रोफेसर हिलब्रांट और कोनो का कथन ठीक ही है कि इस प्रकार की क्रियायें पूर्णरूपेण कर्मकांडीय नाटक हैं चाहे, जैसा कोनो का कथन है इनकी रचना समाज में प्रचलित लौकिक स्वांगों के अनुकरण में हुई हो अथवा स्वतंत्र रूप से।

इसके उद्भव काल में नाटक और यज्ञ के इस अभिन्न सम्बन्ध का प्रमाण हमें नाट्यशास्त्र में सुरक्षित परम्परा से भली-भाँति मिल जाता है। यह बात निर्विवाद रूप से मानी जा सकती है कि वैदिक साहित्य और उसके व्यावहारिक रूप इन सारे यज्ञों के मूल में देवासुर-संग्राम तथा उसके अंत में होने वाली इन्द्र की विजय ही है। नाट्यशास्त्र से भी यही पता चलता है कि नाट्य प्रयोग का आरम्भ देवासुर-संग्राम में असुर और दानवों की पराजय के पश्चात् होने वाले महेन्द्र-विजयोत्सव के समय ही हुआ, जिसकी नांदी में देवों द्वारा दैत्यों पर प्राप्त विजय के अनुकरण का समावेश था—

अयेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्।
तस्मिन्ध्वजमहे निहतासुरदानवे॥
प्रहृष्टामरसंकीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे।
पूर्वं कृता मया नान्दी आशीर्वचनसंयुता॥

१—डा० [illegible] कृत 'दि [illegible] ऑव वैदिक माइथालोजी'।

अथांगपदसंयुक्ता विचित्रा वेदनिर्मिता ।
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः ॥

(ना० शा०, १।५५-५७)

नान्दी के पश्चात् जो नाटक अभिनीत किया गया, उसमें भी देवों द्वारा दैत्यों और दानवों का विनाश दिखाया गया ('एष प्रयोग प्रारब्ध दैत्य-दानव नाशन') जिसमें कहा जाता है कि इस अभिनय में असुर लोग अप्रसन्न हुए और उन्होंने विघ्न करना आरम्भ कर दिया। परन्तु इन्द्र ने वहीं खड़े हुए अपने ध्वज को उठाकर उससे सारे विघ्नकारी असुरों को नष्ट कर दिया। यह देखकर देवता लोग बहुत प्रसन्न होकर बोले—'तुम्हारे दिव्य शस्त्र को धन्यवाद है। इसने सारे दानवों के सभी अंग जर्जर कर डाले हैं। अतः इसने सारे विघ्नों और असुरों को जर्जर कर डाला है, इसलिए इसका नाम 'जर्जर' होगा और जो भी हिंसक बच रहे हैं वे हिंसा के प्रयोजन से आने पर इस 'जर्जर' को देखकर इसी अवस्था को प्राप्त हो जायेंगे।'[1]

कहा जाता है कि उक्त 'जर्जर' नाम का इंद्र-ध्वज असुरों से रक्षा करने के लिये ही रंगशाला में स्थापित किया जाता था।[2] सम्भवतः यज्ञों में स्थापित यूपों का भी प्रारम्भ में यही आशय था, पीछे जब यज्ञों में हिंसा का प्रयोग होने लगा[3] तो उससे पशु बाँधने का काम भी लिया जाने लगा जिसके कारण यूप की आकृति भी कुछ विशेष प्रकार की होने लगी। इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मण-ग्रंथों में यूप को स्पष्ट इंद्र का वज्र कहा गया है[4] और स्पष्ट उसका विकसित रूप नाट्यशास्त्र के उक्त जर्जर ध्वज में पूर्णतया मिलता है। ध्वज-पूजा के अनुष्ठान-स्वरूप उक्त ध्वज को स्थापित करने की प्रथा केवल नाट्यशास्त्रों में ही नहीं अपितु नाटक की सृष्टि ही वैदिक साहित्य तथा वैदिक कर्मकांड से उद्भूत और प्रभावित इसी प्रकार की अन्य क्रियाओं में भी प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये [illegible] वैदिक संवाद

१—ना० शा० १।७०-७४

२—वही १।७५; हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त, 'इंडियन स्टेज' पृ० ४५

३—डा० [illegible] दि [illegible] वैदिक माइथोलॉजी

४—[illegible], श० ३।१।४।१९

प्रयोग भी होते थे जिनको जे० चार्पेंटियर ने 'लघु-नाटक' (Little dramas) कहा है। इसी श्रेणी में वे 'एक या समाजा साधुस्था' आते हैं जिनका प्रयत्न अशोक ने हिंसा परक 'समाजों' के स्थान पर करवाया था और जिनमें ज्योतिष्कंध आदि का प्रदर्शन भी होता था।[1] विम्बा-गौतमी, धम्मिपालक, वेस्संतर आदि के जातक-कथानकों की नाटकीयता इतनी लोकप्रिय हुई[2] कि उनके प्रयोगों से न केवल भारतीय जनता का मनोरंजन हुआ अपितु विदेशी बौद्ध-समाज में भी उनके अभिनय को शताब्दियों तक आदर मिलता रहा। खेद की बात है कि कुछ साम्राज्यवादी पाश्चात्य विद्वानों ने इस बौद्धकालीन नाट्य विधि की अवहेलना करते हुए यह निष्कर्ष निकालने का असफल प्रयत्न किया है कि बौद्ध-काल में नाटक नहीं हुए। परन्तु बौद्ध ग्रंथों में भिक्षुओं के लिए नाटक देखने का निषेध होना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि उस समय नाटकीय अभिनय इतने अधिक व्यापक और लोकप्रिय थे कि बलिस्तरग भिक्षु भी उनकी ओर आकर्षित होते थे।[3] कालिदास से भी बहुत पूर्व अश्वघोष जैसे समादृत बौद्ध महाभिक्षु द्वारा 'सारिपुत्रप्रकरण' के समान नाटकों की रचना, ई० पू० तृतीय शताब्दी में सीताबेंगा और जोगीमारा की गुफाओं में नाट्यशालाओं का होना,[4] तथा उससे भी पूर्व नाट्य-शास्त्र में इसी प्रकार की नाट्यशालाओं का वर्णन देखकर यह भली भांति प्रमाणित हो जाता है कि बौद्ध काल में नाटक उक्त वेदवादी प्रभाव से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से विकसित होता रहा और उसके ऊपर कट्टरपंथी बौद्धों के निषेध का कोई प्रभाव न पड़ा।

१—इ० विनमार विन्स-बैरा: अनु०—हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त कृत 'दि इंडियन स्टेज' पृष्ठ १०-१८।

२—विण्टरनित्स कृत 'हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर', जि० २ पृष्ठ ५८ १०१ १५१; तुल०—दिव्यावदान २६ २९ और विनयपिटक (रिज़डेविड्स और ओल्डेनबर्ग द्वारा संपादित) दूसरा भाग भूमिका पृ० ८ और पृ० ३ का द्वितीय टिप्पणी।

३—दिव्यावदान का 'अवदान कुल कल्पना लीला'; तुल० विण्टरनित्स हि० ई०, लि० पृ० २६

४—डा० ब्लाख़ेर स्पास की रिपोर्ट, आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, १९०३-४; भा० ना० शा० ११९-३१

जातक कथाओं में, जो ईसा से तीसरी शती पूर्व की मानी जाती हैं, 'नट', 'नाटक' 'समाज' और 'समाज-मंडल' आदि के अनेक उल्लेख प्रायः साथ-साथ मिलते हैं। बौद्ध साहित्य में 'समाज' शब्द नाटकीय प्रयोगों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि कणवेर जातक के अंतर्गत भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की उस प्रणयात्मक कथा से प्रमाणित होता है जिसमें उक्त शब्दों का स्पष्ट प्रयोग हुआ है [1]। इस कथा के अनुसार जब काशी में ब्रह्मदत्त का राज्य था, उस समय बोधिसत्व ने एक प्रसिद्ध डाकू के रूप में जन्म लिया। उनके आतंक से प्रजा की रक्षा के लिए राजा ने उन्हें प्राणदंड दिया। काशी में राजा की प्रेयसी श्यामा नाम की एक गणिका थी, जिसका उस पर बड़ा प्रभाव था। पर वह बोधिसत्व के प्रणय-पाश में बंध गई थी। उसने अपने प्रेमी एक धनी और सुन्दर वणिक युवक को एक हजार मोहरें देकर अधिकारी के पास भेजा। परिणामस्वरूप बोधिसत्व तो श्यामा के पास भेज दिए गए और उनके स्थान पर उस वणिक् का वध किया गया। तत्पश्चात् श्यामा ने अपना व्यवसाय छोड़ दिया और अहर्निश बोधिसत्व के साथ निवास करने लगी। बोधिसत्व को शीघ्र ही यह आशंका हुई कि वणिक् की भांति कालांतर में उन्हें भी वैसा ही कुफल भोगना पड़ेगा, अतः उन्होंने श्यामा का परित्याग कर दिया।

उनके चले जाने पर यह विरहिणी श्यामा अत्यंत अधीर हो उठी और उसने उन्हें प्राप्त करने के सब संभव उपाय करने का संकल्प किया। उसने कुछ नटों को बुलाया और उन्हें पुष्कल द्रव्य प्रदान किया। नटों के यह पूछने पर कि उनको क्या सेवा करनी होगी, उसने कहा—

तुम्हाकं अगमनट्ठानं
नगरं नत्थि तुम्हे गाम निगम राजधानियो
गन्त्वा समज्जं कत्वा समज्ज मण्डले
पठममेव इमं गीतं गायेय्याथ ते
बाराणसि तो निक्खमित्वा तत्थ तत्था
समज्जं करोन्ता एकं परिवत्त गामक गमिस्सति
त सचा समज्जं करोन्ता पठममेव गीतकं गायिस्स।

१—रिस डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ११७–१२० विंटरनित्ज, हि० इं० लि०, जि० २, पृ० ५८, १२१, १२२

भरत के अयोध्या लौट आने पर मार्कण्डेय आदि ऋषियोंने अराजकता के दुष्परिणाम सूचित करते हुए नाटकों का उल्लेख किया है—

> नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः ।
> उत्सवाश्च समाजाश्च वर्द्धन्ते राष्ट्रवर्द्धनाः ॥
> (२।६५।५)

इसके अतिरिक्त बालकाण्ड के अन्तर्गत अयोध्यापुरी का वर्णन पढ़ने से मालूम होता है कि नगर में स्त्रियों के लिये पृथक् अनेक रंगशालाएँ थीं।[1] अतः प्रसाद जी का यह कहना ठीक ही है कि 'ये नाटक केवल पाठ्यरूप ही रहे हों, ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता। सम्भवतः रामायण काल के नाटक-संघ बहुत प्राचीन काल से प्रचलित भारतीय वस्तु थे।' यदि व्यामिश्रक का अर्थ मिश्रित भाषाओं में लिखा हुआ नाटक मानना ठीक हो,[2] तो ये नाटक केवल खेले ही नहीं पढ़े भी जा सकते थे, जैसा राम द्वारा नाटकों के स्वाध्याय के विवरण से प्रकट है—

> श्रेष्ठः शास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च ।
> (वा० रा० २।१।२७)

महाभारत में भी हमें विराट-पर्व में एक विशाल रंगमंच का उल्लेख मिलता है। इसी पर्व के अंतर्गत अभिमन्यु उत्तरा-विवाह के प्रसंग में नटों वैतालिकों, सूतों और मागधों के साथ-साथ नटों का भी नाम आया है, जिन्होंने सम्मानित अतिथियों का अनेक प्रकार से मनोरंजन किया। वन-पर्व में धर्म के प्रश्नों का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने बतलाया कि कीर्ति के लिये हमने समय समय पर नट-नर्तकों को द्रव्य प्रदान किया है।

१—वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम् (वा० रा० १।५।१२)

२—द्र० 'दि इंडियन स्टेज' पृ० १८ तथा कीथकृत 'संस्कृत ड्रामा' पृ० ३६

संभवतः इसी काल के आसपास नाट्य-कला पर ग्रंथ भी लिखे जाने लगे थे जैसा कि ईसा से आठ या सात सौ वर्ष पूर्व पाणिनि द्वारा उल्लिखित कृशाश्व और शिलाली के नट-सूत्रों से प्रतीत होता है। यदि शतपथ ब्राह्मण (१३ ५।३।३) के शिलाली और पाणिनि के शिलाली में कोई अंतर नहीं है तो नाट्य-कला के शास्त्रीय अध्ययन का प्रारंभ ब्राह्मण-काल से ही मानना पड़ेगा।[१] इस प्रसंग में कीथ[२] का यह मत कि यहाँ नट का अर्थ अभिनेता नहीं है मानना ठीक नहीं जँचता। कारण नाटक के साथ 'नट' शब्द का जो अर्थ कौटिल्य नाट्य-शास्त्र तथा उसके परवर्ती संस्कृत-ग्रंथों में लिया जाता है वही अर्थ रामायण, महाभारत तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी में क्यों न लिया जाए, जब कि इन ग्रंथों का समय उक्त साहित्य में के प्राचीनतम ग्रंथों से बहुत पहले का नहीं प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त जैसा कि कहा जा चुका है स्वयं रामायण में ही नाटक, नट और वधू नाटक-संघों का उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र की भाँति पाणिनि और महाभारत से पहले रामायण-काल में भी नट शब्द का अर्थ नाटक से संबंध रखनेवाला ही अधिक स्वाभाविक है। यदि कीथ[३] महोदय के कथनानुसार नट सूत्रों को केवल मूक अभिनय का ग्रंथ मान लिया जाए तो यह बात समझ में नहीं आती कि इस प्रकार के सूत्रों की परंपरा आगे क्यों नहीं चली! इसके विपरीत यदि इन नट-सूत्रों को नाट्यकला के ग्रंथ माना जाए, तो हमें यह परंपरा नाट्यशास्त्र, दशरूपक तथा नाट्य-दर्पण आदि में उत्तरोत्तर विकसित होती हुई बराबर मिलती चली आती है।

शतपथ ब्राह्मण से पाणिनि के समय तक नाट्यकला पर ग्रंथरचना को स्वीकार करने में यह बात न भूलनी चाहिए कि ये ग्रंथ कर्मकांड-युक्त नाटकों पर ही अधिक लागू होते होंगे, क्योंकि इस समय तक भोगधर्म-विरोधी सांगोपांग वैदिक कर्मकांड को दूर करने में इतना काम न हो सका था जितना बौद्ध-काल में हुआ, जब कि जैसा ऊपर लिखा गया है, नाटक का स्वतंत्र रूप से प्रचार पूरी तरह से हो चला था। कर्मकांड-युक्त बौद्धकालीन नाटकों की

१—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४ पुन॰ द्र॰ गोस्वामी चतुर्वेदी वेदव्रत 'भारत और नाट्य-शास्त्र' पृ॰ २१

२—सं॰ ड्रा॰ पृ॰ ३८ ३—वही।

श्रेणी के अन्य शास्त्रीय नाटकों का उल्लेख हमें वात्स्यायन के कामसूत्र में मिलता है जिसका समय ई० पू० पाँचवीं से तीसरी शती तक माना जाता है—

(१) गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम्, आलेख्यम् नाटकाख्या
यिका दर्शनम् ।

(कामसूत्र १ । ३ १६)

(२) पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः । कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः । द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजानियतं लभेरन् । ततो यथा श्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा । व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता । आगन्तूनां च कृतसमवायानां पूजनमभ्युपपत्तिश्च । इति गणधर्मः ।

(वही, १ । ४ । २१)

अर्थात् पक्ष या मास के किसी भी नियत दिन पर सरस्वती-भवन में नियुक्त जनों का समाज हो और आगंतुक कुशीलव इन लोगों को प्रेक्षणक (नाटकीय प्रयोग) प्रदान करें । दूसरे दिन इनको नियत रूप से पुरस्कार दिया जाय । व्यसन और उत्सव में इन लोगों की पारस्परिक एककार्यता हो । आगंतुकों तथा कृतसमवाय लोगों का पूजन तथा सत्कार हो । यह गणधर्म है ।

इस अवतरण से यह प्रतीत होता है कि सुरुचि-संपन्न शिष्टजनों (जिनके लिए ही यथार्थ में कामसूत्र लिखा गया है) के लिये सरस्वती-भवन नामक कला-मंदिर में स्थायी रूप से नियुक्त कुछ जनों द्वारा समाज (नाटकीय प्रयोग) होते रहते थे । इन समाजों में कभी-कभी अपना नाटकीय कौशल का प्रदर्शन (प्रेक्षणक) करने के लिये बाहर से कुशीलवों को भी बुलाया जाता था, जिनके लिए कदाचित् यह कला आजीविका का साधन थी । जैसा इनके नाम से ही प्रकट है, इस कला द्वारा पैसा कमाते-कमाते संभवतः इनके शील (चरित्र) में भी दोष आ जाया करता था । नटों का यह चरित्रगत विकार उस व्यापक चारित्रिक अपकर्ष का परिणाम भी हो सकता है जो डा० धर्मसिंह के अनुसार किसी वाममार्ग के कारण हमारे समाज में प्रविष्ट हुआ— ' आर्य-जाति के इतिहास

में कोई ऐसी घटना अवश्य हुई प्रतीत होती है जिसके कारण उसको अपनी संस्कृति-रक्षा के लिए कुछ सामाजिक प्रतिबंधों की सृष्टि करनी पड़ी। इस प्रश्न पर अत्यन्त गंभीर विचार करने के पश्चात मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि बहुत प्राचीन काल में ही हमारे देश में बाहर से कोई ऐसी जाति आई जो वेश्या-वृत्ति, पशु-बलि आदि के साथ-साथ समाज में वर्णभेद तथा जाति प्रथा भी लाई, क्योंकि मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि ये बुराइयाँ वैदिक समाज में नहीं थी। इस परिवर्तन का प्रभाव काव्य मात्र पर पड़ा और नाट्य को तो इसने पूर्णतया बदल दिया। अतः नट, नर्तक और शैलूष आदि वैदिक काल में पवित्र लोग समझे जाते हैं परंतु रामायण तथा महाभारत में वही गर्हित तथा व्यभिचार-ग्रस्त समझे जाते हैं। नाट्य के वातावरण की यह विकृति निश्चित रूप से सूत्र-काल में प्रारंभ हो गई थी, क्योंकि नृत्य, गीत, वाद्य आदि कौशितकी ब्राह्मण में भारतीय तथा पवित्र कलाएँ हैं, वही पारस्कर गृह्य-सूत्र में द्विज वर्गों के लिये सर्वथा त्याज्य समझी गई है।"[1] इसी लिए प्रतिदिन इनका सेवन हानिकारक समझकर केवल पक्ष या मास में कभी-कभी उत्सव की व्यवस्था की जाती थी।

चारित्रिक दुर्बलता के कारण कुशीलवों का यद्यपि संसर्ग अवांछनीय होते हुए भी उनकी कला के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए न केवल उनको पुरस्कार प्रदान किया जाता था, अपितु स्थायी रूप से नियुक्त अभिनेताओं से यह भी आशा की जाती थी कि वे उद्यम और उत्सव में कुशीलवों के साथ पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति का बर्ताव करें। कुशीलवों के प्रति यह सहानुभूति और कृपा इसलिये आवश्यक थी कि नियुक्त अभिनेताओं तथा कुशीलवों का रक्त (वर्ण) एक ही था और इसलिए परस्पर प्रीति और सहानुभूति का व्यवहार रखना स्वधर्म था।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में उल्लिखित नियुक्त अभिनेताओं के समाज और कुशीलवों के वेतनादि का अलग-अलग उल्लेख होने से ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मकांड से मुक्त होने पर नाटक की लौकिकता और लोकप्रियता के अधिक बढ़ने के साथ ही अभिनेताओं में चारित्रिक दुर्बलता के लिये प्रश्रय भी अधिक होने लगे। संभवतः इसी दोष से नाटक को मुक्त करने के लिए दिव्य जनों से

१—अर्थशास्त्र-कौटिल्य (हि० अ०) पृ० १११-११४

व्यवसायियों के हाथ से निकालकर उसे एक नया रूप दिया। परन्तु इन दोनों प्रकार के अभिनेताओं की 'एककार्यता' का परिणाम आगे चलकर नाट्यकला के लिए अस्वस्थ ही हुआ प्रतीत होता है। यही कारण है कि 'अर्थशास्त्र' में अभिनय और नाट्य को निंदित तथा ब्राह्मणों के लिये त्याज्य माना गया है। गिरनार शिलालेख में उल्लिखित 'न च समाजो कर्तव्यो बहुकम् हि दोषम्', नाटक की इसी विकृति की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है। अशोक द्वारा इसके परिहार का जो उल्लेख हमें उसके शिलालेखों में मिलता है वह वस्तुतः भारतीय समाज की उस व्यापक परिष्कार-प्रवृत्ति की एक झलक मात्र है, जिसको एक विद्वान् के शब्दों में 'सात्विकवाद' कह सकते हैं[1] और जिसके द्वारा नाट्य आदि सभी सामाजिक प्रवृत्तियों की विकृति को दूर कर उसे अ-हित से स-हित बनाने का प्रयत्न किया गया था। इस प्रकार नाटक का नैतिक परिष्कार करने की जो प्रवृत्ति हमें कालसूत्र और अशोक के शिलालेखों में मिलती है उसका सर्वोत्तम रूप हमें भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है, जिसमें पिछले ग्रंथों में हम फिर से मूल वैदिक (वेदवादी नहीं) कर्मकांड की उदात्त नैतिकता और रसवादी नाट्यादर्श की आध्यात्मिकता का पुनरुद्धार होते देखते हैं। नाट्यावतार नामक छत्तीसवें अध्याय में एक आलंकारिक वर्णन द्वारा स्पष्ट बतलाया गया है कि मंत्रादि द्वारा देवार्चनयुक्त पूर्वरंग वाले स-हित नाट्य से जहाँ लोक-कल्याण, यश और धर्म की वृद्धि होती है वहाँ दुराचारपूर्ण अश्लील हास्य और प्रहसन का आश्रय लेने वाले नाट्य से सर्वथा पतन तथा अधोगति ही निश्चित है। इस प्रकार के नाट्य का अभिनय करनेवाले, भरत मुनि के अनुसार 'निष्कृत' होकर नाट्यपद का उस गर्त में गिरते हैं जिससे नहुष द्वारा उनके पुनरुद्धार की कथा नाट्यशास्त्र में कही गयी है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यकर्म एक 'असमाहित' महान धर्म है। यही कारण है कि नाट्य के विभिन्न ग्रंथों में भारतीय नाट्यशास्त्र में सभी के लिए यथानुरूपता लाने का प्रयत्न होने पर भी केवल रूपक ही अपनी स्थिति को अक्षुण्ण रख सका और रूपकों में भी उन्हीं प्रकारों का प्रचार अधिक हुआ जो सुरुचि, सदाचार तथा मर्यादा का अच्छी प्रकार से निभा सकते थे। अतएव नाट्यशास्त्र में 'समवकार' आदि के लिये प्रयुक्त से 'शस्त्र-कुशलानि' वर्जित कर दिये गये और प्रहसन में केवल 'शिष्टाचार युक्त वार्ता' का स्थान दिया गया।[2]

१—धर्मात्मनी-भीरुरें (हि. सं.) पृ० १६५-१६६

२—वही पृ० १६६

पश्चिम के कतिपय भारतीय विद्याविदों ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय नाटक का उद्भव और विकास यूनानी नाटक से प्रभावित था। ऊपर के विवेचन से ये यह सिद्ध हो जाता है कि इस प्रकार की धारणा निर्मूल है। यूनानी नाटकों के उत्कर्ष और प्रभाव-विस्तार का काल ईसा की पहली शताब्दी मानी जाता है, परंतु भारतीय (संस्कृत) नाटक का विविध कलात्मक उत्कर्ष इसके बहुत पहले संपन्न हो चुका था। संस्कृत में नाट्यरूपों की जो विविधता भिन्नात्मकता और विशदता पाई जाती है वह ग्रीक नाटकों के पूरे इतिहास में अप्राप्य है। यूनानी रंगमंच की सबसे शक्तिशाली एवं अमर सृष्टि त्रासदी ही है। यदि यूनानी नाट्य का प्रभाव भारतीय नाटक पर पड़ा होता तो भारतीय साहित्यशास्त्र में त्रासदी के उपकरणों का पूर्ण निषेध न होता, और रंगमंच पर युद्ध और मृत्यु के दृश्य वर्ज्य न माने गए होते। इसके विपरीत भारतीय नाटक के जो प्रमुख प्राणभूत तत्त्व मान्य हैं उनका ग्रीक-नाट्य में अस्तित्व ही नहीं है। तात्पर्य यह कि प्रविधि और आदर्श किसी भी दृष्टि से भारतीय नाटक और ग्रीक नाटकों में कोई उल्लेखनीय साम्य नहीं है। पर्दे के लिए प्रयोग किए जानेवाले 'यवनिका' शब्द को लेकर ऐसे ही अथवा बहिरंग अन्य तथ्यों के आधार पर भारतीय नाटक पर ग्रीक प्रभाव दिखाने के लिए जो खींचतान की गई है वह भ्रान्त सिद्ध की जा चुकी है। वस्तुतः भारतीय नाटक आरंभ से ही जिस उल्लिखित मर्यादावादी प्रवृत्ति का पल्ला पकड़ कर चला है, वह ग्रीक नाटकों के विकास की किसी भी अवस्था में उनमें नहीं पाई जाती।

उपर्युक्त मर्यादावादी प्रवृत्ति को भास-नाटकों के कथानकों से लेकर महाभाष्य में उल्लिखित कंसवध और बलिबंध, अश्वघोष कृत 'शारिपुत्र-प्रकरण' तथा कालिदास के नाटकों तक उत्तरोत्तर निखरता हुआ देखा जा सकता है। नाट्य-साहित्य के इस उत्थान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें धर्म-भाव-युक्त और धर्मेतर-युक्त दोनों प्रकार के नाटकों व दोनों के परिवार की समता निष्पन्न है। यही कारण है कि इस उत्थान के फलस्वरूप संस्कृत के श्रेष्ठतम नाटकों की रचना हुई और कालिदास की भाँति ही शूद्रक, हर्ष, भवभूति विशाख भट्ट नारायण, मुरारि, राजशेखर तथा क्षेमीश्वर आदि अनेक नाटककार हुए जिनकी कृतियाँ प्रत्येक दृष्टिकोण से संस्कृत नाट्य-साहित्य में उच्च कोटि की मानी जा सकती हैं और जिनमें से कुछ की गणना तो विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में की जा सकती है।

कालान्तर में मानसिक-परिष्कार की उक्त प्रवृत्ति ही संस्कृत-नाटक के ह्रास का कारण बन गई। नाट्यशास्त्र ने नाट्यकला के विभिन्न अंगों का जो शास्त्रीय विवेचन प्रारंभ किया था वह आगे भी चलता रहा और एक समय आया जब कि इस प्रकार के शास्त्रीय ग्रंथ नाटककारों का पथ प्रदर्शन करने के स्थान पर उनकी उस स्वाभाविकता का ही अपहरण करने लगे, जो किसी भी कलाकार के लिए अपनी प्रतिभा की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक है। भारत के इतिहास का यह वह समय था जब कि भारतीय संस्कृति ने विदेशियों से अपनी रक्षा करने लिए रूढ़िवाद का आश्रय अधिक दृढ़ता से अपना लिया था जिसका सबसे अच्छा प्रमाण हमें अलबेरूनी के भारत वर्णन में मिलता है।[1] अलबेरूनी इस बात पर आश्चर्य प्रकट करता है कि जो भारतीय जाति एक समय अपनी उदारता के लिए प्रख्यात थी, वह इतनी संकीर्ण विचारवाली और रूढ़िवादी कैसे हो गई कि अपनी भाषा और अपने ज्ञान तक को भी दूसरों के स्पर्श से बचाने लगी। संस्कृत-नाटक के ह्रास का सबसे बड़ा कारण यह हुआ कि इस समय से बहुत पहले ही संस्कृत-भाषा और साहित्य के साथ साथ ही संस्कृत-नाटक का क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया था और उसका संबंध जनसाधारण से छूट कर केवल शिष्ट वर्ग से ही रह गया था। जनसाधारण की भाषा और विद्वानों की भाषा का अंतर निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था, दैनिक जीवन के व्यवहार की भाषा और नाटक की भाषा के बीच की खाई चौड़ी ही होती जा रही थी। ६०० ई० के लगभग देशी भाषाओं ने साहित्यिक रूप ग्रहण कर लिया था, जिसका पता हमें उस काल के उपलब्ध अनेक प्रकार के साहित्य से मिलता है। फिर भी आश्चर्य की बात तो यह है कि इस काल के कई शताब्दियों बाद तक भी बहुत बड़ी संख्या में संस्कृत नाटक लिखे जाते रहे। शिष्ट वर्ग की रुचि ध्यान में रखकर लिखे गये इन नाटकों में नाटकीयता की अपेक्षा काव्यात्मकता अधिक होती थी और उनमें वैचित्र्य की भरमार करने के लिये अनेक प्रकार के नए प्रयोग किए जाते थे। इन सब बातों के परिणामस्वरूप संस्कृत-नाटकों की नाटकीयता का ह्रास तो हुआ ही, उसका संबंध रंगमंच से भी उत्तरोत्तर विच्छिन्न होता गया। यद्यपि इस काल-खण्ड में रूपकों के उन प्रकारों की भी सृष्टि हुई जो विकास-क्रम में लुप्त हो चुके थे और जिनका लक्षण केवल नाट्यशास्त्र से प्राप्त होने वाली

१ अलबेरूनी का भारत

शास्त्रीय ग्रंथों की परम्परा में मिलता है, परंतु फिर भी वहाँ नाट्यशास्त्र के अंतर्गत इन रूपकों का उल्लेख इस बात को प्रमाणित करता है कि उस समय ये सभी प्रकार के रूपक लोकप्रिय रंगमंच पर खेले जाते थे। यहाँ इस ह्रास-काल में इनके निर्माण से केवल उनके लेखकों की पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति और रूढ़िप्रियता ही सिद्ध होती है।

इस ह्रास-काल में लिखे जाने वाले नाटकों की गतानुगतिकता तथा रूढ़िवादिता का परिणाम हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के नाटक के लिए अच्छा न हुआ। इसका प्रथम बुरा परिणाम यह हुआ कि चौदहवीं शती तक हिन्दी-नाटक को सर उठाने का भी अवकाश न मिला और चौदहवीं शताब्दी में जब विद्यापति के पारिजात-हरण और रुक्मिणी-परिणय में हिन्दी न नाटक-साहित्य को निर्माण करने का उपक्रम भी किया तो वह नाटकीय शैली तक ही पहुँच पाए, पात्रों के कथोपकथन के लिए संस्कृत अथवा प्राकृत का ही आश्रय लेना पड़ा। इसके पश्चात् मैथिली, हिन्दी और ब्रजभाषा में यद्यपि लगभग सौ नाटकों का पता चलता है, फिर भी नाटक को सार्वजनिक और लोकप्रिय रंगमंच तक पहुँचने लिए सम्भवतः भारतेन्दु काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

परन्तु इस प्रसंग में यह सोचना भूल होगी कि उस समय हिन्दी में इन साहित्यिक नाटकों के अतिरिक्त अन्य कोई नाटकीय परम्परा ही न थी। वस्तुतः ये नाटक तो उस धारा के अन्तर्गत हैं जिसका प्रारम्भ ऋग्वेद के इन्द्र-मरुत्,[1] पुरूरवा-उर्वशी आदि संवाद-सूक्तों में हुआ और जो सुत्राध्याय जैसे रूपों को प्राप्त होती हुई संस्कृत-नाटक के विकास और ह्रास के बीच से अविरल प्रवाहित हो रही है। वैदिक संवाद-सूक्तों में उपलब्ध लीलागायात्मक परम्परा भी रामायण, महाभारत आदि के पाठ अथवा सौभिकों के मूक अभिनय तथा ग्रन्थिकों के प्रदर्शन के रूप में होती हुई मूक अभिनय, छाया अभिनय, झाँकी, कथा-वाचन, काव्यात्मक संवाद आदि अनेक प्रकारों द्वारा होने वाली राम और कृष्ण की लीलाओं के रूप में आज भी पाई जाती है। इसी प्रकार वृषाकपि, माया-मेदरूप, यम-यमी संवाद, दम-सर्मा-संवाद आदि में पाई जाने वाली यथार्थवादी तथा

1—ऋग्वेद १-११-१०

आध्यात्मिक नाट्य-परम्परा में जो प्रवृत्ति दिखाई देती है उसी को हम अशोक कालीन विहारों[1] धार्मिक प्रयोगों तथा कृष्णरास की योगपीठ, निकुञ्ज, गोष्ठ तथा तथा नंद भवन की लीलाओं के अनुकरण के रूप में वर्तमान पाते हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक स्वांग, ख्याल, नौटंकी तमाशा आदि भिन्न भिन्न नामों से व्यवहृत होने वाले तथा जनसाधारण का मनोरंजन करने वाले नाटकीय प्रयोगों में जो परम्परा मिलती है, उसका भी पूर्वरूप अवश्य रहा होगा। सम्भवतः वैदिक काल से लेकर रामायण और महाभारत काल तक पाए जाने वाले सूत[2], शैलूष[3] कामसूत्र आदि में वर्णित कुशीलव तथा हर्ष के समय पुस्तक वाद्य को प्रारम्भ करने वाले ग्रामीण अभिनेताओं द्वारा पोषित नाट्य-परम्परा अपने शुद्ध लौकिक रूप में पण्डित-मण्डली के बाहर ग्रामीण जनता के बीच पनपती हुई उपर्युक्त नाट्य प्रयोगों में प्रकट हुई। अतः हिन्दी-नाटक की उत्पत्ति और विकास का निरूपण करते समय इन सभी परम्पराओं पर दृष्टि रखना आवश्यक है।

ऊपर के विवेचन में विभिन्न नाट्य-परम्पराओं की जो आधारभूत प्रवृत्तियाँ प्रकाश में आती हैं, हिन्दी-नाटक से संबंध दिखाने के लिए उनको हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) सुसंस्कृतजनों की परम्पराएँ तथा (२) साधारण जनता में प्रचलित परम्पराएँ। प्रथम प्रकार की नाटकीय परम्पराओं के प्रवर्तन के प्रयास में ही लोग अधिकारी थे जो आध्यात्मिकता तथा कलात्मकता आदि से युक्त होते थे। इसके विपरीत दूसरी परम्परा जिसका प्रसार जन-साधारण के बीच होता रहा, इस प्रकार के बंधनों में बंध कर संकुचित नहीं होने पाती। ब्रजभाषा काल में सुसंस्कृत परम्परा के अन्तर्गत एक तो साहित्यिक नाटक आते हैं जिनकी सृष्टि संस्कृत-नाटकों का आदर्श मान कर संस्कृत भाषा-प्रेमियों के बीच हुई। इन नाटकों के लेखक प्रायः संस्कृत-भाषा जानने वाले साधु और कवि होते थे जिससे उनका प्रचार भी अत्यन्त सीमित रहा होगा। दूसरे इस परम्परा में भगवान कृष्ण की उन रहस्यमयी लीलाओं का समावेश होता है, जिन्हें भक्त गण 'रास' के नाम से पुकारते हैं। रास के रहस्य को समझने तथा

१—[illegible] का ग्रन्थ अध्याय ६ का परिशिष्ट

२, ३—वाजसनेयि संहिता यजुर्वेद ३०।६ (शैलूष सूत, गोताय [illegible]) तुलना करो ऋग्वेद और डा० रा० भण्डारकर।

उनके यथार्थ रस का आस्वादन करने के लिए प्रेक्षकों में न केवल उच्च कोटि की सहृदयता अपेक्षित थी, जो साहित्यिक नाटकों का रस लेने के लिए पर्याप्त समझी जाती थी, अपितु उत्कृष्ट भावकता, विषय-पराङ्मुखता और अनुभूत आध्यात्मिक साधना भी परमावश्यक थी। वस्तुतः नाट्यशास्त्र में जिस रस-निष्पत्ति की बात कही गयी है वह इन्हीं दो प्रकार के नाटकों से संबंध रखती है। जन-साधारण की नाट्य परम्परा की पहुँच रस के इस ऊँचे आदर्श तक नहीं हो सकती। इसके अन्तर्गत एक ओर तो धर्मगाथात्मक नाट्य-प्रयोग आते हैं और दूसरी ओर स्वांग, तमाशा, नौटंकी जैसे लोकप्रिय नाटकीय प्रदर्शनों का समावेश होता है। हिन्दी के साहित्यिक नाटकों के स्वरूप को भली प्रकार समझने के लिए ऊपर वर्णित नाटक की सभी परम्पराओं को अच्छी प्रकार जान लेना चाहिए। अतः पहले इन सभी परम्पराओं का स्वरूप स्पष्ट कर लेना आवश्यक है।

२

मध्यकालीन लोकधर्मी नाट्य-परंपरा

संस्कृत-नाटक मध्ययुग में ह्रास को प्राप्त हो गया था। यह भारतीय इतिहास का वह समय था, जब शताब्दियों तक सुख-सम्पत्ति का अबाध उपभोग तथा अन्य ऐतिहासिक कारणों से राष्ट्र के जीवन में रूढ़िप्रियता अंकुरित होने लगी थी। ऐसे ही समय मुसलमानों के आक्रमण भी होने प्रारंभ हो गये जिनके परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति को विधर्मियों से अपनी रक्षा करने के लिए रूढ़िवाद का आश्रय अधिक दृढ़ता से ग्रहण कर लेना पड़ा। इस परिस्थिति का प्रतिकूल प्रभाव सभी काव्य-कलाओं पर पड़ा और नाटक के सामने तो विशेष रूप से जीवनमरण की समस्या ही उठ खड़ी हुई। कारण, नाटकों के आचार्य और लेखक भरत द्वारा निर्धारित लोक-व्यवहार को सार्वकालिक प्रमाण सार्वजनिक बनाने के नाटक के प्रधान उद्देश्य को तो भूलने ही लगे, उनके द्वारा निर्दिष्ट नाट्यशैली के आधारभूत तत्त्व लोकप्रामाण्य को भी सर्वथा उपेक्षित कर बैठे। इसके परिणाम-स्वरूप जन-साधारण की भाषा और विद्वानों की भाषा का अन्तर भी बहुत बढ़ गया और दैनिक जीवन के व्यवहार की भाषा और नाटक की भाषा के बीच की खाई इतनी गहरी हो गयी कि नाटकों की प्राकृतों में भी जन-भाषा को स्थान नहीं दिया गया और परंपरागत पुरानी प्राकृतें ही चलती रहीं।

इस ह्रासोन्मुख संस्कृत-नाटक को मुसलमानी आक्रमणों के परिणामस्वरूप बहुत धक्का पहुँचा।[1] प्रसाद[2] जी ने ठीक ही लिखा है कि 'मध्य

१—तुलनीय डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' पृ० १११-११४।

२—काव्य कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ७०—७१।

कालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था उसने यहाँ की प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया। यदि इस शासन का आगमन न हुआ होता, तो कम-से-कम वे असंख्य रंगशालाएँ जो देवमन्दिरों, तीर्थस्थानों, राजभवनों और मठशालाओं से संपन्न थीं, नष्ट होने से बच जातीं और सम्भवतः भारतीय नाटकों के विकास की साधक होतीं। किसी प्रकार की लीपापोती[1] से मुसलमानी आक्रमण और इस्लामी शासन-व्यवस्था के माथे से यह कलंक मिटाया नहीं जा सकता। आश्चर्य है, लीपापोती करनेवाले विद्वान् सन् १६४१ ई० से सन् १८५७ ई० तक के मुगल-शासन काल के ऐतिहासिक वातावरण का ही ऐसा आदर्श प्रस्तुत करते हैं,[2] उसके पूर्व की प्रायः तीन शतियों के मुहम्मद गोरी से लगा कर इब्राहीम लोदी तक के शासन-काल को भुला देते हैं, जिसमें धर्मान्ध शासकों और सैनिकों की पहुँच के भीतर के कला और शिल्प के प्रायः सब निदर्शन ध्वस्त कर दिये गये थे, नालन्दा आदि के पुस्तकालय अग्नि के भेंट हो गए थे और जिसमें मुसलमानी राजधानियों के आसपास के प्रदेशों की हिन्दू-जनता को मूक-भार पशु का जीवन बिताने को बाध्य होना पड़ा था। इस शासन के आरंभ से पहले सीताबेंगा और जोगीमारा की गुफाओं में छिपी हुई नाट्यशालाएँ स्पष्ट बता रही हैं कि उस शासन-काल में नाट्यमंडपों अथवा नाट्य-परंपरा की रक्षा ऐसे ही स्थानों में संभव थी जो दिल्ली के लिए दूर या दुर्गम थे। यही कारण है कि इस काल में जो भी नाटक लिखे या खेले जाते थे, वे प्रायः मिथिला, उत्कल, बंगाल और विशेषतः दक्षिण भारत में ही प्राप्य हैं। इस प्रसंग में यह बता देना आवश्यक है कि विल्सन और किनाश की उल्लिखित तीन शतियों के पश्चात् आनेवाले मुगलों के राज्य को कुछ लेखक 'हिन्दी साहित्य के लिए विशेषकर भारत के लिए सामान्यतया बड़ा उपकारी' कहकर प्रस्तुति से तो काम लेते ही हैं, परन्तु उसमें उसके निष्कर्ष भी निकालते हैं। यदि इस काल में सूर और तुलसी आदि भक्त कवियों की कृतियों में हिन्दी काव्य अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा था तो उसका श्रेय अकबर और जहाँगीर

१—देखिये डा० सोमनाथ कृत 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृ० १०—११ और डा० श्री कृष्णलाल कृत 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास' पृ० १५३–१५४।

२—डा० सोमनाथ कृत हि० ना० सा० इ० पृ० २०।

के 'सुरुचि पूर्ण' होने को कदापि प्रमाण नहीं हो सकता। उसका श्रेय तो उस महान् भक्ति-आन्दोलन को प्राप्त है जो मुसलमानों के भारत-प्रवेश के पूर्व ही दक्षिण भारत में प्रवर्तित होकर मुगलों के शासनकाल तक एक सिरे से दूसरे सिरे तक सारे देश को आप्लावित कर चुका था। देश के जिन सिरों को अकबर और जहाँगीर आदि की 'सुरुचिपूर्णता' स्पर्शमात्र भी न कर सकी थी, वहाँ भी इस भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप सन्त कवियों की मर्मवाणी साम्य, प्रेम, सेवा और सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का दिव्य संदेश सुना रही थी। भक्ति की यह भागीरथी जन जन के मानस का मल धो रही थी। इसकी वेगवती धारा ने जाति संप्रदाय वर्ग और मजहब आदि मानवता के कृत्रिम बन्धनों को तोड़-फोड़ दिया था। चारों ओर सन्तों की अत्यन्त तल्लीनताकारी परम प्रेममयी स्वर-लहरी धर्मनिरपेक्षता के विचित्र दृश्य उपस्थित करने लगी थी। इसलिए सत्य तो यह प्रतीत होता है कि जिन शक्तियों ने कबीर, रहीम, रसखान आदि के समान मुसलमानों को राम और कृष्ण का भक्त बना दिया था, इन्हीं का अप्रत्यक्ष प्रभाव यह भी हुआ कि अकबर और जहाँगीर भी 'सुरुचिपूर्ण' हो गए। इस स्वयंप्रकाश ऐतिहासिक सत्य की अवहेलना करके भक्तों के काव्योत्कर्ष में अकबर और जहाँगीर के शासन की छाया ग्रहण करने का प्रयत्न कोरा बुद्धि का व्यायाम ही कहा जा सकता है।

अस्तु, नाटक के उक्त ह्रास के प्रसंग पर विचार करते समय उसकी कुछ अन्य प्रवृत्तियों पर दृष्टि रखना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि उल्लिखित विपरीत परिस्थितियों में सबसे अधिक क्षतिग्रस्त होने वाली हमारे नाटकों की वह समृद्ध नागर परंपरा है, जिसे भरत ने नाट्यधर्मी कहा है। इस परंपरा का अन्तिम नाटक संभवतः श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्य और सहयोगी श्री रामानन्द राय का लिखा हुआ "जगन्नाथ वल्लभ" है जो पुरी के शासक श्री प्रताप रुद्र के आदेश से जगन्नाथ जी के मन्दिर में अभिनीत हुआ था।[1] परन्तु मुसलमानों द्वारा विशेष रूप से आक्रान्त हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेशों में इस प्रकार के किसी अभिनय का उल्लेख हमें इसके बहुत पहिले से ही नहीं मिलता। इस नाट्यधर्मी परम्परा के छिन्नभिन्न और प्रायः लुप्त हो जाने पर वह परम्परा फिर भी अक्षुण्ण बनी रही जिसको भरत के शब्दों में लोकधर्मी कह

१—हेमेन्द्र नाथ दत्त 'इंडियन स्टेज' पृ० ११०

सकते हैं। इस परम्परा में 'रंगमंच पर कृत्रिम उपकरणों का प्रयोग बहुत कम होता था। इसलिए तत्कालीन परिस्थितियों में सुकरता और सुभाग्यता की दृष्टि से इसका अनवच्छिन्न रहना और लोकप्रिय होते जाना स्वाभाविक था। इस परम्परा के अनेक रूप देश के विभिन्न भागों में इस समय प्रचुरता से बिखरे हुए मिलते हैं जिनको हम दो शाखाओं के अन्तर्गत ले सकते हैं - पहली धार्मिक और दूसरी लौकिक।

यह लोकधर्मी नाट्य-परम्परा प्रारंभ में जन-साधारण तक ही सीमित रही, और पंडित-शास्त्री तथा शिष्ट-जनों का समुदाय नाट्यधर्मी परंपरा के न रहने पर भी उसकी ओर विशेष आकृष्ट न हुआ। परन्तु विक्रम की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में जब भक्ति आन्दोलन ने राष्ट्र में नई चेतना भरी तब जहाँ एक ओर श्रव्य काव्य के मुक्तक और प्रबन्ध नाम के दोनों भेद खूब पनपे तो दूसरी ओर दृश्यकाव्य भी उपेक्षित नहीं रहा। रंगमंचों के न रहने से पुरानी नाट्यधर्मी परम्परा के पनपने का अवकाश ही नहीं रह गया था, इसलिए भक्ति आन्दोलन के प्रमुख उपासकों ने लोकधर्मी-परंपरा के पुनरुत्थान की ओर ध्यान दिया। परिणामस्वरूप इस काल में हम समस्त भारत में लोकधर्मी नाट्य परम्परा की धार्मिक शाखा को समुन्नत होकर विविध प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य को प्रभावित करते हुए पाते हैं। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु नाटक के नृत्योत्थान के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत ही बन गए थे। चैतन्यभागवत के लेखक वृन्दावनदास ने लिखा है कि चैतन्य स्वयं श्रीकृष्णलीला करते थे उनका अभिनय असाधारण रूप से सम्मोहक होता था। उन्हीं के कारण बंगाल में 'यात्रा' की लोकप्रियता बढ़ी और उसने समुन्नत होकर नाटक का स्थान ले लिया। चैतन्य की ही प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रेरणा से मिथिला में 'कीर्तनिया' और आसाम में 'अंकिया' नामक नाटकों का प्रचलन हुआ। संभवतः वैष्णवों की देखादेखी बंगाल में शैवों ने 'गंभीरा' नामक विशिष्ट लोक-नाटक की परंपरा चलाई। दक्षिण में भी मलाबार में १६५७ में कालीकट के मनवेद राजा ने गीतगोविन्द को आधार बनाकर कृष्णनाट्टम का प्रचलन किया और कुछ ही समय बाद राजा वीर केरल वर्मन ने 'रामनाट्टम्' का प्रचलन किया। इसी समय के मलयालम पौराणिक आख्यानों के आधार पर कथाकली नाम के अभिनयात्मक नृत्य का प्रचार हुआ। महाराष्ट्र में भी संभवतः इन्हीं दिनों बहुत प्राचीन काल से

चले माने जाते 'ललित' में हरिकथा' और 'दशावतार' आदिक रूप में अधिक विस्तार प्राप्त किया। ललित दशहरे के अवसर पर होता था, जिसमें भगवान के चरित्रों का अभिनय होता था और अंत में राम के द्वारा रावण का वध करवा दिया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात और आसाम में भी इन्हीं दिनों रामलीला की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा अधिक बढ़ी आसाम में तो बंगाल की जात्राओं का भी प्रभाव पड़ा। इन्हीं दिनों हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में रामलीला और रासलीला ने समुन्नत और लोकप्रिय होकर साहित्यिक नाटक की क्षतिपूर्ति की।

लोकधर्मी नाट्य-परंपरा की धार्मिक शाखा के इस सार्वतिक नव विकास ने जैसा कि स्वाभाविक था, उसकी लौकिक शाखा के विकास में भी योग दिया, जिसके परिणामस्वरूप हम देश के विभिन्न भागों में लौकिक आख्यानों के नाटकीय प्रयोगों का प्रचलन देखते हैं। इनमें महाराष्ट्र का तमाशा, गुजरात की भवाई, मालवा और राजपूताना का माच तथा उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में स्वांग, सांग, भगति, तमाशा आदि के नामों से प्रचलित नौटंकी आदि हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

महाराष्ट्र का तमाशा प्रारंभ में मनोरंजन का एक ऐसा साधन था जिसके प्रयोक्ता और प्रेक्षक दोनों ही निम्न वर्ग के लोग हुआ करते थे और इसीलिए उसमें अश्लीलता भी रहती थी। यही कारण है कि 'तमाशा' से सम्पर्क रखने वाले लोग बड़ी घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। आगे चल कर रामजोशी नाम के एक उच्च कुल के अत्यन्त उत्साही ब्राह्मण तरुण ने 'तमाशा' का बहुत संस्कार किया और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। आजकल तमाशा की दशा फिर शोचनीय हो गयी है, और यद्यपि उसका अभिनय आधुनिक नाट्यशालाओं में होने लगा है, किन्तु उसमें अश्लीलता पहले से कहीं अधिक बढ़ गया है। 'तमाशा' एक सामान्य नर्तक के द्वारा ढफ या मृदंग और एकतारे या झनझने के ताल के साथ अभिनीत किया जाता है। नृत्य के साथ उचित समय के अन्तर से स्वांग भी भरे जाते हैं, जिनका प्रयोजन यह होता है कि देखनेवाले का ध्यान बँटे मनोरंजन हो, नाचनेवाला प्रायः एक नवयुवक और सुन्दर लड़का होता है जो लड़की के वेश में सज कर और पैरों में घुँघरू बाँध कर नाच करता है। इसमें प्रायः लावणियाँ गायी जाती हैं। 'गोंधळ' नाम का एक और नाट्य

रूप भी महाराष्ट्र में प्रचलित है जिसका अभिनय करनेवालों की एक जातिविशेष होती है जो गोंधळी कहलाते हैं। गोंधळ एक ही परिपाटी में आरंभ से अन्त तक चलकर स्वांग भरता है वह चमत्कार-चरित्रों का भी अभिनय करता है।

हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में राजपूताना और मालवा का माच और उत्तर प्रदेश की नौटंकी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजस्थान और मालवा में लोक-नाटकों के बहुत से रूप उपलब्ध हैं, पर उनमें सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय माच है। तख्त बिछाकर ऊपर चाँदनी तान कर बाँसे के खम्भों पर पत्तों, वन्दनवार आदि से सजाकर मंच बनाया जाता है। मंच के आगे पर्दा खिंचा रहता है, जिसके तीन ओर दर्शक बैठते हैं और बीच का स्थान अभिनय के लिए रिक्त रहता है। माच प्रायः किसी मन्दिर के सान्निध्य में होता है और अभिनय प्रारंभ होने के पूर्व सब 'खेलन्' (पात्र) आकर मंच पर बैठ जाते हैं। प्रायः एक व्यक्ति संस्कृत-नाटकों के नान्दी की भाँति निकटवर्ती मन्दिर की छत पर खड़ा होकर गणेशादि देवताओं की वन्दना करता है, जिसे मंच पर खड़े हो कर सब अभिनेता दुहराते हैं। यह मंगलाचरण अथवा नान्दी-पाठ जिसे प्रस्तावना कहते हैं इस प्रकार प्रारंभ होता है—

थाने मनाऊँ गनपति जी काशी का वासी।
आओ गजानन गुमता मेर आनन्द स्वामी॥

मंगलाचरण के बाद जब अभिनय प्रारम्भ होता है, तो वह मंच के बीच के रिक्त स्थान में ही होता है। अभिनय होते समय बीच-बीच में तबला सारंगी आदि बाजे बजते रहते हैं। संवाद अधिकांश पद्यात्मक ही होते हैं, जिनमें दोहों और चौबोलों का प्रयोग होता है। कभी-कभी राजा, रानी और सैनिक, सब बातचीत करते-करते नृत्य करने लगते हैं। अभिनय समाप्त होने पर प्रायः सब अभिनेताओं की शोभा-यात्रा निकलती है। माच का अभिनय रात्रि में काफी देर के पश्चात् प्रारंभ करने की रीति है और वह दूसरे दिन प्रातःकाल काफी देर तक कभी-कभी प्रहर दिन चढ़े तक चलता रहता है।

माच के अभिनय में कुछ ऐसी मनोरंजक विशेषताएँ हैं, जो अन्य लोक अभिनयों में नहीं पायी जातीं। माच की सबसे विनोदपूर्ण विशेषता उसका प्रेत है जो भिन्न रूपों में लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ लिए अभिनेताओं के पीछे पड़े रहते

चले आने वाले 'ललित' से 'हरिकथा' और 'दशावतार' आदि के रूप में अधिक विस्तार प्राप्त किया। ललित दशहरे के अवसर पर होता था जिसमें भगवान के चरित्रों का अभिनय होता था और अंत में राम के द्वारा रावण का वध करा दिया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात और आसाम में भी इन्हीं दिनों रामलीला की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा अधिक बढ़ी। आसाम में तो बंगाल की यात्राओं का भी प्रभाव पड़ा। इन्हीं दिनों हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में रामलीला और रासलीला ने समुन्नत और लोकप्रिय होकर साहित्यिक नाटक की क्षतिपूर्ति की।

लोकधर्मी नाट्य-परंपरा की धार्मिक शाखा के इस व्यापक नव विकास ने जैसा कि स्वाभाविक था, उसकी लौकिक शाखा के विकास में भी योग दिया, जिसके परिणामस्वरूप हम देश के विभिन्न भागों में लौकिक आख्यानों के नाटकीय प्रयोगों का प्रचलन देखते हैं। इनमें महाराष्ट्र का तमाशा, गुजरात की भवाई, मालवा और राजपूताना का माच तथा उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में स्वांग, सांग, भगत, तमाशा आदि के नामों से प्रचलित नौटंकी आदि हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

महाराष्ट्र का तमाशा प्रारंभ में मनोरंजन का एक सस्ता साधन था जिसके प्रयोक्ता और प्रेक्षक दोनों ही निम्न वर्ग के लोग हुआ करते थे और इसीलिए उसमें आंशिक ग्राम्यता भी रहती थी। यही कारण है कि 'तमाशा' से सम्बन्ध रखने वाले लोग बड़ी घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। आगे चल कर रामजोशी नाम के एक उच्च कुल के सम्पन्न उत्साही ब्राह्मण तरुण ने 'तमाशा' का बहुत संस्कार किया और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ा दी। आजकल तमाशा की दशा फिर शोचनीय हो गयी है, और यद्यपि उसका अभिनय आधुनिक नाट्यशालाओं में होने लगा है, किन्तु उसमें मनोरंजन पक्ष ही अधिक बढ़ गया है। 'तमाशा' एक सामान्य नर्तक के द्वारा ढफ या मृदंग और एकतारे या तुनतुने के नाच के साथ अभिनीत किया जाता है। नृत्य के साथ उचित समय के अन्तर में स्वांग भी भरे जाते हैं, जिसका अभिप्राय यह होता है कि देखनेवाले का ध्यान बटे, मनोरंजन हो, नाचनेवाला प्रायः एक नवयुवक और सुन्दर लड़का होता है जो लड़कियों के वस्त्र में सज कर अपने पैरों में घुंघरू बाँध कर नाच करता है। इनमें प्रायः 'लावनियाँ' गायी जाती हैं। गोंधल नाम का एक और नाट्य-

रूप भी महाराष्ट्र में प्रचलित है जिसका अभिनय करनेवालों की एक जातिविशेष होती है जो गोंधली कहलाते हैं। गोंधली एक ही पहिनावे में आरम्भ से अन्त तक रहकर स्वांग भरता है वह अवतार-चरित्रों का भी अभिनय करता है।

हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में राजपूताना और मालवा का माच और उत्तर प्रदेश की नौटंकी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजस्थान और मालवा में लोक-नाटकों के बहुत से रूप उपलब्ध हैं, पर उनमें सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय माच है। तख्त बिछाकर ऊपर चाँदनी तान कर कम के खम्भों पर पुष्पों, वन्दनवार आदि से सजाकर मंच बनाया जाता है। मंच के आगे फर्श बिछा रहता है, जिसके तीन ओर दर्शक बैठते हैं और बीच का स्थान अभिनय के लिए रिक्त रहता है। माच प्रायः किसी मन्दिर के सान्निध्य में होता है और अभिनय प्रारंभ होने के पूर्व सब 'भकत' (पात्र) आकर मंच पर बैठ जाते हैं। प्रायः एक व्यक्ति संस्कृत-नाटकों के नान्दी की भाँति निकटवर्ती मन्दिर की छत पर खड़ा होकर गणेशादि देवताओं की वन्दना करता है, जिसे मंच पर खड़े हो कर सब अभिनेता दुहराते हैं। यह मंगलाचरण अथवा नान्दी-पाठ जिसे मनाना कहते हैं इस प्रकार प्रारंभ होता है—

थाने मनाऊँ गनपति जी काशी का वासी।
आओ गजानन गूँमता मेरे आनन्द स्वामी॥

मंगलाचरण के बाद जब अभिनय प्रारम्भ होता है, तो वह फर्श के बीच के रिक्त स्थान में ही होता है। अभिनय होते समय बीच-बीच में ढोलक, नगाड़ी आदि वाद्य बजते रहते हैं। संवाद अधिकांश पद्यात्मक ही होते हैं, जिनमें दोहों और चौबोलों का प्रयोग होता है। कभी-कभी राजा, रानी और सैनिक, सब बारबार कर्ण-भरण नृत्य करने लगते हैं। अभिनय समाप्त होने पर प्रायः सब अभिनेताओं की शोभा-यात्रा निकलती है। माच का अभिनय रात्रि में काफी देर के पश्चात् प्रारंभ करने की रीति है और वह दूसरे दिन प्रातःकाल काफी देर तक कभी-कभी प्रहर दिन चढ़े तक चलता रहता है।

माच के अभिनय में कुछ ऐसी चमत्कारक विशेषताएँ हैं, जो अन्य लोक अभिनयों में नहीं पायी जातीं। माच की सबसे विनोदपूर्ण विशेषता उसके प्रहरी हैं जो अपने हाथों में लम्बी-लम्बी छड़ियाँ लिए अभिनेताओं के पीछे चलते रहते

हैं। ये प्रेरक अपनी बहियों से जितना अंश पढ़ते हैं, अभिनेतागण साथ पर उसी की आवृत्ति करते हैं। इन माचों में स्त्री-पात्रों का अभिनय करने वाले विशेष दर्शनीय होते हैं। प्रायः बड़े बड़े मुच्छड़ पुरुष शौक से स्त्री-पात्रों का अभिनय करते हैं, और स्त्रियों के आभूषण धारण करने में कोई कोर-कसर नहीं रखते। प्रथम इन मुच्छों को लम्बे घूँघट में छिपाने का असफल प्रयत्न करते हुए वे लज्जा-शीलता के नाट्य में दूर से नववधू से प्रतीत होने का प्रयत्न करते हैं, पर यदि उनकी पकड़ भारी और स्थूल हाथ-पैर उनके साथ विश्वासघात कर जाते हैं, तो इसमें उन बेचारों का क्या दोष? यह स्पष्ट है कि माच में पुरुष ही स्त्री-पात्रों का अभिनय करते हैं। स्त्री-पात्र माच के लिए निषिद्ध माने जाते हैं। पर मालवा के कालूराम उस्ताद ने यह परंपरा तोड़कर स्त्री-पात्रों को रंग-मंच पर उतारने का प्रयत्न भी किया था।

माच की अभिनय-पद्धति में प्रादेशिक विभेद और वैशिष्ट्य मिलता है। राजस्थान और मालवा के माच में रंगमंच और अभिनय की व्यवस्था में कई प्रकार का अन्तर दिखाई पड़ता है, जो दोनों प्रदेशों के संस्कारों और रीति-नीति में पाए जाने वाले ऊपरी पार्थक्य का परिणाम है। मालवा में ही माच की ही कम-से-कम चार परंपराओं का सूत्रपात अकेले उज्जयिनी से हुआ। अन्य स्थानों में इसकी अन्य परंपराएँ भी चलीं। यही बात राजस्थान के विशाल प्रदेश के माच के विषय में भी कही जा सकती है। मैंने शाजाबाद में माच का जो रूप देखा था, ऊपर उसी की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया है।

कहा जाता है कि मालवा में माच का विकास 'ठाप-ठाटी' के खेलों से हुआ। 'ठाप-ठाटी' के खेलों का सम्बन्ध उन संतों के जीवन-वृत्त से है, जिन्होंने दलितों, शोषितों और पीड़ितों की रक्षा के लिए प्रचलित समाज व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया। राजस्थान में पाटी नाम की एक अभिनय शैली जानी जाती है, हो सकता है 'ठाप-ठाटी' का इससे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। अब तक जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर माच की पुरानी परंपरा के विषय में कुछ अधिक निर्णयात्मक बात कह सकना कठिन है। पर 'माच' नाम जिस रूप में प्रसिद्ध है उसके प्रमुख निर्माता बालमुकुन्द गुरु कहे जाते हैं। माच की परंपरा में निष्णात व्यक्तियों का कथन है कि बालमुकुन्द गुरु ने सन् १९०१ ई० में भगवती की प्रेरणा से माच की परंपरा

का पुनरुद्धार और संस्कार किया। इन्होंने लगभग सोलह माच लिखे, जो राजस्थान और मालवा दोनों ही प्रदेशों में तथा बाहर भी आज तक अत्यन्त लोकप्रिय हैं। बालमुकुन्द गुरु से प्रेरणा पाकर उज्जयिनी के कवि कालूराम उस्ताद ने भी अनेक माच लिखे। माच के अन्य उपासकों में शुकदेव और पन्नालाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है, कारण इन्होंने अपनी रचनाओं को सामाजिक एवं राजनीतिक जागरण का माध्यम बनाने का प्रयत्न किया। इनके अतिरिक्त मालवा में भेरू, राधाकिशन गुरु तथा गुजर गौड़ की भी माच की अपनी अलग-अलग परम्पराएँ मिलती हैं। इन सब परम्पराओं के माचों में वीर एवं शृंगार रस की प्रधानता है। नये माचकारों में नारसिंह उस्ताद, सिद्धेश्वर सेन एवं संघा परमार ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है।

माच की जो परम्परा मुझे राजस्थान के झालावाड़ के प्रान्त में प्राप्त हुई वह पूर्णतया धार्मिक है। उसमें राजस्थान के गाँवों की संस्कृति की सब विशेषताएँ अक्षुण्ण हैं। माच का व्यावसायिक रूप वहाँ दिखाई नहीं पड़ा यदि कहीं हो भी तो उसका मुझे पता नहीं लगा। माच की इस परम्परा के संरक्षक मुझे उसके प्रति अत्यन्त निष्ठावान् प्रतीत हुए। वे लोग केवल भक्ति की लीलाएँ करते हैं और प्रेम-लीलाओं को माच के लिये अग्राह्य मानते हैं। ये लोग गोरखनाथ, प्रह्लाद, रामायण, धनुर्यज्ञ, गेंदलीला, नागलीला आदि के ही माच करते हैं। पर अनेक वीररस के माच भी राजस्थान में प्रचलित हैं, जिनमें राजा हम्मीर का माच बहुत प्रसिद्ध है। ढोला-मारू, हीर-रांझा, सदावृक्ष-सारंगा, मारवे-सेमरा, पनापूला और मूनायनी आदि के प्रेमकथात्मक माच भी बहुत लोकप्रिय हैं। इन सब में प्रेम-मार्ग के त्याग, कष्टों, संकटों और व्यथा-वेदनाओं की बड़ी हृदयहारिणी अभिव्यक्ति हुई है।

माच ही की शैली के अन्य अनेक सरल नाट्यरूप भी राजस्थान में प्राप्त होते हैं जिनमें तेजा जाट, डूँगजी-जवारजी, गोपीचन्द भरथरी आदि के अभिनयात्मक संवाद विशेष लोकप्रिय हैं। एक पूर्णतया वीर रसात्मक नाट्यीय संगीत का राजस्थान में आंशिक प्रचार है, जिसे 'कड़ा' कहते हैं। इसके विधान के अन्तर्गत एक नगाड़ा रहता है, जिस पर डंके लगाते हैं। कुछ व्यक्ति थाली की ताल पर लकड़ी से भी आवाज लगाते हैं। उसके साथ किसी वीर की कथा का गायन चलता है, जिसे एक व्यक्ति गाता है और उसके अतिरिक्त सहगामी दुहराते हैं। 'कड़ा' में पूर्णतया नाच के एक वीर की कथा

सर्वाधिक लोकप्रिय है। इनके अतिरिक्त अनेक संवादात्मक प्रेम-कथाओं के अभिनयात्मक गायन का भी राजस्थान में बहुत प्रचार है, जिसके अन्तर्गत 'देवनारायण', 'रामदेव' 'ढोला-मारवण' 'रतनो राबी' आदि की कथाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि गायक अकेला ही पात्रों की वचन-रचना, भाव-भंगिमा तथा विविध मुद्राओं का प्रदर्शन करता है। इन प्रेम-कथाओं में 'ढोला-मारवण' की लोकप्रियता सर्वोपरि है, जिसमें कहीं-कहीं मनमोहक कवित्व के अत्यन्त रमणीय रूप के दर्शन होते हैं। जिस समय गायक अभिमन्त्रा कुरजाँ पक्षी के द्वारा ढोला के पास मारवण-प्रेषित प्रेम-सन्देश का साभिनय गायन करता है, उस समय श्रोताओं की अपार भीड़ रसमग्न और भाव-विभोर होते देखी जाती है। उसकी मार्मिकता का अनुमान एक छोटे से अंश से लगाया जा सकता है —

अगरत्या अगल्या सो पगा लागणो
पीवा मैं सात सलाम।
एक सन्देसो मूँ लिखूँ जी ढोला
सुणज्यो चित्त लगाय।
मरवण पाकी पाके आम ज्यूँ
टपक-टपक रस जाय।

ढोला मारवण की कथा का गायन राजस्थान में सं० १५०० वि० से होता रहा है।

भवाई (गुजराती लोक-नाट्य)

गुजरात की भवाई हिंदी के लोकनाट्यों के बहुत निकट है, और इसके वेशों में हिंदी भाषा का भी प्रयोग होता है, इसलिए उसका विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

भवाई शब्द की उत्पत्ति सुप्रसिद्ध गुजराती नाट्यशास्त्रविद् श्री जयशंकर सुन्दरी के मतानुसार 'भव-वहि' से, श्री दोलतराय मांकड के मतानुसार 'भव' से और श्री सुन्दरलाल शाह के मतानुसार भवानी (पवन) से हुई है — भवानी > भवई > भवाई। इस शब्द भवाई का भाव से भी सम्बन्ध है।

भवाई की उत्पत्ति के संबंध में कहा जाता है कि १४ वीं शती में उत्तर गुजरात के ऊंझा नामक गाँव के हेमाला पटेल की पुत्री गंगा को मुसलमान सूबेदार हर ले गया। पटेल के पुरोहित असाइत ने अपनी कला से सूबेदार को प्रसन्न किया और गंगा को अपनी पुत्री बताकर मांग लिया। बादशाह के सामने गंगा को अपनी पुत्री सिद्ध करने के लिए उसे उसके साथ एक थाली में भोजन करना पड़ा। परिणामस्वरूप जातिवालोंने असाइत को जाति बाहर कर दिया। जाति से बहिष्कृत होजाने पर उसकी यजमानवृत्ति भी समाप्त होगई। अतः उसने ३६० भवाइयों की रचना की और अपने तीन पुत्रों के साथ घूम घूमकर स्वरचित भवाइयों का प्रदर्शन किया। ये तीनों पुत्र जाति से बहिष्कृत थे, अतः 'तीन घरवाले' कहलाये। कालांतर में उनकी जाति त्रयघरवाला>त्रयघरला>तरगाला कहलाई। इस जाति के लोगों का मुख्य व्यवसाय गाँव गाँव घूम-कर भवाई करना होगया।

भवाई में गीत नृत्य और संवाद तीनों का समन्वय है। प्रत्येक पात्र नाचता गाता आता है और जाता है। भवाई में विविध प्रसंगो (वेशों) की शृंखला होती है। इसके लिए न रंगमंच की आवश्यकता होती है न परदों की। वेशभूषा पर अवश्य थोड़ा ध्यान दिया जाता है। भवाई सदा खुले मैदान में होती है, प्रेक्षक गोलाकार बैठते हैं। बीचकी गोल जगह में, जिसे चाचर कहते हैं माता की स्थापना की जाती है और शक्ति के प्रतीक के रूपमें एक प्रज्वलित मशाल रखा जाता है। पहले माता की कथा या पूजा होती है, फिर ढोल भांगळ बजाकर प्रारंभ होनेका संकेत किया जाता है। प्रेक्षकों के पर्याप्त संख्या में आजाने पर भवाई प्रारंभ होती है। शुरू में गाने होते हैं। परंपरानुसार पहले गणपति, फिर माता तदुपरांत ब्राह्मण का वेश प्रस्तुत किया जाता है। ब्राह्मण का वेश संस्कृत नाटकों के नांदी का ही परिवर्तित एवं लोकभाग्य रूप है। इन वेशों के बाद भवाई के अन्य वेश आते हैं, और रातभर कार्यक्रम चलता रहता है। गुजराती में एक कहावत है कि 'रात थोड़ी और वेश घने'। सामाजिक ऐतिहासिक धार्मिक वेश एक के बाद एक करके चलते रहते हैं। रात बीत जाती है पर न वेश समाप्त होते हैं और न प्रेक्षकगण थकते हैं। झंडा झूलण, जसमा-ओडण, राजा-रानी, सगाळशा आदि के सुप्रसिद्ध वेशों से लेकर पूरबीयो, लालबंजी, कजोड़ो, जोगण, मणिभार आदि तक के वेश चलते हैं।

५

भवाई का मुख्य रस शृंगार और हास्य होता है। सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण और सामाजिक कुरीतियों पर करारी चोट करने का प्रयत्न भवाइयों में किया जाता है। अतः भवाइयाँ प्रायः अश्लील भी प्रतीत होती हैं। पर जिस प्रकार मक्खियाँ भिन्न-भिन्ना कर गंदगी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर देती हैं उसी प्रकार भवाइयों का अश्लीलत्व भी अकारण नहीं होता। समाज के गन्दे अंगों की ओर हमें आकर्षित करके वह हमारा बड़ा हित करता है।

यद्यपि नई रोशनी की चकाचौंध और नाटक तथा सिनेमा के प्रचार ने लोक रुचि को भ्रष्ट किया है, फिर भी गुजरात के गाँवों में माता के मंदिरों में अब भी यदा कदा भवाई की मण्डली दिख जाती है। गुजरात के लोक जीवन ने हिंदी को जिस उदारता के साथ अपनाया है भवाई निःसंदेह उसका सारा इसका प्रमाण है। भवाइयों की भाषा गुजराती होती है पर उसमें बीच बीच में हिंदी का मधुर पुट रहता है। नीचे उसका एक उदाहरण दिया जाता है—

'जसमा ओडणनो वेश' का एक अंश

[जसमाओ हाथमां पावडी कोदाळी चढावीने गीत-नृत्य शरू करे छे।]

हमे चालो मारी सैयरो
जल भरवाने जइए
जल भरवाने जइए
ऊँडा पड़ुला हाथ लइए, मारी सैयरो

[मोटी धार हाथ बांध्या पछी ऋषि आंग ओले छे अने रोटिम्म जसमाओ सामे जोई रहे छे पछी स्वगत बोले छे]

ऋषि : अब ये लोग को देखकर हम प्रसन्न हो गए (प्रकाश) सब अपने अपने रंग और नाच दान दो।

[जसमाओ गाय छे अने नाचे छे.]

जसमा : ।

मारा अटाणा आगी आवो र
हमने फुलडिये वधावे र

मारा ममराणा जोगी आवो रे
तमने चंदनीए छटावु रे
मारा धारुलियाणा आवो रे
मारा कामरियाणा आवो रे
तमने मावतां भोजन लावुं रे
मारा जटाणा जोगी
ममराणा जोगी
आवो रे

ऋषि—अब दूसरा गीत गाओ। हम तुम्हारे गीतसे प्रसन्न हैं।

अप्सरा २

अलबेला ऋषिराज !
रमवा जमवा आविया रे
जटाणा जोगीराज !
धर्यां धरूं तमे लाविया रे
अलबेला ऋषिराज !
मारा जटाणा जोगीराज !
रमवा जमवा आविया रे

[नाच बंद करी अप्सराओ एक बाजू पर ऊभी रहे छे. ऋषि ठठने रस्ता मां आगम मशाल भरी नमने प्यासनी बुझे छे. पोतेनी अप्सराने बराबर कर छे.]

ऋषि—तेरा नाम क्या ?

अप्सरा-१ हीरादे।

ऋषि ना, ना (दूसरीने) तेरा नाम क्या ?

अप्सरा-२ अमरादे।

ऋषि : ऊँहुं। (खीजते) तेरा !

अप्सरा-१ : कामकुंदला।

ऋषि : तेरेकु भोग देना पड़ेगा।

अप्सरा-१ : हम सब आपको मेवा चढ़ायेंगे, मैं गीत गाऊँगी, य लीलावती ढोल बजायेगी, महाराज !

अप्सरा-२ : और कामकुंदला नाचेगी।

ऋषि : नहीं नहीं, ये कामकुंदला रहेगी और तमारा इसकु काम नहीं।

[गाना व नाच]

कामकुंदला

तमे आ शुं बोलो छो
महाराज !
तपसी शुं तपसी बड़ो छो ?
तमने आवुं शोभे क
मुनिराज !
तपसी शुं तपसी बड़ो छो ?
तमारी भ्रमना सम
ऋषिराज तपसी शुं तपसी बड़ो छो ?

कुंभो महाराज हुं तपसी छतां तमारी ने मारी मेल नहिं जाय।

ऋषि : शो छे तन भरमुं अभिमान ? आ पृथ्वी पर जन्म ले अने मारे तपस्वीनो पर आ आकृति बना।

(—उद्धृत-गुजराती लोक साहित्य माला-मणको पहेलो (सं १९१७) पृष्ठ ५४१ से ५४३ तक टीकड़ महाराजनो वेश-भमभा भोडवानो वेश संपादक सुमानदन र देसाई।)

नौटंकी—

उत्तर प्रदेश और उसके आसपास व्याप्त इस लोकधर्मी नाट्य परम्परा के जो अनेक लौकिक रूप प्रचलित हैं, उनमें नौटंकी का प्रचार सबसे अधिक

स्पष्ट है। नौटंकी के आविर्भाव की कोई निश्चित तिथि अभी नहीं बताई जा सकती है। 'प्रताप' जी ने लिखा है, मध्यकालीन "मुसलमान आक्रमणों ने जब भारतीय रंगमंच के शिखर का विनाश कर दिया तो रंगमंच से विहीन कुछ अभिनय बन गए, जिन्हें हम पारसी खेलों के पहिले भी देखते रहे हैं। इनमें मुख्यतः नौटंकी (भाँडगी) और भाँड ही थे।"[1] इस प्रकार नौटंकी की प्राचीनता तो निर्विवाद ठहरती है। इसका एक पुराना उल्लेख हमें औरंगजेब के समकालीन मौलाना गनीमत की मसनवी 'नैरंगे इश्क' में मिलता है, जो १६८५ ई० के आसपास लिखी गई थी। मौलाना ने फारसी में जो कुछ लिखा है उसका आशय इस प्रकार है —

'आज शहर में बहुत किस्म के भाँड आये हैं जो एक तर्जो-अन्दाज के साथ नक्लें करते हैं और नमकहलाल के साथ शायद दिखाते हैं। बात और मज़ाक में वे उस्ताद हैं, खुश आवाज़ (मीठे स्वर वाले) हैं। हमारे इस्तलाह (भाषा) में इनको 'भगतबाज़' कहते हैं। कभी मर्द, कभी औरत और कभी बच्चे की नक़ल करते हैं, कभी परेशान हाल सन्यासी बन जाते हैं कभी-फिरंगी (अंग्रेज) बन जाते हैं। कभी इश्कबाज़ी आशिक और मर्द की नक़ल करते हैं कभी दाढ़ी मुड़ाकर निकली सूरत में नज़र आते हैं। कभी मुग़लों की शक्ल बनाते हैं, कभी गुलाम बन जाते हैं, कभी अच्छी सी दुल्हिया बनाते हैं, जिसका बच्चा दामन की गोद में रोता है। कभी देव बन जाते हैं, कभी परी। गरज़ हर कौम का नमूना दिखाते हैं और हर मज़हब के देवता तमाम से काम लेते हैं।"[2]

कुछ लेखक समझते हैं कि मौलाना के उपर्युक्त उल्लेख में भगतबाज़ों की भाषा के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है इसलिए वे उनके फारसी भाषा में होने की सम्भावना का दुराग्रह और विरोध सम्भवतः भी करते हैं।[3] पर मौलाना ने तो उपर्युक्त उद्धरण में उल्लिखित नक्लों व अभिनेताओं को भगतबाज़ कहकर फारसी और न यह नितान्त स्पष्ट कर दिया है कि इन नाट्य प्रयोगों की भाषा हिन्दी थी और अभिनेता भी हिन्दुस्तानी ही थे। 'भगत' (भक्ति या भक्त का अपभ्रंश)

१—रंगमंच, कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ७।
२—डॉ० रामनाथ गुप्त कृत हिन्दी-नाट्य-साहित्य का इतिहास पृ० १७ से १८ उद्धृत।
३—वही पृ० १८

ऋषि : ऊँहुँ। (भीजीन) तेप !

अप्सरा-२ कामकुंदला।

ऋषि : तेरेकु भीख देना पड़ेगा।

अप्सरा-१ हम सब आपकी सेवा बजावेंगे, मैं गीत गाऊँगी, व लीलमती ढोल बजावेगी, महाराज !

अप्सरा-२ : और कामकुंदला नाचेगी।

ऋषि नहीं नहीं, ये कामकुंदला रोती और हमरा इसकु काम नहीं।

[गाय के भन नाच के.]

कामकुंदला

समे आ हुं बोलो छो
महाराज !
तपसी हुं तपसी पड़ो छो ?
तमने आईं शोभे के
मुनिराज !
तपसी हुं तपसी पड़ो छो ?
हमारी मटाना सम
ऋषिराज तपसी हुं तपसी पड़ो छो ?

कुभो महाराज हुं तपासी मेटले तमारी मे मारी मेळ नहिं जाय।

ऋषि : ओ हो तने केवडुं अभिमान ! आ पृथ्वी पर जन्म हे भने तारी स्वामीनो घर कामोकुशी पजो।

[—कथूत-गुजराती लोक साहित्य माळा-मणको पहेलो (सं १९५७) पृष्ठ ४७१ से ४७३ तक शीर्षक भवाईना वेश-जसमा ओडणनो वेश, संपादक सुधाकहम र देसाई।]

नौटंकी—

उत्तर प्रदेश और उसके आसपास काफी दूर तक लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के जो अनेक लौकिक रूप प्रचलित हैं, उनमें नौटंकी का प्रचार सबसे अधिक

प्रचारक है। नौटंकी के आविर्भाव की कोई निश्चित तिथि अभी नहीं बताई जा सकती है। 'प्रकाश' जी ने लिखा है, मध्यकालीन 'धर्मान्ध आक्रमणों ने जब भारतीय रंगमंच के शिखर का विनाश कर दिया था रंगमंच से विहीन कुछ अभिनय बच गये, जिन्हें हम पारसी स्टेजों के पहिले भी देखते रहे हैं। इनमें मुख्यतः नौटंकी (नाटकी) और भांड ही थे।" इस प्रकार नौटंकी की प्राचीनता तो निर्विवाद ठहरती है। इसका एक पुराना उल्लेख हम औरंगजेब के समकालीन मौलाना गनीमत की मसनवी 'नैरंगे इश्क' में मिलता है, जो १६८५ ई० के आसपास लिखी गई थी। मौलाना ने फारसी में जो कुछ लिखा है उसका आशय इस प्रकार है —

"आज शहर में अजब किस्म के लोग आये हैं, जो एक तर्जो-अन्दाज के साथ नग़में करते हैं और नगमोंसाज के साथ शायद दिखाते हैं। नाच और नग़्मे में वे उस्ताद हैं, खुश आवाज (मीठे स्वर वाले) हैं। हमारे इस्तलाह (भाषा) में इनको 'भगतबाज' कहते हैं। कभी मर्द कभी औरत और कभी बच्चे की नक़्ल करते हैं, कभी परेशान बदन सन्यासी बन जाते हैं कभी फिरंगी (अंग्रेज) बन जाते हैं। कभी दहक़ानी औरत और मर्द की नक़ल करते हैं कभी दाढ़ी मुड़ाकर तिफ़्ली शक्ल में नज़र आते हैं। कभी मुग़लों की शक्ल बनाते हैं कभी गुलाम बन जाते हैं, कभी जच्चा की दुनिया बनाते हैं जिसका बच्चा दाया की गोद में रोता है। कभी देव बन जाते हैं, कभी परी। गरज हर कौम का कपड़ा पहनते हैं और हर तरह के हरबा तमाम से काम लेते हैं।"[1]

कुछ लेखक समझते हैं कि मौलाना के उपर्युक्त उल्लेख में भगतबाजों की भाषा के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है इसलिए वे उनके फारसी भाषा में होने की सम्भावना की दुराग्रह और विकृत कल्पना भी करते हैं।[2] पर मौलाना ने तो उपर्युक्त उद्धरण में उल्लिखित नक़्लों के अभिनेताओं को भगतबाज कहकर अपनी ओर से यह नितान्त स्पष्ट कर दिया है कि इन नाट्य-प्रयोगों की भाषा हिन्दी थी और अभिनेता भी हिन्दुस्तानी ही थे। 'भगत' (भक्ति या भक्त का अपभ्रंश)

१—प्रकाश, कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ७१

२—डॉ० सोमनाथ गुप्त कृत हिन्दी-नाट्य-साहित्य का इतिहास के पृ० १० से १८ उद्धृत।

शब्द के हिन्दी होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। आज भी इस परंपरा के नाट्य-प्रयोगों को मथुरा और हाथरस के आस-पास 'भगति' ही कहा जाता है। हाथरस और उसके पास इन्हीं के लिए 'स्वांग' नाम चलता है और उसके पूरब के प्रदेशों में मात्र 'नौटंकी नाम चलता है। मारवाड़ी लोग इन्हें ही तमाशा कहते हैं, कहीं-कहीं 'ख्याल' या संगीत नाम भी चलता है, पहले इसका एक नाम स्वांग भी था, पर अब यह प्रायः छूट गया है और इसका प्रयोग सीमित होकर रुपाक या साक्नी नाम के छन्द की रचना-प्रतियोगिताओं तक ही सीमित रह गया है। मौलाना गनीमत के समकालीन हिन्दी के प्रसिद्ध कवि लवल सिंह चौहान के एक उल्लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उन दिनों स्वांगों का बहुत प्रचार था। उन्होंने अपनी भाषा-महाभारत में स्वांग शब्द का प्रयोग किया है:—

कहूँ नृत्यकारी नचि गावैं।
कहूँ नाटकी स्वांग दिखावैं॥

जैसा कि मैं लिखा चुका हूँ, जब आज भी 'स्वांग' और 'भगत' आदि एक ही अर्थ में प्रयुक्त हो रहे हैं, तो मौलाना गनीमत के 'भगतबाज' और 'भगत' को क्रमशः लवलसिंह के 'नाटकी' और 'स्वांग' मान लेने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

इसी अभिनय-परंपरा के लिए भक्ति और रीति काल में सुर, प्रह्लाद, मीराबाई, गोपीचन्द और पूरनमल आदि के चरितों की बहुत बड़ी संख्या में रचना हुई थी, जिनमें अभिनेयता और साहित्यिकता दोनों का समन्वय था। नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित' इसी परंपरा की एक प्रसिद्ध कृति है, जिसमें कथावस्तु एवं संवादों की नाटकीयता, अभिनय-मुखरता और साहित्यिकता आदि सभी गुण मिलते हैं। इसकी सुगठित कथा छोटी होते हुए भी, नाटकीय वस्तु-विकास की विविध अवस्थाओं से होती हुई, अभीष्ट रसनिष्पत्ति में पूर्ण सफल होती है। निश्चय ही यह रचना उस काल के लोकधर्मी रंगमंच के विधान को दृष्टि में रखकर लिखी हुई प्रतीत होती है। उसके संवादों के बीच में पड़ने वाले स्वयं कवि के कुछ कथन, जो कथासूत्र को जोड़ते हैं, नौटंकी के 'रंगा' के कथन के समान ही प्राचीन नाटकों के चूलिका नाम के अर्थोपक्षेपक के समकक्ष हैं। वस्तुतः कवि उनमें अपनी सूचनाओं द्वारा कहीं

काम लिया है, जो रेडियो पर प्रसारित होने वाली ध्वनि-नाटिकाओं में तथा अनेक आधुनिक पद्धति के नाट्य-प्रयोगों में अनाउंसर करते हैं। अतएव, इस प्रकार के चरितों की नाटकीयता में सन्देह करने का अवकाश नहीं रह जाता। इस प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना पड़ता है कि ये चरित जटमल कृत 'पद्मिनी चरित', केशव कृत 'वीरसिंह देव चरित' आदि से भिन्न हैं, जो केवल पाठ्य या श्रव्य हैं अभिनेय नहीं। इन्हीं श्रव्यकाव्यात्मक चरितों से भेद बताने के लिए ही संभवतः उक्त दृश्यकाव्यात्मक चरितों को नाटकीय कहा जाता था जो कालान्तर में 'नाटकी' और 'नौटंकी' कहलाने लगा। नौटंकी के आज के अमार्जित रूप को देखकर हम उसके प्राचीन समृद्ध स्वरूप की भी उपेक्षा करते हैं और विशिष्ट नाट्य-परंपरा के उत्तराधिकारी होते हुए भी मध्यकाल में नाटकों के पूर्ण अभाव का रोना रोते हैं। आश्चर्य है, हमारे कुछ विद्वान् बनारसीदासकृत 'समय सार नाटक' जैसी विशुद्ध दार्शनिक एवं सर्वथा अनाटकीय कृति के आगे नाटक नाम जुड़ा देखकर ही उसे नाटक मान लेते हैं, पर उपर्युक्त चरित-साहित्य की नाटकीयता की परीक्षा करने का भी कष्ट नहीं स्वीकार करते।

आगे चलकर नौटंकी का रूप विकार ग्रस्त हो गया प्रतीत होता है। इसके विकृत होने का कारण संभवतः मुसलमानी प्रभावापन्न नगरों में इसका संपर्क था, जिसका आभास मौलाना गनीमत के उक्त रोष-विस्मयपूर्ण उद्गार से मिलता है। मुसलमानों के ऐसे ही संपर्क के कारण नाट्यशास्त्र की परंपरा का 'नाच' भी भांडों की अश्लील भँडैती में परिणत हो गया था। मुसलमानी प्रभाव से नौटंकी में जो अश्लील स्त्रैणता आई, उसका सबसे उत्कृष्ट प्रमाण अमानत की 'इन्दर सभा' में मिलता है। खेद है, डा० सोमनाथ गुप्त जैसे लोगों ने इसे "प्राप्य रंगमंचीय नाटकों में सबसे पुरातन नाटक" माना है और इसके महत्त्व के प्रतिपादन में अनेक पन्ने रंगे हैं।[1] इस प्रकार के कथन अपनी नाट्य-परंपरा की प्राचीनता के सम्बन्ध में अपरिमित अज्ञान का परिचय तो देते ही हैं, अपनी धारणाओं में भी अनेक प्रकार के भ्रमों की सृष्टि करते हैं। नाटक तत्त्वतः दृश्य काव्य होने के कारण सदैव रंगमंच-सापेक्ष्य अर्थात् रंगमंचीय है, अरंगमंचीय कृति नाटक नहीं स्वीकार की जा सकती। पुनश्च

१—देखिए डा० सोमनाथ गुप्त कृत हि० ना० सा० इ०, पृ० ९

रंगमंचीय नाटकों की परंपरा भी हिन्दी में सीमाओं के रूप में अविच्छिन्न रूप से शताब्दियों से चली आ रही है, जिसका विवरण हम आगले अध्यायों में प्रस्तुत करेंगे। उसी के समानान्तर नौटंकी की परंपरा भी प्रवाह-गति से चल रही है। इनके रहते अमानत की 'इन्दर सभा' को प्राप्त 'रंगमंचीय नाटकों' में भी सबसे 'पुरातन' स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'प्राप्य' अर्थात् जिनको अभी प्रकाश में आना है उनकी चर्चा का अधिकार ही किसे है! 'इन्दर सभा' वास्तव में नौटंकी अथवा स्वांग का वाजिदअलीशाह की रुचि के अनुरूप संयोजन (Adaptation) मात्र है।

'इन्दरसभा' में ऐसे कोई विशिष्ट गुण नहीं जो नौटंकी और रासलीला की परंपरा में पहले से ही प्राप्त न हों। इसके अतिरिक्त भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से यह ऐसी छाप रखता है कि उसे हिन्दी-नाटकों की परंपरा में सम्मिलित करने का मोह ही विचित्र प्रतीत होता है। पं० प्रताप नारायण मिश्र ने तो इसीलिए उसी समय उसे 'कौतुक' विशेषण से विभूषित किया था और उन्हीं के समकालीन 'अकबर गोरक्षा-न्याय' नाटक के लेखक जगत नारायण ने उसे 'देश का नाश' करने वाली बताया था।[1] वस्तुतः इस युग में ध्रुव, प्रह्लाद, मोरध्वज आदि के प्राचीन आदर्श चरित्रों के कथानकों के स्थान पर बदराम मुहब्बत, इश्क-मुश्किल, आशिक-माशूक की भरमार हो गई। इसी बढ़ती हुई अश्लीलता के कारण नौटंकी को हमारे समाज में जो निन्दा और निरादर प्राप्त हुआ, इससे वह आज भी पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाई है।

नौटंकी के परिष्कार के लिए जो प्रयत्न हुए, वे उल्लेखनीय हैं। ध्यान देने की बात है कि परिष्कार के ये प्रयत्न मार्गों से ही आरम्भ हुए, जहाँ आचरण की नम्रता थोड़ी बहुत अवशिष्ट थी। इस प्रकार के प्रमुख प्रयत्नों के फलस्वरूप जो सुधार हुआ उसके एक प्रमुख प्रवर्तक बुलन्दशहर के उस्ताद इन्दरमन छीपी थे। एक जनश्रुति के अनुसार यह प्रेरणा उन्हें अपने इष्टदेव से मिली हुई बताई जाती है। उनके शिष्य हाथरस के चिरंजीलाल छीपी ने अपने उस्ताद की परम्परा को आगे बढ़ाया। नौटंकी के इन दोनों आचार्यों ने धार्मिक लीलाओं का अपेक्षाकृत अधिक प्रचार किया। इन

[1]—दे० प्रताप नारायण मिश्र कृत 'संगीत शाकुन्तल' की भूमिका और जगत नारायण कृत 'अकबर गोरक्षा-न्याय' नाटक की प्रस्तावना।

महानुभावोंने ने नौटंकी के रंगमंच और अभिनय-सम्बन्धी विधान को भी बहुत सरल रखा। उस्ताद चिरंजीलाल के शिष्य हाथरस के नथाराम शर्मा ने नौटंकी के मंच विधान में अनेक कृत्रिम उपकरणों का समावेश किया। उन्होंने अपने खेलों में पर्दुसफ़्फ़ पात्रों की योजना आरम्भ की। और आहार्य में भी जड़ाऊ और भड़कीले वस्त्रों तथा अलंकारों का समावेश किया। रंगमंच भी उनकी प्रेरणा से अधिक सज्जित किया जाने लगा तथा अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्रों का भी प्रयोग होने लगा। नथाराम ने नौटंकी के विधान में जो परिवर्तन किए वह संभवतः पारसी थियेटर के बढ़ते हुए प्रभाव से अभिभूत होकर ही। आज भी नौटंकी पर सिनेमा का प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है और एक बार फिर उसका मूलरूप संकटापन्न दिखायी देता है।

नौटंकी के मूल साहित्यिक रूप के उद्धार का प्रयत्न भारतेन्दु जी ने किया। उनकी दृष्टि अपने रंगमंच की सब परम्पराओं पर गई थी। भारतेन्दु जी को अपने समय में चार प्रकार का रंगमंच मिला था—एक रामलीला का, दूसरा रासलीला का, तीसरा नौटंकी का और चौथा पारसी कम्पनियों का।

धार्मिक प्रवृत्ति के लोग रामलीला और रासलीला के प्रेमी थे, लौकिक विषयों में रुचि रखने वाले विशेषतः अशिक्षित और ग्रामीण लोग नौटंकी के अनुरागी थे। पारसी कम्पनियों का उदय अंग्रेजी-शिक्षा और संस्कृति के प्रसार के साथ-साथ नगरों में हुआ था, अतः वहाँ की अधिकांश जनता पारसी रंगमंच द्वारा प्रभावित थी। भारतेन्दु ने प्रत्येक प्रकार के रंगमंच पर खेली जाने वाली रचनाओं का परिमार्जित रूप प्रस्तुत करके दर्शकों की एक सामान्य परिष्कृत रुचि निर्माण करने का प्रयत्न किया। काशी में जो 'रामलीला श्रीमान् महाराज काशिराज भूपतिशिरोमणि की कृपा से होती थी' उसके लिए उन्होंने अत्यन्त सरल पाठ्य प्रस्तुत किया।[1] रासलीला को भी उन्होंने साहित्यशास्त्र-विहित नाट्यकला के सब तत्त्वों से विभूषित कर 'चन्द्रावली' नाटिका के रूप में उपस्थित किया। नौटंकी का समुन्नत रूप भी 'नीलदेवी' नाटिका में दिखाई पड़ा जिसे भारतेन्दुजी ने गीति-रूपक कहा है। नौटंकी को साहित्यिक रूप देने का इस काल का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयास प्रतापनारायण मिश्र कृत 'संगीत शाकुन्तल' है। इसमें खड़ी बोली, अवधी और ब्रजभाषा तीनों का प्रयोग है।

१—दे० भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० ७३०

उच्चवर्ग के लोग खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं, मध्यम अथवा निर्धन वर्ग के पात्र अवधी बोलते हैं और गीत ब्रजभाषा में हैं। इस नाटक की भाषा बड़ी चुस्त मुहावरेदार और प्रतिदिन के व्यवहार की बोली के निकट है। इस काल के कुछ अन्य लेखकों ने भी भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र का अनुसरण किया। हमारे आधुनिक नाटक-लेखकों ने इब्सन और मैटरलिंक आदि को हिन्दी में लाने की साधना तो की पर भारतेन्दु-युग के लेखकों के समान अपनी प्राचीन नाट्य-परम्परा की अन्तर्निहित शक्ति को पहचानने का कष्ट कभी स्वीकार नहीं किया।

वाद या चर्चा—

संभवतः उपर्युक्त नाट्य-परम्परा से ही विनिर्मित पद्यात्मक नाटकीय संवादों की एक परम्परा भी मध्यकाल में बराबर चलती रही। 'नरहरि' नाम के कवि ने नाटकीय संवादात्मक अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे जैसे—'मन और प्रिया चौबाद' आदि। दुखारे कवि का लिखा हुआ 'सोने लोहे को झगरो' अथवा 'सोने लोहे की चरचा' नाम का ग्रन्थ भी मिलता है। इन 'वादों' या 'चरचाओं' का वाग्वैदग्ध्य तो सराहनीय है ही कहीं-कहीं नाटकीय परिस्थितियों का उस समय की जनता की रुचि से बड़ा प्रभावशाली समावेश भी इनमें मिलता है। 'सोने-लोहे की चरचा' के अन्तर्गत सोने और लोहे का विवाद बड़ी कटुता के साथ आरंभ होता है। सोना लोहे का अपना ठाठ और इस्तार करता है तो लोहा उसे खैंच कर अपनी बहादुरी की डींग मारता है—"तुम्हें पहनकर लोग प्रेयसी को सेज पर जाते हैं और मैं तो लड़ाकू शूर-वीरों का आभरण हूँ।" सोने-लोहे का यह विवाद काफी तक चलता है। अन्त में स्वयं भगवान् विष्णु को गरुड़ पर चढ़ कर मध्यस्थता के लिए आना पड़ता है। इस 'चरचा' के कुछ अंश नीचे दिए जा रहे हैं:—

लिखी दुखारे की। अथ सोने लोह की चरचा—

चरचा सोने लोह की भारी बड़ो बवाद।
भोला भोली कुर्हन की सो कवि करत बनाय।

रेखता। वचन सोने को—

मोसो जग बड़ो लोह चाकर मेरा।
मो सो पर पार लगो कुरम घनेरा।

× × ×

चाहै जो गंग करै हमरे जोती।
तेरी सुन मोह लागत छती।

जुवाब मोटा को—

बोला जब छोह यात सुन हे मोनो।
मोहि देखि फेर तोह गाढ़त चोभे।
ताह पहिर पावों धरे सेज को।
मोह पहर सुर बीर करै तेग को।
तुमसे हमने जुड़ाम बहुतक कीन्है।
अपने कर छोड़ बगम यो रन दीन्है।
सूबा उमराय चोंच कीन्है हेरी।
मोर्ने द करन चहै संसर मेरी॥

जुवाब सोने को—

सोमे अब कोप यात छोह सो कहै।
कीकि ते हाथ सीम चोन के रहै।
हमही देख विसनु माह कंठ लमे हो।
छातिछाति कमला के हिये बसे हो।
हमरो पुनि सीस पँच रुद्र धरे है।

× × ×

लाप लेटे को—

संकर त्रिसूल रुद्र बम सम्हारे।
समसुख संगाम मार सहै हमारी।
ताको माशीम दत कृष्ण मुरारी।

जुवाब सोने को—

पुरपो पुरपा पुरार कार काम के।
मानुस गजमाल पुरी हो हगाम के।
जमघर समधार तीर तुपक चलाये।
मारे चम मगमीप घात लगावे।

× × ×

येम मेवाद कलिक धर्म बीती।
माने न फिर चोउ हारे जीती।

उक्त पुस्तक की प्रति मैंने नागरी प्रचारिणी सभा में देखी थी। यह प्रति खंडित है और लिपि भी बहुत अशुद्ध है। उसके अंत में लिखा है—

ये ते श्री सोमै बोडे की पोथी सम्पूरन समापात। मिति जेठ सुदी। ११। सं० (स्पष्ट नहीं) १८०० या १९०० मुकाम दवारे॥ लेषी बुखारे॥ की क जो कोड बांचे सुने ताको राम राम। सीतारामराम महत ॥ की मम्हन की वदौत।

इन्हीं पद्यात्मक नाटकीय संवादों को भारतेन्दु जी ने गद्यरूप में पुनः प्रचलित किया था। इसी प्रकार के उनके दो नाटकीय संवाद 'हरिश्चन्द्रमैगज़ीन' में प्रकाशित हुए थे। एक था दो मित्रों का वार्तालाप (कुलगालक और विश्वबन्धु दो मित्रों का समागम)[1] जिसमें उर्दू लिपि की अस्वाभाविकता पर व्यंग्य था। दूसरा 'सबै जात गोपाल की'[2] जिसमें दक्षिणा प्राप्त करने के लिए शास्त्रों का अर्थ बिगाड़ने वाले पंडितों का उपहास किया गया था।

सँपेरा—

नौटंकी की ही श्रेणी का 'सँपेरा (अवध में 'सँपेड़ा') नामक लोक-नाटक भी है, जो अवध के ग्रामों में बहुत अधिक लोकप्रिय है—कदाचित् नौटंकी से भी अधिक। यह भी नौटंकी की ही तरह का एक गीतिरूप है इसकी अभिनय व्यवस्था उसकी अपेक्षा अधिक सुकर है, यह प्रायः चौपाल और खुले हुए स्थानों में फर्श पर ही अभिनीत होता है। मंच बनाने के लिए किसी प्रकार के तख्त इत्यादि सामान्य आडम्बर भी अपेक्षित नहीं होते। कुछ मिलाकर पाँच अभिनेता (अधिक-से-अधिक सात) ही एक मण्डली बना लेते हैं, ये लोग 'सँपेरे' या 'सँपेड़े' कहलाते हैं। लखनऊ के निकटवर्ती जनपदों में 'सँपेरे' अधिकतर मुसलमान होते हैं। ढोलक सँपेरा का मुख्य वाद्य है, चिकारे और मंजीरे उसका साथ देते हैं। नए 'सँपेड़े' चिकारे के स्थान पर हारमोनियम का भी प्रयोग करने लगे हैं। ढोलक की थाप और चिकारों की मीड़ों के साथ अभिनेताओं के संगीतात्मक संवाद सुनकर ग्राम-सेवक झूम-झूम उठते हैं। सँपेरे की संगीत-शैली वही है जो नौटंकी की, छन्द-विधान भी लगभग वैसा ही है। नौटंकी और सँपेरा दोनों ही संगीत-प्रधान रचनाएँ हैं, दोनों के कथोपकथन गीत-प्रधान होते हैं, और दोनों में ही नृत्य का प्रयोग संवादों के पूरक के रूप में होता है।

१—हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, १५ अक्टूबर, १८७३ ई०।

२— „ „ १५ नवम्बर, १८७३ ई०।

यद्यपि नौटकी और सँपेरे में रूप-साम्य है, तथापि वस्तु-विधान की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर है। नौटंकी की कथा-वस्तु में बड़ी विविधता होती है, उसके कथानक पौराणिक, प्रेमकथात्मक, ऐतिहासिक, लोककथात्मक एवं सामयिक सभी प्रकार के होते हैं। किन्तु सँपेरा की एक ही सुनिश्चित कथावस्तु है, सब सँपेरे या सँकेड़े उसका अभिनय करते हैं। इसका कथानक आदिम मानव-जाति के प्रति प्राचीन विश्वासों और मान्यताओं के आधार पर संगठित हुआ है। यद्यपि सँपेरा में कथा-विस्तार का अभाव है, किन्तु उसके छोटे से कथानक में आश्चर्य-प्रयोग एवं संघर्ष के अनेक हृदयाकर्षक तत्त्व मिलते हैं। मधुर संगीत और नृत्य के साथ इसका अभिनय अर्धरात्रि से सूर्योदय के बाद तक चलता रहता है। सँपेरे का कथानक छोटा ही है। कामरूप देश जादू-टोने की प्रसिद्ध राजधानी है। वहाँ नागर नाम का एक बड़ा सँपेरा रहता है, जो बड़े-बड़े विषधर सर्पों को वशीभूत करने की शक्ति रखता है। एक सौदागर उसे 'मंतरगढ़' (बगाल) में रहने वाली मोती नामक जादू-टोने में निष्णात आजानु-लम्बित केशों वाली सुन्दरी का पता बताता है —

बंगाला से दूर है मंतरगढ़ इक देश।
मोती है ताही नगर जाके लंबे केश।

मोती के सौन्दर्य का वृत्त सुनकर नागर के हृदय में श्रवणजन्य पूर्वराग का समुद्र लहराने लगता है। वह योगी का वेश धारण कर मोती को प्राप्त करने के लिए 'मंतरगढ़' के लिये अभियान करता है। नागर की पतिव्रता पत्नी सुन्दर उसे बहुत रोकती है, पर उसका अनुनय विनय एवं अनुरोध सब कुछ व्यर्थ हो जाता है —

आँखों से अपने तुम्हें नहिं करता हूँ दूर।
दिल पास में मेरे नहीं तुमसे हैं मजबूर।
हूँ तुमसे मजबूर कहूँ जो दिल पास में नहिं पाता।
काम धाम मैं छोड़ के तुमको बताले नहिं जाता।
जाता हूँ मोती को लेने हिरमदी के पारा।
गुरु गोविंद तुही है मेरा पार लगावनहारा।

नागर 'मंतरगढ़' पहुँच कर जादू-टोना की रानी मोती के प्रकार में प्रविष्ट होता है। पहले मोती से उसका वाग्युद्ध होता है, फिर दोनों में जादू की लड़ाई

ठनती है। मोती नागर पर विषधर सर्प छोड़ती है, नागर उसे मंत्र के बल से वशीभूत कर लेता है, किन्तु अन्त में नागर की पराजय होती है, और मोती अपने मंत्र बल से उसे मार कर धरती पर सुला देती है। नागर पर आए हुए मृत्यु संकट का आभास उसकी पतिव्रता पत्नी सुन्दर को स्वप्न में मिलता है। जादू टोने और अभिचार के ज्ञान में सुन्दर किसीसे कम नहीं है। वस्तुतः वह जादू की महाआचार्या है, वह सूखी नदियों में नाव चला सकती है, आसमान के तारे तोड़ कर ला सकती है, मनुष्य को पशु-पक्षी बनाने की सामर्थ्य रखती है, एवं मुर्दों को जिला देना उसके लिए बाएँ हाथ का खेल है :—

सुन्दर मेरा नाम है कहते लोग तमाम।
देश कामरू में रहूँ जहँ जादू की खान।
जहँ जादू की खान नदी में सूखी नाव चलाऊँ।
जादू बल से तारे तोड़ा कर आसमान से लाऊँ।
और गुरु गोविन्दकी दयासे मुर्दा को भी जिलाऊँ।
आदम को चिड़िया कर डालूँ चाहे जौन बनाऊँ।

अतएव पतिप्राणा सुन्दर नागर को खोजती हुई 'मंतरगढ़' पहुँचती है, और अपनी मंत्र शक्ति से प्रतिद्वंद्वी मोती को मार गिराती है। तत्पश्चात् वह अपने पातिव्रत एवं जादू-टोने की सम्मिलित शक्ति से मृत नागर को जिला देती है। नागर के आग्रह से उसे मोती को भी जिला देना पड़ता है। सुन्दर की अनुमति से नागर मोती को अपनी पत्नी बना लेता है और दोनों के साथ सुख से कामरूप में निवास करता है। इस प्रकार दुःख कष्ट और मृत्यु की यह दारुण कथा सुख-पर्यवसायी बन जाती है।

यह कथानक इस देश की किसी आदिम अनार्य जाति की अति प्राचीन कथा पर आधारित प्रतीत होता है। लोक-नाट्य के रूप में भी यह बहुत प्राचीन प्रतीत होता है। संभव है जादू-टोने में विश्वास रखने वाली किसी सर्प पूजक आदिम जाति के किसी प्राचीन नृत्य-रूप से उसका उद्भव हुआ हो। इसमें नृत्य के मसृण और उद्धत दोनों रूपों के अपरोक्ष मिले-जुले रूप में पाए जाते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि नाट्य के विकास की पहली अवस्था में उसमें केवल एक अंक और एक ही अभिनेता था। उसके विकास की

१—जे० डी० आर० माकड् कृत 'टाइप्स आफ संस्कृतड्रामा' पृ० १६४-१६६

दूसरी अवस्था में अभिनेता अनेक हो गये, पर अंक एक ही था। इसीलिए श्री डी० आर० मांकड़ 'भाण' तथा 'भाणी' को प्राचीनतम नाट्य-रूप मानते हैं। उनका कहना है कि सब प्रकार के रूपक 'भाण' से आविर्भूत हुए, और सब उपरूपक 'भाणी' से। 'सवैया भी 'भाणी' का कोई एक विकसित रूप हो सकता है। संभव है, प्रारंभ में इसमें एक ही पात्र हो जो आकाशभाषित शैली में अपना पक्ष प्रस्तुत करता हो। कालांतर में उसमें अन्य पात्रों का भी समावेश हो गया होगा। समय-समय पर उसके बाह्य रूप में अवश्य परिवर्तन होते रहे होंगे, पर इसको आकृति देने वाला मूल आभ्यन्तर तत्त्व अब तक सुरक्षित है। सवैया का नवीन रूप 'नागर सभा' कहलाता है। मेरा अनुमान है अमानत के 'इन्दर सभा' के प्रभाव से यह रूपान्तर घटित हुआ है। प्राचीन नृत्य-रूपों का ही एक प्रकार अवध का 'मिर्ज़ी घोड़ी' का नाच है। जनश्रुति है कि अवध के बादशाहों को यह बहुत प्रिय था।

बहुरूपिया—

इसी प्रसंग में बहुरूपिया का उल्लेख भी आवश्यक है। नाम से ही प्रकट है कि बहुरूपिया वह अभिनेता है जो अकेले ही अपने ऊपर अनेक पात्रों का आरोप करता है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लोगों का मनोरंजन करता है। मध्यकाल में बहुरूपियों का व्यवसाय बड़ा समृद्ध था। जनता में भी ये लोकप्रिय थे और शाही दरबारों में भी उनकी कला को संरक्षण प्राप्त था। परन्तु उत्कल में १७ वीं शती में मिलिन ने अपने 'प्रेम-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में बहुरूपियों की कला का विवरण दिया है। पर इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि बहुरूपियों की कला का विकास मध्ययुग में ही हुआ। वस्तुतः यह हमारे देश की अति प्राचीन कला है। एक ही मनुष्य के अनेक रूप धारण करने की कला से ही विभिन्न नाट्य-रूपों का विकास हुआ होगा यह विश्वास धीरे-धीरे मान्य होता जा रहा है।

इस तर्क-सरणि का अवलम्बन कर 'भाण' तथा 'भाणी' को प्राचीनतम नाट्यरूप माना गया है। यजुर्वेद के रुद्राध्याय के चतुर्थ अनुवाक् में 'विश्वरूप' शब्द आया है विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्यो रथेभ्यश्च वो नमो नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमः पुञ्जिष्टेभ्यो निषादेभ्यश्च वो नमो नमः। इस अनुवाक् में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे लगभग सब सामान्य नाम

बोधक है, इसलिए 'शिरवरूप' शब्द भी सामान्य नाम-वाचक ही होना चाहिए। इसलिए कुछ विद्वानों का अनुमान है कि भाव का बहुरूपिया ही वैदिक काल में कदाचित् शिरवरूप कहा जाता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी पुरुषमेध-प्रसंग में 'शैलूष' और 'वंशनर्ती' शब्द साथ-साथ आए हैं। 'वंशनर्ती' का अर्थ है कुछ परंपरागत नर्तक'। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक वाङ्मय के 'शैलूष' का अर्थ है नट अथवा अभिनेता। बहुत संभव है, तैत्तिरीय ब्राह्मण के 'शैलूष' और यजुर्वेद-संहिता के शिरवरूप दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता रहा हो।[1]

मध्यकाल की हमारी नाट्य-परम्परा दरबारों के प्रभाव से सर्वथा असंपृक्त और मुक्त रहकर फली-फूली थी। यह सर्वसाधारण जनता की अपनी वस्तु थी। दरबारों से सम्बन्ध रखने वाले उच्च वर्ग के नागरिक उससे मनोरंजन प्राप्त करने में अपनी हेठी समझते होंगे। ऐसे लोग नाटकों की रंजकता की कमी की पूर्ति साहित्यिक गोष्ठियों और सम्मेलनों द्वारा करते थे। राज-दरबारों में इस तरह के सम्मेलन कभी-कभी हुआ करते थे। आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने नवम्बर १९४१ की 'सरस्वती' में अपने 'सुरति मिश्र नामक निबन्ध में लिखा है—"संवत् १८७४ के लगभग वर्ष इधर उधर आगरे में कवि-समाज एकत्र हुआ था। उसमें साहित्य के कई मर्मज्ञों ने योग दिया था। मुहम्मदशाह के समय में जब सुरति मिश्र और प्रवीन कवि थे तब ऐसा सम्मेलन हुआ था। ऐसे समाज राजधानियों में होते ही रहते होंगे यह अनुमान किया जा सकता है। इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि इस काल में ऐसा साहित्य भी प्रचुरता से लिखा गया, जिसका बहिरंग तो प्रबन्ध काव्य अथवा मुक्तक का है, पर जिसमें दृश्य काव्य के अनेक आभ्यन्तर तत्त्व उपलब्ध होते हैं। केशव की 'रामचन्द्रिका' के संवाद इसका एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। लोकधर्मी नाट्य-परम्परा से दूर रहने वाले लोग इनसे भी नाटकों की रंजकता के अभाव की पूर्ति करते थे।

१—दे० कु० गोदावरी वासुदेव केतकर कृत मराठी प्रबन्ध 'भारतीय नाट्यशास्त्र' पृ० १२४।

३

मध्यकालीन धार्मिक नाट्य-परंपरा

रास लीला

(१)

पिछले अध्याय में लोकधर्मी नाट्य-परम्परा की जिस धार्मिक शाखा का उल्लेख किया गया है, उसमें होने वाले नाट्य-प्रयोग 'लीला' नाम से व्यवहृत हुए हैं। यद्यपि लीला और नाटक दोनों ही दृश्य काव्य हैं, पर उनमें कुछ तात्त्विक अंतर भी है। लीला केवल भगवत्संबंधी ही होती है और नाटक का संबंध जीवन के लौकिक पक्ष से होता है। लीला का उद्देश्य है तात्कालिक आनन्द के साथ-साथ दूसरे समय में भी वैसा ही चिन्तन करके भावात्मकरूप में तन्मय होना और नाटक का उद्देश्य है मनोरंजन के साथ-साथ लोक-संग्रह। तात्पर्य यह कि लीला दर्शन, ध्यान और चिन्तन की वस्तु है और नाटक प्रेक्षण तथा ग्रहण की। लीला अंतःकरण को भगवदाकार बनाती है और नाटक व्यक्ति का चरित्र-निर्माण कर सकते हैं तथा समाज को एक निश्चित दिशा में ले जा सकते हैं। लीला भक्ति-योग की सहायक है, वह एक प्रकार का भावयोग है और नाटक कर्म-योग का एक साधन है। लीला स्वान्तःसुखाय होती है, और नाटक के मूल में सामाजिक उपयोगिता की भावना रहती है।

इस प्रकार की लीलाओं को राम और कृष्ण के भेद से रामलीला और रासलीला कहा जाता है जिनमें से रासलीला के विषय में आगे कहा जायगा। वस्तुतः रास लीला भक्तजनों को आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपूर्व अवसर प्रदान करती है। यह अत्यन्त संसार-परायण व्यक्ति की वृत्तियों

को भी अंतर्मुखी[1] बना सकती है। ब्रज के सुप्रसिद्ध रासधारी श्री बिहारीलाल के पुत्र राधाकृष्ण लिखित 'रास-सर्वस्व' ग्रन्थ के अनुसार घमण्डदेवजी ने रास के प्रयोजन का निरूपण इस प्रकार से किया है —

१-विषयविदूषितचित्तानामनेकोद्योगदुष्टीनामन्तःकरणानि भगवद्विषयकानुकरणदर्शनेन शुद्धानि भवन्तीति प्रथमं प्रयोजनम्।

२-स्त्रीशूद्राणामप्यनायासेन पुरुषार्थचतुष्टयं भवत्विति द्वितीयं प्रयोजनम्।

३-अनेकसाधनैर्योगादिभिर्भगवद्दर्शनार्थंयतमानानामपि दुर्लभं सुखं सुलभमस्त्विति तृतीयं प्रयोजनम्।

४-युगहेतुकविपरीतकालेनजातानां राजसतामसबुद्धीनां सात्विकबुद्धिजननं चतुर्थं प्रयोजनम्।

५-स्वतःशुद्धैरपि व्रजवासिभिरेव स्वमरणे त्रैलोक्यपवित्रं चैतद्रासैर्नसंपादनीयमिति पंचमं प्रयोजनम्।

अर्थात् इसका पहला प्रयोजन यह है कि जिन लोगों के चित्त विषयों से दूषित हो गये हैं, और जिनकी बुद्धि अनेक उद्योगों में फँसी हुई है, उनके अन्तःकरण भगवद्विषयक अनुकरण के दर्शन द्वारा शुद्ध हो जाते हैं।

इसका दूसरा प्रयोजन यह है कि स्त्रियों और शूद्रों को भी अनायास ही चारों पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते हैं।

तीसरा प्रयोजन यह है कि जो लोग योग आदि अनेक साधनों द्वारा भगवद्दर्शन के लिए प्रयत्न करते हैं, उनके लिए भी दुर्लभ सुख सुलभ हो जाता है।

चौथा प्रयोजन यह है कि कलियुग के परिणामस्वरूप विपरीत परिस्थिति में उत्पन्न होने वाले तथा राजस-तामस बुद्धिवाले जनों में सात्विक बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।

पाँचवाँ प्रयोजन यह है कि ब्रजवासी लोग स्वयं शुद्ध होने पर भी इसके द्वारा त्रैलोक्य पवित्र स्वमरण—जीवन या आजीविका—प्राप्त करते हैं।

---

१ तु० क०—'अति विषयिणां शृंगाररसाकृष्टानामपि स्वाभिमुखीकरणं तादृशी लीलामयचातुर।'

रासलीला के ये परम उदात्त और उच्च प्रयोजन जिस कौशल के साथ सिद्ध होते हैं, उसका श्रेय इसके रङ्गमंच और अभिनय की उस व्यवस्था को है, जिसमें कृत्रिम उपकरणों पर निर्भर रहने की आवश्यकता बिलकुल नहीं होती। रासलीला का रङ्गमंच आडम्बर से रहित और सादा होता है, और बहुत थोड़े पात्रों से सब काम निष्पन्न किया जाता है। रास के उद्गम और विकास का क्षेत्र ब्रजभूमि विशेषतया वृन्दावन माना जाता है, और वहां रास कृष्ण-मन्दिरों में होता है, जो वास्तव में उसके लिए उपयुक्त स्थान हैं। वैसे यह अन्य सार्वजनिक स्थानों और भावुकजनों के घरों में भी होता है। मन्दिर के प्रांगण में अथवा रास के लिए निर्धारित स्थान में प्रायः बीस-बाइस फीट लम्बी और अठारह-बीस फीट चौड़ी जगह रास के लिए छोड़ दी जाती है जिसके तीनों ओर दर्शकों के बैठने के लिए स्थान रहता है इसे रासमण्डल कहते हैं। उसी के एक सिरे पीछे में एक चौकी रखकर उस पर सिंहासन स्थापित किया जाता है। सिंहासन के आगे एक पीले रंग अथवा अन्य किसी रंग का पर्दा डाल दिया जाता है जो छल्लों के सहारे एक रस्सी से बँधा रहता है, जिससे यह यथावसर सरकाया जा सके। कभी-कभी ऐसा नहीं भी होता और उसके स्थान पर दो व्यक्ति एक चादर तान कर खड़े हो जाते हैं। सिंहासन के ठीक सामने रास मण्डल के दूसरे छोर पर समाजी बैठते हैं। सबसे पहले समाजी मंगलाचरण प्रारम्भ करते हैं। मङ्गलाचरण में सूर का 'चरण कमल बन्दौं हरि राई' और इसी प्रकार के संतों के अन्य पद, तथा श्रीमद्भागवत आदि के मनोहर श्लोकों का गायन होता है। शास्त्र की आज्ञा तो यह है कि रासलीला का आरम्भ होने के प्रथम अनुष्ठान की एक निश्चित विधि का पालन किया जाय। यह विधि बृहत् गौतमी तंत्र, रासोल्लास-तंत्र यामल तथा गर्ग पुराण आदि ग्रन्थों में दी गई है। निर्धारित मन्त्रों से आचमन, प्राणायाम विनियोग, न्यास और ध्यान के बाद वृन्दादेवी, यमुना, चन्द्रमा आदि का रास के लिए आवाहन किया जाय, फिर राधाकृष्ण के स्वरूपों की रास-स्थल में प्रतिष्ठा की जाय और उनका अनेक उपचारों से पूजन हो।[1] यह सर्वांश संस्कृत नाटकों के मञ्च-स्थापन, रङ्ग-देवता-पूजन और नान्दी आदि से मिलता है। पर जिस प्रकार आज कल नाटकों में उसके पूर्वरंग का लोप हो गया है, उसी प्रकार रासलीला में भी इस विधि का पालन होता आज कहीं नहीं दिखाई देता

१—दे० 'रास-सर्वस्व' ग्रंथ की पंचम निधि।

है। कोई-कोई रासधारी—सब नहीं, पीठ-स्थापन तो कर लेते हैं पर तुरन्त ही मंगलाचरण प्रारम्भ हो जाता है और उक्त कर्मकाण्ड छोड़ दिया जाता है।

इधर मंगलाचरण चलता रहता है और उधर परदे के पीछे सखी-स्वरूप[1]—गोप-बालक—आकर सिंहासन के नीचे चौकी पर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। पश्चात् राधा और कृष्ण पधारते हैं और सिंहासन पर समासीन होते हैं। सखी-स्वरूप राधा और कृष्ण के पधारने की सूचना 'जय हो' बलिहार आदि घोषों से देते हैं। परदा हटा दिया जाता है और वंशी बजाते हुए कृष्ण तथा राधा की संयुक्त छवि की एक मनोहर झाँकी दर्शकों को मिलती है। फिर आरती होती है। सखियों में से ही एक आरती करती है, और अन्य 'आरती कुंजबिहारी की   ' आदि पद गाती हुई नृत्य करती हैं। 'आरती के बाद परदा फिर डाल दिया जाता है। सखियाँ परदे के पीछे कृष्ण के पास जाती हैं और ताम्बूल आदि से सत्कृत होकर लौट आती हैं। परदा फिर हटा लिया जाता है, और पुनः एकासन समासीन राधाकृष्ण की झाँकी दिखाई देती है। अब तक 'सखियाँ' उन्हें नृत्य और गीत के अनेक प्रकार के उपक्रमों द्वारा प्रसन्न करनेका प्रयास करती हैं। अपना नृत्य-गीत समाप्त करके वे यथास्थान रास-मण्डल में बैठ जाती हैं। तब उनमें से एक उठकर कृष्ण से ऋतु की मनोहरता, शरद्-रात्रि की स्निग्ध-शीतलता तथा यमुना-तट और निकटस्थ कुञ्जों की शोभा का प्रभावशाली वर्णन करती हुई एक संस्कृत के श्लोक में उनसे रासोत्सव में पधारने की प्रार्थना करती है। उस श्लोक का अंतिम चरण रहता है "   'रासोत्सवे गम्यताम्', जिसे अन्य सब 'सखी-स्वरूप' भी एक स्वर से दोहराते हैं। 'प्रार्थिनी सखी' इसका आशय ब्रजभाषा गद्य में भी निवेदन करती है। यह प्रार्थना सुनकर श्रीकृष्ण श्रीराधा से रासोत्सव में पधारने का सविनय अनुरोध करते हैं। राधा की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर युगल स्वरूप रास-मंडल में उतरते हैं। श्रीकृष्ण वंशी के कुछ स्वर छोड़कर रास के प्रारम्भ का संकेत करते हैं।

१—रास में अभिनेताओं के लिए बड़े आदर पूर्वक शब्दों का प्रयोग किया जाता है, सखियों के लिए 'सखी-स्वरूप' और श्री राधा के लिए 'स्वामिनीस्वरूप' शब्द का प्रयोग होता है।

.. '

मदनगोपाल

यह संकेत पाकर 'समाजी' 'आली एरी नाचत मदनगोपाल' और 'नाचत लालबिहारी नचवत हैं सब नारी' आदि पद गाते हुए साथ में नृत्य के कुछ बोल निकालना प्रारंभ करते हैं। रास-मण्डल में एक ओर अकेले श्रीकृष्ण खड़े होते हैं, और दूसरी ओर श्रीराधा को बीच में करके 'सखियाँ'। श्री कृष्ण वंशीवादन करते हुए नृत्य की चारियाँ बाँधते और कुछ गतियाँ लेते हैं और दूसरी ओर 'सखियाँ' भी नृत्य प्रारम्भ करती हैं। नृत्य करते हुए सब मिलकर दूसरी ओर 'सखियाँ' भी नृत्य प्रारंभ करती हैं। नृत्य करते हुए सब मिलकर मंडल का निर्माण करते हैं और फिर मंडल-प्रयोग के अनेक प्रकार प्रदर्शित करते हैं। यह मंडल-नृत्य क्रमशः विविध रूप धारण करता हुआ हस्त-संचार और गति प्रचार के अनेक प्रयोगों द्वारा अधिकाधिक मनोहारी बनता है। नृत्य करते-करते कुछ समय बाद श्रान्त होकर राधा बैठ जाती हैं और उनकी सखियाँ भी यथास्थान खड़ी हो जाती हैं। इस अवकाश, में श्रीकृष्ण श्रीराधा का नृत्य के कारण विपर्यस्त शृंगार सँवारते हैं। श्रम-परिहार हो जाने पर राधा पुनः रास-मंडल में प्रवेश करती हैं और नृत्य आरम्भ होता है। पुनः नृत्य प्रायः मण्डल में ही होता है, जिसमें परिक्रमण और सम्मिलितचरण के साथ-साथ हावों-भावों के उत्क्षेप प्रक्षेप, उपसर्पण प्रसर्पण, और आवर्तन आदि प्रयोग भी चलते रहते हैं। यह समस्त व्यापार समाजियों के वादन-गायन का अनुगत[1] रहता है। नृत्य में मंडल-विधान की विविध विधियों का जो विस्तृत विवरण भरत के नाट्य-शास्त्र में उपलब्ध है, रास-नृत्य में उनमें कुछ का कुछ आभास तो मिल ही जाता है, भले ही ये अभिनेता और नर्तक प्रायः उनका शास्त्रीय लक्षण और शुद्ध प्रयोग न जानते हों। इस नृत्य के बीच कुछ सरल संगीतात्मक उक्ति-प्रत्युक्ति भी रहती है, जिसका रूप इस प्रकार का होता है:—

.. .... ।

राधा—एरी आली नाचत लाडिलो नाचत... .. ।

कृष्ण—एरी आली, नाचत लाडिली नाचत .... ।

राधा—एरी आली नाचत यमुनातीर नाचे नाचत...

---

१ तु० करिये भा. ना. शा. अ० १२ —

एतानि मंडलानि समव्यायामानि, युद्धे नियुद्धेषु परिक्रमे च।

लीलाङ्गमाधुर्य पुरस्कृतानि कार्याणि वाद्यानुगतानि तज्ज्ञैः॥

कृष्ण—एरी आली नाचत वृषभानु कुमारी नाचत ... ।

सखियाँ— नाचत नाचत नाचत, कालिंदी, नाचत, नाचत नाचत कालिंदी ।

इस प्रकार यह रास लगभग एक घंटे तक अवश्य चलता है, इसकी समाप्ति पर 'लक्ष्य' लीला की तैयारी के लिए नेपथ्य में चले जाते हैं और सिंहासन के सामने पर्दा डाल दिया जाता है ।

यह नित्य रास कहा जाता है । पहले यह रास हो लेता है तब कोई अन्य लीला होती है । रास और लीला का यह संयोग, 'रासलीला' का अनुल्लंघनीय विधान है, और संभवतः यही इसके नामकरण का भी कारण है । कभी-कभी महारास भी होता है, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी में है और जो शरत्पूर्णिमा को यमुना-पुलिन पर संपन्न हुआ माना जाता है इस महारास के आरंभ के पूर्व 'समाजी' सूर और नंददास आदि के इस प्रसंग के प्रस्तावित एवं प्रकृतिप्रमुख पद गा-गा कर शरद के पूर्णचन्द्र की पीयूष-स्निग्ध ज्योत्स्ना में यमुना-तटवर्ती कदम्बकुंज में वंशीवादन-निरत कृष्ण की कल्पना दर्शकों के मन में जगा देते हैं । उसी समय मधुर स्वर से वंशीवादन करते हुए कृष्ण रंग भूमि (रास-मंडल) में पधारते हैं । उनकी वंशी की ध्वनि सुनकर गोपियाँ अपने घरों को छोड़ पिता पुत्र, पति सब की अवहेला कर श्रीकृष्ण से मिलने के लिए दौड़ पड़ती हैं । पर श्रीकृष्ण अर्द्धरात्रि में इस प्रकार समाज और धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने के लिए उनकी तीव्र भर्त्सना करते हैं । कृष्ण के कठोर वचन उन्हें मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाते हैं और फिर उनका तथा गोपियों का बड़ा विलक्षण प्रश्नोत्तर चलता है । कृष्ण उन्हें सामाजिक सदाचार का आदर्श बतलाते और उस पर दृढ़ रहने की शिक्षा देते हैं, पर गोपियाँ प्रेम और भक्ति में सर्वस्व समर्पण को ही सदाचार की चरम परिणति मानती हैं और कृष्ण को निरुत्तर कर देती हैं । उनके अनन्य निष्काम प्रेम को देखकर अन्ततः श्रीकृष्ण उनके साथ महारास में प्रवृत्त होते हैं । पूर्व-वर्णित नृत्य गीतादि के विविध प्रयोग इस अवसर पर अत्यधिक तीव्रता, व्यापकता और उत्कर्ष प्राप्त करते हैं । कृष्ण अपनी योगमाया के बल से अनेक रूप धारण करते हैं और

मंडल-नृत्य प्रारम्भ होता है जिसमें दो-दो गोपियों के बीच में कृष्ण रहते हैं।[1] नृत्य के साथ-साथ समाजियों के द्वारा गाए जाने वाले नन्ददास और सूर आदि के रास-लीला के पदों की पंक्ति से हम यह अनुभव करते चलते हैं कि इस समय देवता यह लोकोत्तर दृश्य देखने के लिए अपने विमानों पर आकाश में विराजमान हैं जिनमें ब्रह्मा और शिव भी हैं। वे हर्षित होकर पुनः पुनः पुष्पवर्षण कर रहे हैं (दर्शक प्रसन्न हो पुष्प-वर्षा करते भी हैं)। स्वर और ताल संगीत एवं नृत्य के इस सामंजस्य ने चरों का अचर और अचरों को चर बना दिया है यमुना का प्रवाह रुक गया है, पवन स्तंभित है, चन्द्रमा और नक्षत्रों की गति मारी गयी है। इसी बीच अपने रूप का अभिमानी काम रास-मण्डल में आता है परन्तु श्रीकृष्ण के रूप को देख कर मूर्छित हो जाता है और रति उसे उसी अवस्था में उठा ले जाती है। यह प्रसंग 'मन्मथ-मथन-लीला' के नाम से प्रसिद्ध है।

कुछ समय तक रास चलने के उपरान्त भक्त वत्सल श्रीकृष्ण द्वारा अनेक प्रकार की सेवायें और परिचर्या प्राप्त कर गोपियों को गर्व हो जाता है, कृष्ण यह जानकर तत्काल राधा के साथ अन्तर्धान हो जाते हैं। इधर गोपियाँ उनके विरह में विलाप करती रह जाती हैं और उधर श्रीकृष्ण राधा के साथ एकान्त वन-विहार करते हैं। राधा के मन में अहंकार प्रवेश करता है और वे अत्यधिक श्रान्ति-क्लान्ति के कारण चलने में असमर्थता प्रकट करती हुई

१—इस अवसर पर 'समाजी' प्रायः अधोलिखित तथा ऐसे ही अन्य पद गा-गा कर दृश्य की अनुभूति तीव्र करते रहते हैं :—

राधयो राधयामध्यगो माधवो माधवो मडले मंडले ।
हेम कल्पलता गोपी बाहुभि कण्ठमाश्रया ।
तमन्तरश्यामलः कृष्णा मूर्तिमे रासलीलया ॥

• • •

अंगनामंगनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेणांगना ।
इत्थमाकल्पिते मंडले मध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥

• • •

मनो मारी घन घन चमका दामिनि ।
घन दामिनि दामिनि घन-अन्तर सरद गुन्दे कामिनि ।

कृष्ण के कन्धों पर आरूढ़ होने का आग्रह करती है। श्रीकृष्ण प्रार्थना स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु ज्यों-ही भी राधा उनके कन्धों पर बैठने का उपक्रम करती है, वैसे ही वे 'आओ कन्धों पर बैठ जाओ' कहते हुए एक मंद-स्मित का आलोक बिखेर कर अन्तर्धान हो जाते हैं,[1] और भी राधा रोती हुई अकेली विलाप करती रह जाती है। इसी समय श्रीराधा और श्रीकृष्ण को खोजता और विलाप करता हुआ गोपियों का समूह भी वहाँ पहुँचता है। दुखिनी राधा को लेकर वन, द्रुम, लता-गुल्म तक से कृष्ण का पता पूछती हुई गोपियाँ यमुना तट पर आती हैं। वहाँ से श्रीकृष्ण के नाम रूप का स्मरण और चिन्तन करती हैं, तथा उनकी लीलाओं का अभिनय करके अपनी व्यथा शान्त करने का प्रयत्न करती हैं। फिर भी कृष्ण नहीं आते, तो वे मूर्च्छित होकर गिर जाती हैं। जब कृष्ण लौटते हैं, तो गोपियों की भी दशा लौटती है। श्रीकृष्ण गोपियों के प्रति उनके अनन्य प्रेम के लिए आभार प्रकट करते हैं और उनके साथ पुनः रास में प्रवृत्त होते हैं। पूर्ववत् मंगल-गान होता है, पर इस महारास का अनुष्ठान श्रीकृष्ण और गोपियों के अनेकानेक स्वरूप मिलकर पूर्ण करते हैं। अतएव इसका आयोजन कई-कई रास-मंडलियाँ मिलकर करती हैं, और तभी कृष्ण के अनेक स्वरूपों और बहुसंख्यक गोपियों की आवश्यकता की पूर्ति हो पाती है। जिस दिन रास होता है, उस दिन अन्य कोई लीला नहीं होती, पर नित्यरास के बाद कोई-न-कोई लीला अवश्य होती है।

लीला में भगवान कृष्ण के जीवन का कोई एक प्रसंग लेकर उसका अभिनय किया जाता है। प्रायः विशुद्ध ब्रज-लीलाओं का ही अभिनय होता है। ब्रजलीलाओं से तात्पर्य है, कृष्ण के जन्म से लगाकर मथुरा प्रवास तक की लीलाएँ। कट्टर सिद्धान्तानुयायी वृन्दावन के रासधारी मथुरा की लीलाएँ नहीं करते। मथुरा प्रवास सम्बन्धी केवल एक उद्धव-लीला ही अधिक होती है। कुछ

---

१ प्रायः इस अवसर पर 'समाजी' समवेत स्वर से श्रीमद्भागवत के अधोलिखित श्लोक का पाठ करते हैं—

एवमुक्तः प्रियामाह स्कंधमारुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत॥
(श्री० म० भा० १० स्कन्ध)

रास वाले मथुरा-प्रवास या 'कंस-वध' आदि लीलाओं का अभिनय भी आदेश पाने पर कर देते हैं, पर उनमें राम-चरितों तथा अन्य रामचरितों की रुचि भी प्रायः कम ही पाई जाती है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि जिन संतों और महात्माओं द्वारा लीलाभिनय के इस स्वरूप का विकास हुआ उनकी दृष्टि विशुद्ध आध्यात्मिक थी और वे इसे अपनी भक्ति-साधना का एक अनिवार्य अंग मानते थे। अतः इस परंपरा में कृष्ण के ब्रज-जीवन से सम्बन्धित माधुर्य-भाव की लीलाएँ ही अधिक ग्रहण की गईं। इन लीलाओं का मूलाधार श्रीमद्भागवत ही है पर अभिनय में सूर और नन्ददास जैसे कवियों की वाणी का ही व्यापक उपयोग होता रहा है। आगे चलकर इसी लीलाभिनय से प्रेरणा ग्रहण कर एक विशेष प्रकार के लीला-साहित्य का निर्माण हुआ, उपरूपकों में से कुछ के स्वरूप उसमें अनेक रूपों में विद्यमान हैं।

लीला कोई हो, उसके अभिनय में लगभग तीन घंटे का समय लगता है और अधिक-से-अधिक छः-सात अभिनेताओं से ही सब काम निकाल लिया जाता है। प्रायः चार 'सखी-स्वरूप' रहते हैं (कुछ रास मंडलियों में तो मुझे तीन ही मिले) और 'स्वामिनी-स्वरूप' (राधा) तथा 'प्रभु-स्वरूप' (कृष्ण) के लिए दो अन्य अभिनेता अपेक्षित होते हैं। इसी प्रकार एक दो 'सखा-स्वरूपों' की भी आवश्यकता पड़ती है। प्रायः देखा गया है कि यदि किसी लीला में अधिक पात्रों की आवश्यकता होती है, तो सखियों का अभिनय करनेवाले ही यथावसर दुहरी तिहरी भूमिका सम्हाल लेते हैं। यदि नन्द-यशोदा जैसे कुछ वयस्क 'स्वरूपों' की आवश्यकता हुई, तो समाजियों में से कुछ लोग यह काम चला लेते हैं।

अलग-अलग पात्रों के अलग-अलग वेष होते हैं। कृष्ण कमर में रंगीन एक लम्बा वस्त्र पहनते हैं जिसे कटि-काछनी कहा जाता है और उस पर पटुका बँधा रहता है। पीठ पर लम्बी कृत्रिम चोटी लटकती रहती है, मस्तक पर मयूर पंख और मकराकृत कानों में कुण्डल तथा नाक में बुलाक रहती है। वे हर समय हाथ में बंशी धारण किए रहते हैं और कभी कटि-काछनी के स्थान पर पट-वस्त्र भी पहनते हैं। राधा के वेष में साड़ी और उत्तरीय के अतिरिक्त नाक में बुलाक और मस्तक पर चन्द्रिका तथा बेंदनी रहती है। गोपियों का वेष सामान्यतः राधा के समान ही रहता है, केवल उनके मस्तक पर चन्द्रिका और बेंदनी नहीं रहती, उनके स्थान पर मुकुट रहती है। नन्द एक वृद्ध व

वेश में रहते हैं, उनका श्वेत श्मश्रु और निकला हुआ पेट रहता है। यशोदा एक वृद्ध अवगुंठनवती स्त्री के वेश में दिखाई जाती हैं। यदि यशोदा का कार्य थोड़ा ही होता है, तो 'समाजियों' में से कोई व्यक्ति सिर से पैर तक एक ओढ़नी ओढ़ कर मुँह छिपाकर बैठ जाता है और उसका अभिनय कर देता है। बलराम बगलबंदी और पीताम्बर पहनते और मस्तक पर मुकुट धारण करते हैं। 'सखा-लरकन' (ग्वाल-बालक) केवल धोती पहनते हैं, उनके शरीर खुले रहते हैं, गले में गुंजमाला, कन्धे पर कम्बल और हाथ में लकुट रहता है। इनमें से केवल मनसुखा अथवा मधुमंगल के वेश-विन्यास में कुछ विचित्रता रहती है। मनसुखा रासलीला का विदूषक है, अतएव कुछ रास-मंडलियाँ उसकी वेश-रचना बहुत विकृत कर देती हैं। उसके मस्तक पर फटी-पुरानी पगड़ी और किनारी का चीर रहता है, लम्बी मूँछें और शरीर में अनेक कृत्रिम अंग रहते हैं। संस्कृत-नाटकों के विदूषक की तरह यह बड़ा पेटू भी होता है। कुछ रास-मंडलियाँ उसका पेट बलराम जैसा भी रखती हैं, और प्रायः यह अपने पेटूपन के प्रदर्शन के द्वारा ही हास्य की सृष्टि करता है। इसी प्रकार रासलीला के अन्तर्गत दृश्य-विधान भी बड़ी सरल युक्तियों से किया जाता है। कृष्ण की नटवर मुद्रा के प्रदर्शन के लिए कुछ लोग उनके पीछे अनेक रंगों के कपड़े तान कर खड़े हो जाते हैं। झरोखे का दृश्य दिखाने के लिए दो आदमी एक वस्त्र तान लेते हैं और गोपियाँ उसके पीछे से झाँकती हैं। कुञ्ज का दृश्य दिखाने के लिए रंगमंच—सिंहासन—के पीछे एक शाखा लगा कर उसपर बहुत से रंग-बिरंगे वस्त्र तान दिए जाते हैं।

सारांश यह कि नितान्त सादे और छोटे रंगमंच पर कम-से-कम पात्रों से बिना उपयुक्त आहार्य और दृश्य-दृश्यान्तर-विधान की सुविधा के परम आध्यात्मिक रस-निष्पत्ति का यह प्रयास सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है।[1] लेखक ने स्वयं उत्सव-लीला के अवसर पर हजारों दर्शकों को, जिनमें अच्छे विद्वान् और ऊँची

---

१ रा० ब० दिनेशचंद्र सेन लिखित 'हिस्ट्री आफ बंगाली लैंग्वेज ऐण्ड लिटरेचर' पृ० ७३१—

"... ...Without scenery without the artistic display of costumes could rouse emotions which nowadays we scarcely experience, while witnessing semi-European performances given on the stages of calcutta theatres."

अवस्था के अंत में करुणा-विगलित होकर निरंतर अश्रुपात करते देखा है।[1] इस रोचकता का मूल कारण लीलाओं की सरस कथा-वस्तु और उसका सुगठित नाटकीय विन्यास है। यद्यपि इनका कथानक छोटा होता है, पर उनमें कार्य की तीन अवस्थायें—प्रारंभ, प्राप्त्याशा और फलागम—स्पष्ट रूप से मिलती हैं। प्रारंभावस्था में ही प्रयत्न का भाव रहता है और फलागम में नियताप्ति का समावेश। इनमें मुख और निर्वहण संधि की योजना विशेष रूप से बड़ी रमणीय और विचित्र होती है; इस लिए प्रारम्भ और उपसंहार दोनों बड़े चमत्कारी होते हैं। बीच-बीच में कितने ही सुन्दर प्रसंगों का स्फुरण स्वतः होता चलता है। वैचित्री की तो ये लीलायें खान ही हैं, और नर्म आदि विविध अंगों का ऐसा उन्मेष तो अनेक प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियों में भी उपलब्ध नहीं होता।

इन लीलाओं के कथानकों की सरसता बहुत कुछ इनके कथोपकथनों पर *अवलंबित है, जो गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों प्रकार के होते हैं।* इन कथोपकथनों में श्रीमद्भागवत के श्लोकों तथा भक्त कवियों के पदों का भी प्रयोग होता है, पर पात्र प्रायः उनका आशय ब्रजभाषा में समझा देते हैं। श्लोकों और पदों के अतिरिक्त वार्तालाप में विशुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग होता है। जिसे ब्रजभाषा की विधिविमुक्त नैसर्गिक माधुरी का आस्वादन करना हो उसे रासलीला अवश्य देखनी चाहिए। कभी-कभी लीला के उपोद्घात अथवा उपसंहार में किसी स्वामी से लीला का आध्यात्मिक रहस्य एवं कृष्ण-भक्ति का महत्त्व तथा तत्त्व भी कोई-न-कोई पात्र अवश्य समझा देता है। लीला कभी दुःखान्त नहीं होती, और न अंत में कोई यवनिका ही गिरती है। अत्यंत करुण एवं भावपूर्ण वियोग-प्रधान उद्धव-लीला (भ्रमरगीत-प्रसंग) भी अंत में संयोगात्मक ही दिखाई जाती है। जब गोपियों को समझाते-समझाते उद्धव के ज्ञान का गर्व नष्ट हो जाता है और राधा देवी की परम प्रेममयी मूर्ति देख कर वे संकोच में पड़ जाते हैं, तभी उनके अज्ञान और भ्रम को दूर करने वाली एक बड़ी विचित्र घटना घटित होती है। प्रकाश से भी अधिक सुकुमार चित्त वाले मोहन भी चारों तरफ वन के अंतराल में खड़े हुए दिखाई पड़ते हैं। उनके [illegible] बाल के कारण [illegible] हो गए हैं और वे अपने मुख की

१ मु० क० [illegible] मंगलवार को काशी के 'लोकमान्य' में 'राम' के अंक में रमाशंकर त्रिपाठी का लेख [illegible] का 'वेदान्ताङ्क' भाग ११, १९९१ वि०, 'दिग्दर्शिकों का साक्षात्कार'।

अशेष मधुरता और शोभा को वंशी-ध्वनि में डुबाते हुए स 'नटनागर की विकट लटक और गति' से उस स्थान पर आते हैं, जहाँ प्रसन्नवदना सम्मुखी राधादेवी गोपियों से घिरी हुई उद्धव का ज्ञान और योग का संदेश सुन रही हैं। वे बड़ी आतुरता और आकुलता से दौड़ कर बड़ी मनुहार के साथ राधा देवी का कुम्हलाया हुआ मुख-कमल छूते और उनके आँसू पोंछते हैं। इस प्रकार उद्धव को इस लीला के अन्त में राधा-कृष्ण के एकत्र दर्शन हो जाते हैं। उद्धव को यह ज्ञात हो जाता है कि व्रज भगवान् की 'नित्य विहार' की स्थली है और राधादेवी भगवान् पुरुषोत्तम कृष्ण की अंतरंगा अभिन्ना, स्वरूपा आह्लादिनी शक्ति हैं। गोपियाँ राधा देवी की काय-व्यूह हैं, इसलिए वे भी वही सुख प्राप्त करती हैं जिसकी अधिकारिणी राधा देवी हैं। व्रज[1] के इसी उपासनात्मक लीला-रहस्य को सूरदास जी ने प्रथम भ्रमरगीत-प्रसंग के एक पद में समझाया है —

ऊधो कहियो यह संदेस।
लोग कहत कुबिजा की प्रभुता तुम सकुचहु जनि लेस।
कबहुँक इत पग धारि सिधारहु हरि तजि सुखद सुदेस।
हमरे मन रंजन कीन्हे तें, ब्रज हो भुवन नरेस।
तब तुम इत ठहराइ रहोगे देखोगे सब देस।
नहिं बैकुंठ अखिल महोदधि जन बिनु सब इत कलेस।
यह किहि मंत्र दियो नंदनंदन, ब्रज तजि भ्रमत बिदेस।
जसुमति जननी प्रिया राधिका देखे औरहुँ वेस।
इतनी कहत कहत स्यामा पै, कछु न रह्यो अवसेस।
मोहनलाल प्रभाव मधुप-मन तत्छन करी सुवेस।
जो ऊधो को दुसह बिरह-ज्वर जो नृप नगर सुरेस।
कैसो ज्ञान कह्यो कहि कासौं किहि पठयो उपदेस।
मुख मृदु छबि मुरली रव पूरित गारत करपुरकेस।

१— ......मथुरं पदाविन्दो मे यस्य जन्मभूमिर्व। व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् व्रज उच्यते। गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते। सदानन्दं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम्।

(श्रीमद्भागवत माहात्म्य अ० १। १९, २०।)

नटनायक गति विकट नटन तन, घन ते कियौ प्रवेस।
अति भावुक अनुराग पाइ पिय चौंपत नयन कुसेस।
कुन्दिकालौ मुख पदुम परस करि, देखत छविहिं विसेस।
सुर मौन सनकादि इन्द्र अज नारद निगम महेस।
नित्य विहार सकल सुर भ्रम मति, कह गावै मुख सेस।[1]

अखिल ब्रह्माण्ड में ब्रज के समान कुछ नहीं, बैकुंठ भी उसकी समता नहीं कर सकता। भागवती भक्ति की पराकाष्ठा का ही दूसरा नाम ब्रज है इसीलिए प्रत्येक ब्रज-लीला के अंत में राधा और कृष्ण की एकासन समासीन झाँकी अवश्य दिखाई जाती है। प्रत्येक लीला इस परमोच्च दार्शनिक एवं आध्यात्मिक अभिप्राय को दृढ़ता से पकड़े रहती है। साहित्यिक दृष्टि से इन रासलीलाओं का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि इन्होंने ऊँची से-ऊँची और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों को जीवन का अभिन्न अंग बना दिया है। आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने रासलीला के महत्त्व का निरूपण करते हुए लिखा है कि "कोई ऐसा स्थान नहीं कोई प्रसंग नहीं कोई पद नहीं, कोई शब्द नहीं जो श्री कृष्ण की महिमा में अन्तर्लीन न हो। सब ओर से सम्पूर्ण समर्पण हो जाने के पश्चात् श्रीकृष्ण की इसी छवि ही हृदिगत होती है। रासलीला इसका सांकेतिक निदर्शन है।"[2]

विश्लेषण करने पर रास-लीलायें तीन प्रकार की दिखाई पड़ती हैं—(१) नन्द-भवन की लीलायें, जिनमें कृष्ण का बालरूप दिखलाया जाता है, (२) गोष्ठ की लीलायें जिनमें सखाओं के साथ कृष्ण के वन-विहार और गोचारण आदि के प्रसंग रहते हैं और (३) निकुंज-लीलायें जिनमें श्रीकृष्ण, राधा, तथा गोपियों के प्रेम की व्याकुलता तथा मुग्धता अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। नन्द भवन और गोष्ठ की लीलाओं के अन्तर्गत कृष्ण जन्म, पूतनावध शकटासुर वध, शिव का योगी वेश-धारण, कालीय-दमन गोवर्धन-धारण तथा माखनचोर, चन्द्रप्रस्ताव-लीला और दान-लीला जैसी सैकड़ों लीलायें आती हैं, जिनका अभिनय बहुत प्रचलित और लोकप्रिय है। ये लीलायें वात्सल्यरसाभिषिक्त हैं, और इनका आधार प्रमुखतः अष्टछाप के कवियों की रचनायें हैं, जो सब सदा

१—सूरसागर द्वितीय खंड, दशम स्कन्ध ४०७८ ॥ ८९१६ ॥

२—महाकवि सूरदास पृ० ११०

प्रभु वल्लभाचार्य अथवा गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे। अनेक अन्य ग्रंथों के आधार पर भी आज कल इन लीलाओं का अभिनय होता है, जिनमें 'व्रजविलास', 'व्रज विहार' और 'सूरसागर' आदि प्रमुख हैं। निकुंज लीलायें भी हमें दो प्रकार की मिलती हैं। इनमें से एक प्रकार की वे हैं, जिनमें श्रीराधा और श्रीकृष्ण के प्रणय-संबंध को व्यंजित करनेवाली विविध घटनाओं को नाटकीय रूप देकर उनका अभिनय किया जाता है और जिनके अंतर्गत छद्मलीलाओं का स्थान मुख्य है। दूसरे प्रकार की निकुंज लीलायें वे हैं, जिनमें उनके प्रणय-जन्य विविध भावों और अमूर्त आवेगों अथवा अनुभूतियों में से किसी एक को चुन कर अभिनय द्वारा उसे मूर्त और दृश्य बना दिया जाता है। पहले प्रकार की निकुंज-लीलाओं के अन्तर्गत चीर-हरण-लीला, वंशी-लीला, राजदान-लीला, नौका-लीला, गोमेवारी-लीला, मनिहारी-लीला और जोगी-लीला आदि अनेक प्रकार के प्रणय प्रसंग आते हैं, जो आज-कल व्रज के रासधारियों में बहुत प्रचलित हैं। इन लीलाओं के दूसरे वर्ग में मौन लीला सर्वाधिक लोक प्रिय है। यहाँ प्रत्येक वर्ग की एक-एक लीला के कथानक का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है, जो उनकी अंतर्निहित विशेषताओं के निरूपण में सहायक होगा।

नौकालीला

श्री राधा के साथ एक दिन गोपियाँ दही बेचने यमुना पार मथुरा ग्राम तक चली जाती हैं। बहुत दूर जाने पर भी उस दिन उनकी बिक्री नहीं होती है अतएव उन्हें बड़ा दुःख होता है। इसी बीच दिन ढल चुका है। वे लौट कर जब तक यमुना-तट तक पहुँचती हैं तब तक सूर्य भी अस्ताचल पर पहुँच जाते हैं। दैवयोग से तट पर कोई नौका भी नहीं मिलती अतः उनकी विवशता विनय होकर इस प्रकार प्रकट होती है—

मुँयो चाहत पिय दूर नगरिया
ना मल्लाह न कोई नवरिया,
रही हैं पार की पार गुजरिया॥
कहा करेंगी युवती ग्राम की घाट निहार निहार गुजरिया॥

इस प्रकार सोचती-विचारती हुई वे सब किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रही हैं, उसी समय कृष्ण एक छोटे से बालक का रूप धारण करके एक छोटी नौका

गाते हुए दूर पर धारा के मध्य में दिखाई देते हैं। वर्षा के कारण नदी चढ़ी हुई है, एक गोपी वृक्ष पर चढ़ कर उन्हें ध्यान से देखती और फिर केवट समझ कर पुकारती है। कृष्ण कहते हैं, नौका नहीं लाऊँगा—

'सुन्दर सुघर नवरिया मेरी पट भूषन बहु भार गुजरिया।

निकट आकर व उन्हें पार ले जाना स्वीकार न करके कहते हैं "मेरी यह छोटी-सी सुन्दर नौका तुम्हारे वस्त्राभूषणों और दधि-भाण्डादिकों के भार से डूब जायगी क्या तुम देखती नहीं, पूर्व दिशा का प्रभंजन जोर से झकझोर होकर बह रहा है, यमुना की तरंगें उत्ताल होती जाती हैं, मेरे हाथ काँप रहे हैं और बल्ली बार-बार छूट-छूट जाती है—

उत पूरब पवन झकोर रही
इत जमुना अधिक हिलोर रही,
कर बल्ली छुटि छुटि काँप रही,
हो बरसानेवाली गुजरिया।

बहुत अनुनय विनय के पश्चात् ये इस शर्त पर उन्हें नौका में बैठाने को तैयार होते हैं कि पहले स्वामिनी उन्हें अपने चरण धो लेने दें। इस पर राधा कहती है कि मैं इस नीच जाति के धीवर को अपने शरीर का स्पर्श नहीं करने दूँगी। बहुत कहने सुनने पर वे कृष्ण को अपने पैर धोने देती हैं। अब कृष्ण पुनः बाधा उपस्थित करते हुए कहते हैं कि मेरी नौका सब को एक साथ पार नहीं ले जा सकती डूबने हुए जाने की आशंका है, इसलिए उन्हें एक-एक करके पार जाना होगा। गोपियाँ अनेक प्रकार से प्रार्थना करके और प्रलोभन देकर बड़ी कठिनाई से सब की सब एक साथ नौका में बैठने में सफल हो जाती हैं। नौका चलती है तो केवट-रूप धारी कृष्ण के नेत्र राधा के मुखचन्द्र के चकोर बन जाते हैं, इस पर राधा प्रसन्न हो सखियों को उन्हें निवारण करने का आदेश देती है। इसी बीच नौका मध्य भाग में पहुँच जाती है और कृष्ण का चमत्कार पुनः प्रारम्भ हो जाता है। वे गोपियों से कहते हैं, इन दधिमटकियों के भार से नौका बीच धार में डगमगा रही है, सब गागर मुझे दो गिन-गिना कर इन्हें यमुना में फेंक दो, नौका हल्की हो जायगी, मुझमें भी तारण-शक्ति बढ़ेगी।' विवश होकर गोपियाँ यही करती हैं, किन्तु अब उनकी ओर से व्यंग्य आपत्तियाँ उठाई जाती हैं। कृष्ण कहते हैं "अरे नौका का भार तो अब भी हल्का नहीं हुआ। सुन्दर

इन आभूषणों के भार से मेरी नौका विशेष आक्रान्त है। इन्हें शीघ्र फेंको अन्यथा यह डूब जायगी। तुम्हारे संकोच का भार भी कम नहीं है इसे भी दूर करो। जब तक संकोच है, तब तक तुम पार नहीं जा सकोगी।" गोपियाँ हारकर आभूषण उतार उतार कर फेंक तो देती हैं, पर संकोच के निवारण के लिए क्या करें? बड़ी विषम स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दयार्द्र होकर कृष्ण कहते हैं कि अच्छा मैं एक मंत्र बताता हूँ, उसे जपो। यही तुम्हें पार उतारेगा। मंत्र बताने के ब्याज से वे राधा के कान में 'कृष्ण' शब्द का उच्चारण करते हैं और फिर उनको यह भी बता देते हैं कि वे ही कृष्ण हैं। इस लीला में संसार-सरिता को पार करने के लिए चित्त त्याग और वैराग्य के सहित गुरुमन्त्र के सहारे की आवश्यकता है, उसका निरूपण बड़े ही रोचक ढंग से किया गया है। इसीलिये यह लीला भक्तों को बहुत प्रिय है और कभी-कभी इसका अभिनय अनेक नौकाओं द्वारा रंगमंच बना कर यमुना में विशेष समारोह के साथ किया जाता है।[1] यह लीला ललितकिशोरीजीने गोपाल भट्ट गोस्वामी द्वारा विरचित कृष्णप्रेमामृत' नामक संस्कृत ग्रंथ के 'पारखंड' के आधार पर लिखी है।

मौरा-लीला

यह चैतन्य-सम्प्रदाय के श्रेष्ठ कवि माधुरीजी, जो रूपगोस्वामीजी के प्रिय शिष्य थे, की माधुरी वाणी के 'वंशीवट माधुरी' के एक प्रसंग के आधार पर अभिनीत होती है। इसका कथानक इस प्रकार है —

एक दिन यमुना में नौका विहार करते हुए कृष्ण और राधा ने कमलों से एक दूसरे का शृंगार किया—

> कमलनिके कंकन रचे पहुँची परम रसाल।
> कमलनि के बाजूबंद बने हर कमलनि की माल।
> कमलनि के भूषण जहाँ तहाँ कमल मनि कांति।
> कमलनि की शोभा निरखि नैन कमल न अघात।
> कमलनि सों नव कुँवर को कुँवरि करत सिंगार।
> कमल-चरन की पाग पर राखे कमल सँवार।
> कमलफूल आसन कियो कलिका कमल मँगाए।
> पठ माल नव कमल की कीनी अंग बनाए।

१ द० ललित किशोरी रचित 'नौकालीला'

किसी कमल से निकल कर एक भ्रमर पहले कृष्ण की सरोज-माल पर गूंजता रहा, फिर राधा के कमल से मुख पर आकर गुंजार करने लगा—

चंचरीक चंचलनि कछु आगे तें टरैं न नैकु
चकित है प्यारी मुख अंचल चलावहीं।
परम कुटिल डीठ तिन तें न न्यारी हाल,
भामिनी भ्रमधि भुज-लता न उड़ावहीं।
लैमाई कंकन कछु बाजत ललित गति,
सोभित कटाक्ष इत-उत फिरि भावहीं।
मधुप-समूह भाजि होत है विकल ज्यों-ज्यों,
त्यों-त्यों मधुसूदन सु मन सचुपावहीं।

प्रियतमा को अत्यन्त विकल देखकर कृष्ण ने अपने लीलाकमल से उस 'मुख मोर मत्त' भ्रमर को उड़ा दिया और राधा से कहा—

सावधान हूजे प्रिये विकल होत केहि काज।
मधुसूदन तो गुड़ गया लीने संग समाज।

यह सुनते ही राधा मधुसूदन का अर्थ कृष्ण समझ कर और उन्हें गया हुआ मान कर सहसा अत्यन्त व्याकुल हो जाती हैं, यहाँ तक कि सामने बैठे हुए प्रियतम कृष्ण का भी ध्यान उन्हें नहीं रहता। अतएव वे अनेक प्रकार से विलाप-प्रलाप करने लगती हैं—

हा मधुसूदन, हा मधुर, हा मनमोहन लाल।
कहो कुँवर लोचन कमल गये कहाँ इहि काल।
कै सुनी बनी कहूँ गये सुमन हित धाइ।
कै रूसे रस रमने कै परिहास सुभाइ।
हो प्रीतम हो प्राणपति, अहो प्रेम-प्रतिपाल।
रहे कहाँ अब लौं कुँवर बीति गयो बहुकाल।

राधा की यह विरहावस्था देखकर कृष्ण अत्यन्त विस्मित होते हैं, और आतुरतापूर्वक उन्हें कंठ से लगा लेते हैं। राधा को कण्ठ से लगाते ही उनकी

भी वैसी ही दशा हो जाती है और वे भी विकल हो कर पूछने लगते हैं कि मेरी प्रियतमा कहाँ है—

> सब सुकुमारी मति हीनी मतवारी देखि,
> तहाँ ही बिहारी जू की न्यारी गति ह्वै गई।
> कहूँ पीठ डारी कहूँ भमकन कारी कहूँ
> पुलक पनारी सब अंगन में छै गइ।
> बिकल ह्वै भारी कछू सुधि न सँभारी कहै,
> कहाँ मेरी प्यारी अब कठ लाइ कै लई।
> कहिये कहाँरी कबहूँ न सुखकारी यह
> मिलें हूँ दुखारी कछु नेह गति ह्वै गई।

प्रेमी-युगल की यह दशा देखकर सब सहचरियाँ दौड़ कर आती हैं और 'कोटि' उपायों द्वारा उनके इस भ्रम के निवारण का उपाय करती हैं, परन्तु उनके जंत्र मन्त्र, तंत्र सब विफल हो जाते हैं। उन दोनों की यह विरह बाधा तब दूर होती है जब सखियाँ कृष्ण के कान में—'राधा-राधा' और राधा के कान में 'कृष्ण-कृष्ण' कहती हैं।

यह अत्यन्त सूक्ष्म विरह की अवस्था है, जिसमें संयोग में ही वियोग का भाव रहता है, और जिसे प्रेम-वैचित्र्य कहते हैं—

> प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः
> या विश्लेषधियार्तिस्तत् प्रमवैचित्यमुच्यते।
>
> अर्थात्
>
> बिछुरन की अति मिलन की परे संधि सब आइ।
> जो मन में संभ्रम अधेक प्रेम विचित्ति सुभाइ।

इसी प्रकार मानलीला[1] में राधा को कृष्ण के स्फटिकमय 'तन मुकुर प्रकाश' शरीर में अपना प्रतिबिंब देखकर उनके अन्य की होने का भ्रम हो जाता है, फलस्वरूप वे कठिन मान करती हैं—

> निरखत निज प्रतिबिंब तन, मन संभ्रम भयो आनि।
> उठत उठी कछु मान की और त्रिया संग जानि॥

१—दे० माधुरीजी कृत 'मान माधुरी' माधुरी वाणी पृ० ७६

चपल चली तेहि ठौर तें कीना कठिन सुभाय ।
बैठी जाय रिसाय कै गर्व सिंहासन छाय ॥

कृष्ण अनुनय विनय करते हैं, विशाखा और ललिता आदि अन्तरंगिणी सखियाँ उन्हें सब प्रकार समझाती हैं पर उनका मान भंग होना तो दूर, वह अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है। जब सब प्रकार के प्रयत्न विफल हो जाते हैं तब बड़ी मुश्किल से मान का कारण कृष्ण की समझ में आता है। अब वे एक अंजना मल कर जिससे उनके शरीर की सहज दीप्ति छिप जाती है, राधा के चरण स्पर्श करते हैं। कृष्ण के शरीर में अपना प्रतिबिंब न देखकर वे लज्जित होकर मान छोड़ देती हैं—'पट में न प्रतिबिंब देख्यो निज अंगनि को कछुक अमार रही भौंहे चल हरिफ'। ऐसी ही अन्य भी अनेक लीलाएँ हैं। ऐसी सूक्ष्मतम—मनःस्थितियों और अनुभूतियों को प्रायः तीन घंटे तक अभिनीत होनेवाले स्वतंत्र नाटक का रूप दे देना रासलीला की अपनी कला है। नाट्याभिनय की ऐसी विशिष्ट परम्परा अन्यत्र नहीं मिलती परन्तु उस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वैष्णव भक्तों और सन्तों की दृष्टि से ही इन निगूढ़ लीलाओं का तत्त्व समझा जा सकता है और उनका रस प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा इनमें रस-भंग की ही अधिक सम्भावना है। वैष्णव भक्त और आचार्य रासलीला को रस-स्वरूप परात्पर ब्रह्म से जीव का मिलन कराने वाली भावना मानते हैं। उनके अनुसार लीला शब्द में 'ली' का अर्थ है मिलन और 'ला' का अर्थ है प्राप्त करना।[1] इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि रस-स्वरूप ब्रह्म से जो जीव का मिलन प्राप्त कराये उसी का नाम है 'रासलीला।' वस्तुतः रासलीला उस आध्यात्मिक प्रगति का प्रतीक है जिसके द्वारा भक्त अनन्त का साक्षात्कार मानस्थलों में सम्पन्न करता है। रास-नृत्य के सव्य-भ्रमण और अपसव्य भ्रमण नाम के दो भेद कहे गए हैं। संभवतः ये दोनों स्वकीय एवं परकीय भाव की आराधना के प्रतीक हैं। राधा महाभाव की प्रतीक है—'राध्नोति इति राधा।' श्रीकृष्ण समस्त आराधना के आकर्षण के केन्द्र हैं—'कर्षति इति कृष्णः।'[2] इस प्रकार प्रकट है कि ब्रज का रासनृत्यानुकरण एक परमोच्च आध्यात्मिक साधना के रूप में प्रवर्तित हुआ।

१—विर्य लाति इति लीला। ली-मिलन, ला-प्राप्त करना।

२—गुप्ता करिए—कृषति विलासयति संसारार्त्तमिति कृष्णः कति ... परमानन्दनिति वदन्ति। —नारायण भट्ट पाम्नायाद्यांगि गामिनामिति कृष्ण कृत 'प्रेमविलास'।

(२)

उपर्युक्त सभी प्रकार की लीलाओं का एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार है। निम्नलिखित सूत्रों में इसका निरूपण किया गया है, ये सूत्र शांडिल्य-प्रणीत कहे जाते हैं—

ब्रह्मतो रसो ब्रह्म ।१। सेयानन्दस्वरूपो कृष्णः ।२। तस्यानुकरणात्मिका भक्तिः ।३। सा नवधा ।४। तेषामन्योन्याश्रयत्वम् ।५। तस्मात् रसोत्पद्यते ।६। सोऽपि क्रियाभेदेनद्विधा ।७। गोलोक स्थानमेव ।८। ललितादेभ्यो योगयोगलेन लभ्यते ।९। प्रेमदेवता च ।१०। महत्संगात् भविष्यति ।११। परंपरैव ग्रहणम् ।१२। निष्कामेन कर्तव्यम् ।१३। प्रयासं विनैव फलसिद्धिः ।१४। नियमेन कर्तव्यम् ।१५।

अर्थात् रस ही ब्रह्म है।१। यही आनन्द स्वरूप कृष्ण है ।२। उसकी भक्ति अनुकरणात्मिका होती है ।३। यह नौ प्रकार की होती है ।४। उन सबका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है ।५। उससे रस उत्पन्न होता है ।६। वह भी क्रिया भेद से दो प्रकार का होता है ।७। गोलोक ही उसका स्थान है ।८। वह ललिता देवी के योगबल द्वारा प्राप्त होता है ।९। इसका देवता प्रेम है ।१०। वह महत् संग से होगा ।११। परंपरा से यह ग्रहण किया जा सकता है ।१२। निष्काम भाव से ही करना चाहिए ।१३। बिना प्रयास के ही फलसिद्धि हो जाती है ।१४। नियम पूर्वक करना चाहिए ।१५।

ऊपर के अवतरण से स्पष्ट है कि ब्रह्म रस स्वरूप है—'रसो वै सः।' आनन्द स्वरूप कृष्ण ही वह ब्रह्म है— कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्। उन्हीं कृष्ण की अनुकरणात्मिका भक्ति से रस की उत्पत्ति हुई है, जिसका स्थान गोलोक है। इस चिन्तन का परिपुष्ट रूप हमें वैष्णव-सम्प्रदाय में मिलता है। उसके अनुसार रस-स्वरूप परमात्मा ही आस्वाद्य-आस्वादक का रूप ग्रहण करके राधा और कृष्ण के रूप में प्रकट होता है-'एकं ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधव रूपकम्'।[२] राधा कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है—

१—डे० वि० का० कृत रास सर्वस्व' में 'रासारंभ निरूपण ।

२—कृष्णोपनिषद् ।१२।

एक स्वरूप सदा है नाम
आनंद की आह्लादिनि स्यामा, आह्लादिनि के आनंद स्याम।

वैष्णव ब्रह्म की तीन शक्तियाँ मानते हैं¹—(१) अंतरंग (२) बहिरंग और (३) तटस्थ। बहिरंग माया शक्ति है, तटस्थ जीव शक्ति है, और अंतरंगा शक्ति वह है जो ब्रह्म के स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखती है। इस स्वरूपा शक्ति के भी तीन भेद हैं—(१) सत् की संधिनी, (२) चित् की संवित्, और (३) आनंद की आह्लादिनी। आह्लादिनी शक्ति का ही मूल रूप श्री राधिका है—

प्रिया शक्ति आह्लादिनी, प्रिय आह्लाद स्वरूप।
तनु वृन्दावन जगमग, इच्छा सखी अनूप।²

यह आह्लादिनी शक्ति श्रीकृष्ण—के अन्दर रहती हुई भी उनसे भिन्न रह सकती है। गोपियाँ उनकी काय-व्यूह मानी गई हैं। राधा की तीन मूर्तियाँ हैं—स्वरूपमूर्ति परिणाम मूर्ति (प्रकाशमूर्ति) और छाया। उनकी स्वयंमूर्ति ही गोलोक में कृष्ण के साथ नित्य-निकुंज में नित्य-संयुक्त रूप में रहती है। उनकी परिणाममूर्ति कृष्णावतार काल में ब्रज में अवतरित होती है। इसलिए वैष्णव ब्रज में ही रस की स्थिति मानते हैं क्योंकि वह राधा की परिणाममूर्ति है। बैकुंठ में उसकी स्थिति ही संभव नहीं क्योंकि स्वर्ग में रस हो नहीं सकता। इसीलिए वास्तविक रस उस ब्रज में नित्य गोलोक धाम में ही होता है। रस के समूह को ही रास कहा गया है,³ अथवा जिसमें रस उत्पन्न होता है, उसे रास कहते हैं।⁴ इसलिए रास की नित्य स्थिति भी ब्रज में ही मानी गई है।

इसी से रास के तीन भेद हो जाते हैं—पहला अलौकिक अथवा नित्य रास दूसरा नैमित्तिक रास और तीसरा लौकिक रास जिसे धर्मानुकरण करते हैं। अलौकिक अथवा नित्यरास को योगनिद्रा की [illegible] भी कहते हैं।

१—दे० जीव गोस्वामी कृत 'भागवत-संदर्भ'।
२—महावानी हरिव्यासदेव जी।
३—'रसानां समूहो रासः।'
४—'रसो यस्मिन् प्रसरन् स रासः।'

यह भगवान की अप्रकट लीला है।[1] यह रास गोलोक के हृदय में स्थित नित्य वृन्दावन-धाम में होता है और परम रहस्य वस्तु कहा गया है। इस लीला में सुर, असुर, जीव किसी का भी प्रवेश नहीं, केवल नित्यसिद्ध परिकर ही उसके अधिकारी हैं। इसकी भी तीन अवस्थायें हैं। पहली अवस्था वह है जहाँ सखियों सयुगल श्याम नित्य निकुंज में निभृतयुक्त रूप में रहते हैं जहाँ मान विरह और भ्रम कुछ नहीं होता निर्विकार शान्त शृंगार की अविरल अखण्ड धारा प्रवाहित रहती है। दूसरी अवस्था वह है जिसमें प्रकाश-रूप से युगल मूर्ति अपनी सखियों—नित्य सिद्ध परिकरों—को सुख देने के लिए निज निकुंज से बाहर निकलते हैं और उनके साथ रास करते हैं। यहाँ विरह नहीं होता पर मान और भ्रम होता है। उल्लिखित भ्रम-लीला तथा मान-लीला यहीं होती हैं। तीसरी अवस्था वह है जिसमें नन्दगाँव और बरसाने की लीलायें होती हैं। नन्द-भवन की लीला कर्म्मर्यादित वात्सल्य-लीला मानी जाती है। यहाँ यह अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है कि ये सब लीलायें नित्य हैं, और इनका श्रीमद्भागवत् आदि में वर्णित अवतार लीलाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। अवतार लीलायें नैमित्तिक रास के अन्तर्गत हैं, जो अवतार-काल में होता है। इन्हीं का वर्णन पुराणादि ग्रंथों में है और यह भगवान् की प्रकट लीला के अन्तर्गत हैं। आज कल जो रास होता है, वह लीलानुकरण मात्र है। नित्य लीला रास-हृद स्वरूप है। नैमित्तिक इसका प्रचार है और लीलानुकरण प्रतिमा-स्वरूप है, जो साधना-आराधना और उपासना की वस्तु है और जिसके उद्देश्य तथा आदर्श का निरूपण किया जा चुका है। ऊपर यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि अनुकरण नित्य और नैमित्तिक दोनों ही प्रकार की लीलाओं का होता है। हितहरिवंश हरिदास तथा हरिव्यास आदि निम्बार्क मतानुयायी महात्मा नित्य-निकुंज के नित्य रास के उपासक थे, उनके सम्प्रदायों में आज भी अप्रकट

१—कालिन्दी जँह नदी नील निर्मल जल भ्राजै ।
परम तत्त्व वेदान्त वेद्य इव रूप विराजै ॥

× ×

ता मंडप महँ योगपीठ पंकज रुचि लागी ।
ताके मध्य में उदित दिसत जो कोउ बड़भागी ॥
श्री वृन्दावन योगपीठ गोविन्द विराजा ।
तहाँ महायश ध्यान करत सेवा की आशा ॥

—गदाधर भट्ट की बाणी पृ० १।५१।

मिश्र निकुञ्ज-रस की उपासना वर्णित की गयी है, गौड़ीय सम्प्रदाय में प्रकट ब्रज रस की उपासना होती है।

यदि हम राधा कृष्ण के पारस्परिक आस्वाद्य आस्वादक सम्बन्ध पर दृष्टि डालें, जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है, तो यह सम्प्रदाय भेद अधिक स्पष्ट हो जाता है। निम्बार्की और राधावल्लभी मानते हैं कि आस्वाद्य श्री राधा और आस्वादक कृष्ण हैं, इसीलिए कृष्ण अनेक छद्म धारण करते तथा राधा के लिए अभिसार करते हैं। चाचा हितवृन्दावन दास लिखित 'रास छद्म विनोद' और 'सदामीत लीला' आदि ग्रन्थों का उल्लेख हो चुका है, जिनमें कृष्ण का राधा के लिये विविध छद्म धारण करने का वर्णन है। इन छद्म लीलाओं के अन्तर्गत 'नौकालीला' जैसी कुछ रहस्यमयी लीलायें भी हैं जिनका दार्शनिक आधार जितना पुष्ट और स्पष्ट है उनका अभिनय भी उतना ही हृदयहारी और चित्ताकर्षक होता है। इसके विपरीत वल्लभ और गौड़ीय सम्प्रदायों के अनुसार आस्वाद्य कृष्ण और आस्वादक राधा रानी हैं। इसलिए श्रीराधा श्रीकृष्ण से मिलने के लिए अनेक छद्म वेश धारण करती तथा अभिसार करती हैं, विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा अभिनीत रासलीलाओं में अनेक रूपों में यह भेद लक्षित होता है। निम्बार्क सम्प्रदाय में निकुञ्जलीलायें, विशेषतः छद्म अधिक प्रचलित हैं, और वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य तथा सख्य-भाव की लीलाओं पर अधिक अनुराग है। निम्बार्क सम्प्रदाय के रास में कृष्ण का मुकुट बाएं ओर झुका रहता है जो राधा की प्रधानता का सूचक है। वल्लभ सम्प्रदाय के रास में कृष्ण के मुकुट की दाहिनी लटक रहती है जिससे कृष्ण की प्रधानता प्रकट होती है।

कृष्ण और राधा के सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदायों की निष्ठा पर विचार करने से एक और तथ्य प्रकाश में आता है। वह यह है कि अधिकारी एवं रति के भेद से कृष्ण में नायक के सब भावों का आरोप किया गया है। जब उनका राधा पर एकान्त अनुराग है, तब वह दक्षिण नायक हैं। राधा के साथ ही साथ जब अन्य गोपियों पर उनका समान अनुराग होता है, तब वह अनुकूल नायक हैं। उनमें शठ और धृष्ट नायक के भी सब गुण हैं जिनके बहु मार्मिक उदाहरण कृष्ण-साहित्य में दिये जा सकते हैं। उसी प्रकार राधा में भी नायिका के स्वकीय और परकीय दोनों भावों का आरोप किया गया है।[1] निम्बार्क

१ 'अनन्यनायिकाशरणानान्यपादुकपेक्षिणि'—सनत्कुमार संहितायाम्

सम्प्रदाय के अनुसार कृष्ण का विवाह राधा से होता है और उनमें स्वकीयत्व की सभी दशाओं और अवस्थाओं की स्थापना की गई है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी ऐसा माना गया है। गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा एक अन्य गोप की पत्नी बताई गई हैं जो कृष्ण के प्रेम में परम विरक्त, गृहत्यागी संन्यासी की तरह कुल की लाज और लोक की मर्यादा छोड़कर सर्वस्व समर्पण कर देती हैं। इस सिद्धान्त-भेद से अपार पात्र-भेद तथा रस-भेद की सृष्टि हुई है और लीलानुकरण का कथा-पक्ष अधिक प्रौढ़ बना है। एक ओर तो रासलीला के छोटे-मोटे कथानकों में व्यापकता और विविधता का सन्निवेश हुआ है और दूसरी ओर एक ही शृंगार-रस के परिमित क्षेत्र में वैचित्र्य के समावेश का अनन्त अवकाश निकल सका है।

यहाँ यह न भूल जाना चाहिये कि रास काम-गन्ध-शून्य प्रेमलीला है जिसके मूल में उपनिषदों का सर्वात्मवाद है। अतः राधा का स्वकीयत्व और परकीयत्व नैतिकता की पार्थिव दृष्टि से नहीं समझा जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है राधा ब्रह्म की शक्ति हैं जिसके साथ ब्रह्म पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में समान रूप से लीला-विलास करता है। इस लीला-विलास की अनुभूति भक्तजन अपने भीतर करते हैं जिसका सुन्दर चित्रण देव के इस छन्द में मिलता है।

हों ही ब्रज वृन्दावन मोही में बसत सदा,
जमुना तरंग श्याम रंग अवलीन की।
वंशीवट तट नट नागर नटत मो मै
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
चहूँ ओर सुन्दर सघन बन देखियत,
कुंजन में सुनियत गुंजनि अलीन की।
भरि रही भनक बनक ताल तानन की
तनक तनक तामें झनक चुरीन की[1]।

१—द्र० श्री पूर्णेन्दु नारायण सिंह की उक्ति 'भागवत पुराण', १९०१, पृ० ११४-११५—

"...... ...The heart of man is the seat of this Lila which can be reproduced at all times in the heart of every real Bhakta......... The Lila is constantly performed in Goloka and it is produced over parts of Brahmanda, according to the will of Krishna."

अतः स्वकीयत्व और परकीयत्व दोनों भावना और अनुभूतिसापेक्ष भाव हैं। स्वकीयत्व आत्मा और परमात्मा की सहज अभिन्नता की उस तीव्र अनुभूति का प्रतीक है जिसकी अभिव्यक्ति कबीर आदि ने अपने को 'रामकी बहुरिया'[1] कहकर की है, और परकीयत्व आध्यात्मिक साधना के मार्ग पर अधिकार की उस स्थिति का सूचक है, जब एक साधक दैवी जीवन की सीमा में प्रवेश करते ही पार्थिवता के नैतिक-अनैतिक सभी बन्धन स्वतः टूट-टूट जाते हैं।[2]

लीलानुकरणमें भी उसकी आध्यात्मिकता अक्षुण्ण रखनेके लिए अभिनय सम्बन्धी कठोर नियम बनाए गए हैं। ब्रज के ब्राह्मण बालक ही, जिनके यज्ञोपवीतादि संस्कार हो गए हैं, राधा-कृष्ण और गोपियों का स्वरूप धारण कर सकते हैं। स्वरूपधारियों को आवेशावतार माना जाता है, और प्रत्येक प्रेक्षक से यह आशा की जाती है कि वह लीलानुकरण करने वाले स्वरूपों में भगवद्बुद्धि रक्खे। स्वरूपों के सामने कोई उच्चासन पर अथवा अविनीत मुद्रा में नहीं बैठ सकता। नृत्य के समय रासमंडल के बीच से निकलना तक अनुचित माना गया है। सर्व साधारण के सामने अंतरंग रहस्यमयी निकुंजलीलाका अभिनय वर्जित है और रात्रि में बारह बजे के पश्चात् खेला होना मर्यादा-विरुद्ध है। अब तो नहीं, पर कुछ रासमंडलियाँ आज तक इन नियमों का निष्ठा से पालन करती चली आई हैं।

१—गाउ गाउ री दुलहनी मंगल चार।
मेरे गृह आए राजा राम भरतारा।
नाभि कमल महिं बेदी रचिले ब्रह्म गियान उचारा।
राम राइ सो दूलहु पाइयो अस बड़ भाग हमारा।

२—डॉ० आनन्द कुमार स्वामी कृत 'राजपूत पेंटिंग्स' अध्याय १ :—

'This Krishna is constantly represented as betraying the milk maids of Braja—the souls of men—from their lawful allegiance. .... Christ also condemned the illusion of family'

(शेष अगले पृष्ठ पर)

(१)

ऊपर रासलीला के जिस स्वरूप का विवेचन किया गया है उसका उद्‌भव और विकास ब्रज में ही माना जाता है, परन्तु रासलीला किसी न किसी रूप में देश के प्रायः सभी भागों में पाई जाती है। आसाम के मनीपुर प्रान्त में रासदास का बहुत प्रचार है जिसमें राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंगों का अभिनय होता है। ये सर्वथा कामप्रधान होते हैं, और उनकी मूल प्रेरणा धार्मिक होती है। मनीपुर के प्रत्येक ग्राम में राधा-कृष्ण, कृष्ण-बलराम अथवा कृष्ण-चैतन्य का एक मंदिर रहता है, जिसके सभा-मंडप में ये लीलायें होती हैं। इन मंदिरों में रासलीला नामक एक नृत्य-महोत्सव भी होता है, जो निरन्तर बारह दिनों तक चलता रहता है और जिसमें प्रसिद्ध वैष्णव कवियों के पदों का गान भी साथ-साथ चलता है। कभी-कभी नर्तकों के साथ गायकों तथा वादकों का समूह भी रहता है। परन्तु प्रायः नर्तक ही स्वयं गायन करते हैं। नर्तक, गायक, वादक सबकी वेशभूषा अत्यन्त सुन्दर और वर्ण-वैचित्र्य के कारण आकर्षक होती है।

---

*"However deeply men may belive.......in morality there must ultimately come a day for each when it will be realized that these are but a game and its rules which the greater life transcends: it is then that reputation becomes of no significance, the soul is made parakiya, and goes forth on abhisara into the darkness of the unconditioned, to yield herself to Him who waits at the place of trysting. And though the soul—Radha Sophia Besse, or by whatever name we speak of her—may return to the world and its dharma, she will attain at last to that bhava—sammilan or inner union which is the sva-rupa or own form of Krishna, and knows no severance. The momentary ecstasies and illuminations which this life affords us are intimations of that perpetual reality which we have temporarily forgotten. This is the significance of the Vaishnava symbolism. — ......In other words, the names in the Krishna Lila are like Jerusalem and other names employed by Blake and the Western mystics to indicate states."

वही पृ० १७—१८

कृष्ण एक पीली रेशमी धोती पहनते हैं जो रेशमी कटिपन्धसे कसी रहती है। उनके शरीर का ऊपरी भाग खुला रहता है, यद्यपि उन्हें हार, केयूर वलय और अंगद आदि से खूब सजा दिया जाता है। मस्तक पर जड़ाऊ किरीट रहता है जिस पर मयूरपंख शोभा पाते हैं। इस मनीपुर रास की विशेषता यह है कि इसमें स्त्रियां भी करती हैं जैसा ब्रज में नहीं होता। गुजरात के अंतर्गत काठियावाड़ में भी रासलीला प्रचलित है जो गरबा या गर्बा नृत्य की शैली पर होती है, इसमें भी स्त्री और पुरुष दोनों भाग लेते हैं। बंगाल की यात्राओं में भी कृष्णलीला का ही प्राधान्य है। उड़ीसा के यात्रा-नृत्य के अन्तर्गत भी राधाकृष्ण के ऐसे प्रणय-संलाप होते हैं जिनमें उनके दिव्य शाश्वत प्रेम की अभिव्यक्ति रहती है। रासलीला की इस व्यापकता को देखनेसे पता चलता है कि यह प्रान्त-विशेषकी वस्तु नहीं, अपितु इसका प्रसार सारे देशमें रहा है। फिर भी हम देखते हैं कि आज रासलीलाका जो आध्यात्मिक आदर्श और साहित्यिक उत्कर्ष एवं कलात्मक वैविध्य ब्रजभूमि में पाया जाता है, वह अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ता। इस बात से यह अनुमान किया जा सकता है कि रासलीला के वर्तमान स्वरूप की उत्पत्ति और विकास वृन्दावनके आसपास कहीं ब्रजभूमिमें ही हुआ होगा। रासलीला की उत्पत्ति कब और किसके द्वारा हुई, इसके सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री घमंडदेवजी को रासलीला का प्रवर्तक माना जाता है। घमंडदेवजी निम्बार्क सम्प्रदाय के श्री हरिव्यासदेवाचार्य के बारह प्रधान शिष्यों में गिने जाते हैं, जिनका एक द्वारा—स्थान—पंजाब के किसी स्थान में बतलाया जाता है। निम्बार्की हरिव्यासदेव जी का प्राकट्यकाल[1] सम्वत् ११२० के लगभग मानते हैं, और उनके अनुसार श्री घमंडदेवजी का प्रादुर्भाव सम्वत् १५५९ के लगभग पंजाब प्रान्तान्तर्गत रोहतक जिले के 'दौलतपुर'[2] नामक ग्राम के एक ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनका सम्वत् १५६५ तक जीवित रहना बतलाया जाता है। कहा जाता है कि उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर श्री राधा और कृष्ण ने उन्हें अपनी रासलीला के दर्शन कराये, तथा उन्हें एक तेजोमय मणिमंडित मुकुट देकर आज्ञा दी कि तुम उत्तम-उत्तम ब्राह्मण

१ दे० 'निम्बार्क माधुरी', पृ [illegible]

२ दे० श्री निम्बार्क महात्मा, वृन्दावन का मुखपत्र 'श्री सुदर्शन', कार्तिक, सं० १९९८, पृ० १८ विहारीराम लिखित 'घमंडदेव जी की जीवनी।'

बालकों को शिक्षा दे रास-दर्शन का प्रत्यक्ष अनुभव करो। मथुरा के स्वामी हरिदास जी तथा कतिपय अन्य महात्माओंको संग लेकर मथुरा गए और वहाँ से दस माथुर ब्राह्मण बालकों को लेकर रासलीला की। ये बालक लीला के अन्त में सदा के लिए अन्तर्धान हो गए। वहाँ से फिर गुरु ब्रजधाम के निकट 'करहला' नामक ग्राम में गए और वहाँ उदयकरण और खेमकरण नामक दो ब्राह्मण बन्धुओं को शिष्य बनाकर उनके द्वारा रासानुकरण का प्रचार किया।

रासलीला के प्रवर्तन के सम्बन्ध में इससे कुछ मिलती-जुलती अनुश्रुति निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रचलित है। इस अनुश्रुति का पूरा विवरण करहला ग्राम के प्रसिद्ध रासधारी श्री बिहारी लाल के पुत्र रासाचार्य श्री राधाकृष्ण ने अपने 'रास सर्वस्व' ग्रन्थ में संग्रह किया है। रासधारी परंपरा का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है—

नगर ग्वालियर निकट इक ग्राम परेखा नाम।
घमंड देव को मुकुट को दरस भयो तिहि ठाम॥
करहु रास आज्ञा भई भने न काहू जान।
लिए स्वामि संमत करन मथुरा पहुँचे आनि॥
तह संमत कर पुन मुकुट सबै दरस शुभ दीन।
पुनि निर्मायो रास अस प्रथमहि पर्चन कीन॥
पुनि घमंड स्वामी गए ग्राम करहला माहि।
उदय करण अरु खेमकर द्विजभ्राता गुरु ताहि॥
तिनहिं सुखकर अस कही करहु रास महि देव।
यहि विधि येस परम्परा सदा रहै शुभ सेव॥[1]

इस मत के अनुसार भी एक घमंडदेव अथवा घमंडस्वामी रासधारी परंपरा के प्रथम प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका जन्म स्थान पंजाब का दीनबन्ध गाँव नहीं वरन् ग्वालियर का निकटवर्ती परेखा नामक ग्राम कहा गया है। यह सनाढ्य ब्राह्मण थे, पर निम्बार्क सम्प्रदाय में जिन घमंडदेव की प्रसिद्धि है वे गौड़ थे। जिन दिनों घमंड देव को मुकुटों का दर्शन हुआ और रास करने की

१—देखो 'रास-सर्वस्व'

आज्ञा मिली उन्हीं दिनों वृन्दावनके सुप्रसिद्ध सन्त श्री स्वामी हरिदास को भी रासलीला के उद्धार की प्रेरणा मिली—

रास बिहारी लाल युगल ते दूरि भयो जब ।
तिमिर ग्रसित भव जान नाहिं जानें कोउ तब ॥
श्री स्वामी हरिदास दास ललिता वपु तिनको ।
प्रकट करन भई रास मंडल ते आज्ञा जिनको ॥[1]

श्री स्वामी हरिदास सिद्ध सन्त और प्रसिद्ध संगीत कलाकोविद थे। गायनाचार्य तानसेन तक इनका गुरुवत् सम्मान करते थे। रासलीला के उद्धार की दैवी प्रेरणा से अनुप्राणित हो वे महाप्रभु वल्लभाचार्य के पास गए और उनसे रास-पद्धति को जगत् में प्रकट करने का उपाय करने की प्रार्थना की[2]। आचार्य श्री महाप्रभु ने प्राणायाम चढ़ाकर ध्यान किया। उसी समय मुकुट उतरते हुए दिखाई पड़े। उस समय महाप्रभु जी की सभा में वामन राजा उपस्थित थे। उन्होंने मुकुटों को उतरते हुए देखकर आश्चर्य-चकित होकर पूछा, यह क्यों उतर रहे हैं? इस पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उत्तर दिया[3] —

रास क्रीड़ा करो कही यह बात सतायन ।
नाहि याम कछु दोष यही है हमारी आयसु ॥
ताम्रपत्र में मुकट करो सबरे धर्मई किन ।

तब स्वामी हरिदास कही अब देर करत कित ।
छिन पल हमको कोटि कल्प सम बीतत है इत ॥
माथुर भक्ति परायण तिनकी निकट बुलाये ।
परम मतो हम देख बाट बालक समझाये ॥
तारी छिन ते नये भाव बालक ले आये ।
को कहि तिनकी महिमा जो श्री प्रभुन बुलाये ॥

१—देखो 'रास-सर्वस्व'
२— ,, वही
३— ,, वही

इस प्रकार रास में अभिनय करने के हेतु माथुर ब्राह्मणों के बालकों के आ जाने पर स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कृष्णस्वरूप का शृंगार किया तथा स्वामी हरिदासजी ने राधा स्वरूप का—

श्री स्वामी हरिदास कियो शृंगार प्रिया को।
श्री आचारज देव कियो मोहन रसिया को॥
पुनि वृंदावन माँय रास मंडल निर्मायो।
वेद पुरान प्रमान तहाँ रीति बतायो॥
ता मधि जुगल किशोर थापि पुनि सखि पधराई।
आपुन कियो समाज कृष्ण लीला तब गाई॥
महारास तब कियो लाल भये मगनमोदा।
धन धन ह्वै हरि फिरे सखी करि करि शुभ नागर॥

इस प्रकार बहुत मनोरंजन करने पर भी कृष्ण-स्वरूप और राधा-स्वरूप का कुछ भी पता न लगाया जा सका। तब तो इन बालकों के अभिभावक माथुर ब्राह्मणों ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने पुत्रों के प्राप्त करने का आग्रह किया। जब वे मरने-मारने को उद्यत हो गए, तो आचार्य महाप्रभु वल्लभ ने उनके पुत्रों को ईश्वर के विग्रह के निकट खेलते हुए दिखा दिया। तब तो वे सारे माथुर ब्राह्मण इस चमत्कार से अभिभूत होकर अपने-अपने घरों को भाग गए और आचार्य महाप्रभु ने घमंडदेव को आज्ञा दी कि तुम ब्रज में अपनी शिष्य-परम्परा स्थापित कर रासलीला का प्रचार करो—

अपने अपने घरन आपुहिं कियो पलायन।
घमंडदेव सों कह्यो सुनो शुभ भक्ति-परायन॥
तुम ब्रज के बालकन माहिं कीजै शिष्य शाखा।
तिनसों यह नाटक जु बनाओ सुनि मम भाषा॥
ऐसी आज्ञा दई भये अपने अपने बस।
घमंडदेव पुनि गये ग्राम करहला जेह करदम।
उदय करन अरु खेम करन द्वै भ्राता हितकर।
तिनहीं सों यह रास भया चली सुनौ रसिकवर॥

उदय करण को पुत्र नाम विक्रम हो जाको ।
अति प्रताप बल पौरुष परसौ नाय न ताको ॥
औरंग साह के समय रास तिनहीं ने कीनो ।
परचौ दीनो ताहि मारि करवर नाम लीनो ॥

'रासकल्प' के रचयिता श्री राधाकृष्ण के अनुसार इस प्रकार रासानुकरण की परम्परा चली। जब तक यह परम्परा उच्चकोटि के भक्तों और साधनाशील भक्त रासधारियों पर आश्रित रही तब तक उसका आध्यात्मिक स्वरूप अक्षुण्ण रहा, पर कुछ समय उपरान्त जब यह परम्परा शुद्ध मनोरंजन चाहने वाले लोगों से प्रभावित हुई तो उसमें अनेक प्रकार की विकृतियाँ आ गईं—

तिनके पीछे सुनौ रसिक रस सर्व बिनसिगा ।
दंभ, काम मद, लोभ रासधारिन उर बसिगो ॥
ह्वै गए सब निर्द्वन्द्व रासधारी जबही से ।
भ्रष्ट करी सब रीति, लोभ बस है तबही ते ॥
जाति अजाति कुजातिन के बालक लै लै सब ।
कृष्ण वेष धरि, दंभ धाम मांगन लाग्यो तब ॥
महा नीच मति दुष्ट कामबस असुर समाना ।
गावत रेखता आदि गाय पामर मनमाना ॥
कहुँ सखि बरनी जाय दुष्ट अस रीति चलाई ।
लोक लाज कुल धर्म शृंखला सबै नसाई ॥
इहि विधि जग में सुनौ भौ विख्यात सर्व रस मैय ।
प्रिय बिहारी लोक पुनि प्रकट कियो यह पंथ ॥

श्री राधाकृष्ण ने इस प्रकार रासानुकरण-परम्परा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए बताया है कि उन्हें लिखा विधानमान रासधारी ने उपर्युक्त विकृतियों से उसका उद्धार किया। इससे सिद्ध है कि रास पहले केवल भगवद् गुनगान के लिए होता था, इसका कोई आर्थिक प्रयोजन न था। आर्थिक स्वार्थ के इसमें आ जाने के कारण ही उपर्युक्त विकृतियाँ उत्पन्न हुईं।

इस प्रकार 'एकादशस्कंध' के रचयिता ने, रासानुकरण के प्राकट्य का श्रेय जहाँ स्वामी हरिदास और घमंडदेव को प्रदान किया है वहाँ नानालीलानुकरण प्राकट्य का श्रेय भी नारायण भट्ट को दिया है —

दक्षिण पश्चिम कोण में मगधराज के ग्राम।
मथुरा तेरा कोस पै अति प्रसिद्ध सो ठाम॥
जहाँ व्यास गुरु सरित पर प्रकटे तहँ रसधाम।
नारद जी के अंशावतार भट्ट नारायण नाम॥
दीक्षित भृगुवंशी सुविदित रवि वेद सुख ठाँह।
संवत सोरहें सै बसो आठ अधिक के माँह॥

जब इनकी अवस्था बारह वर्ष की ही थी तभी इन्हें ब्रज में जाकर तीर्थ स्थानों के उद्धार और भगवद् लीला के विस्तार की प्रेरणा प्राप्त हुई —

भगवत दर्शन सुनौ मम बानी, ब्रज में जाय बसौ तुम ज्ञानी।
राधा कुंड गोल निज मेरो, प्रगटि तुमकहँ सुखद बसेरो॥
तीरथ बर ब्रज में हैं जेते, करहु सुगम श्रम भये तेते।
करहु जाइ तिनको उद्धारा, पुनि मम लीला को विस्तारा॥

इस प्रकार दैवी आदेश प्राप्त कर इन्होंने ब्रज को प्रस्थान किया —

पुनि तिहि ब्रज को कियो पयाना, देखत मग पुर वन सरि नाना।
वर्ष तीस में ब्रज में आये, राधा कुंड रहे पुनि छाये॥
सात वर्ष तहँ विचरत आये, संवत सै दस संवत माहि।
बरसानें मँहि ऊँचे गामा, वास कियो भजन सुख धामा॥
तब सम्वत् से चौदह साखी, मधुसासन दीन्ही वनमाली।
करहु रास रस रीति उजागर, जेहि कारण प्रकटेउ गुणआगर॥
तब सनाढ्य द्वै विप्र बोलाई, राम रूप कल्यानहु राई॥
बालै रहे बरसाना केरे, किय शिष्य उपदेश घनेरे॥

पुनि पट भूषण मुकुट वर, बालकराय की साज।
लाल भए हरि बालकनि, करत रहे ब्रज माह॥

ताते विविध नृत्य विस्तारी रास विलास प्रकटता गाई ।
कछु दिन पाछ भयउ बिचारू, प्रगटउ भाव तदपि सँभारू ॥
रास विलास स्वामिनी प्यारी, सखी भाव बिन नहिं अधिकारी ।
प्राकृत दम्पति लीला माहीं परिचारक कोउ प्रविशत नाहीं ॥
रहै पास तेहि अवसर,दासी औ स्वामिनि की कृपा निवासी ।
प्रभु के भक्त अनेक विधाना, उज्वल सख्य दास रस नाना ।
तिन कहँ सुख उपजे जेहि भाँती प्रभु पद में रह मन दिन राती ॥
जेहि प्रकार हरि प्रम रस निरखि भक्त सब होइ ।
निज निज रुचि हरि भाव कर सुख पावै सब कोइ ॥
अस विचारि हरि को ललित लीलन को अनुकार ।
रसिक नारायण भट्ट ने प्रचलित कियो संसार ॥

उपर्युक्त विवरण से यह प्रकट होता है कि श्री नारायण भट्ट ने भी लीलानुकरण के प्रचार के अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करहला के ही दो ब्राह्मणों को शिष्य बनाया। वल्लभ नामक बादशाह के एक अवकाश-प्राप्त नर्तक से भी उनको अपने कार्य में सहायता मिली, परन्तु कुछ समय पश्चात् उनको यह अनुभव हुआ कि सांसारिक साधारण अनधिकारी व्यक्तियों के प्रवेश और सम्पर्क के कारण रास की आध्यात्मिकता लौकिकता से आक्रान्त होती जा रही है। उन्होंने सोचा जब अनर्वाच्य दाम्पत्य-लीला में पर-प्रवेश निषिद्ध है तो भगवान् की परम दिव्य दाम्पत्य-लीला को सार्वजनिक बनाकर उसे मधुर रस के अनधिकारी व्यक्तियों के लिए उपभोग्य बना देना समाज के लिये अनिष्टकर ही होगा। इसलिए उन्होंने रुचि और प्रवृत्ति-भेद से विभिन्न प्रकार के भक्ति के अधिकारियों के लिए उज्ज्वल सख्य और दास्य आदि रसों की भगवान् की लीलाओं की अनुकृति का प्रचार और प्रसार किया।

राधाकृष्ण के इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि आज जिस परिपाटी
की रासलीला प्रचलित है वह उतना पुराना नहीं है। स्वामी हरिदास
स्वामी वल्लभाचार्य के सहयोग से केवल रासानुकरण का प्रचार किया
जिसमें शरद् पूर्णिमा में यमुना तट पर गोपियों के साथ भगवान् कृष्ण
आयोजित रासलीला का ही एक निश्चित विधि से अभिनयात्मक अनु
किया जाता था। अन्य लीलाओं का समावेश उसमें नहीं होता था। मा
वल्लभाचार्य के आदेश से सम्भवतः इसी रासानुकरण का प्रचार यमदे

घमंडस्वामी ने करहला के उदयकरण और खेमकरण को शिष्य बनाकर ब्रज में किया । जब श्री नारायण भट्ट ब्रज में आए, तब यहाँ इसी रूप में रासानुकरण का प्रचार था । परन्तु मधुररसाश्रित इस विशुद्ध आध्यात्मिक लीला के अधिकारियों के अभाव के कारण इसमें लौकिकता का प्रवेश होते देखकर उन्होंने इसके साथ-साथ नाना लीलानुकरण का प्रचार किया ।

बहुत प्रयत्न करने पर भी ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए जिनसे उपर्युक्त दोनों मतों में से किसी एक को निश्चयात्मक स्वीकार किया जा सके । उपर्युक्त दोनों ही मत घमंडदेव नामक किन्हीं आचार्य को रासलीला का प्रवर्तक मानते हैं, और करहला-ग्राम निवासी उदयकरण तथा खेमकरण की सहायता से इस परंपरा का प्रवर्तन स्वीकार करते हैं । संभव है निम्बार्क एवं वल्लभ दोनों ही संप्रदायों के घमंडदेव एक ही व्यक्ति हों और संप्रदायभेद से भिन्न रूपों में उनके संबंध की जनश्रुतियों का प्रचार हुआ हो । यह भी संभव है कि घमंडदेव द्वारा रासलीला के प्रवर्तन के संबंध की कोई पुरानी जनश्रुति चली आ रही हो, जिसको दोनों संप्रदायवालों ने पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता और खींचतान के आवेश में अपने ही संप्रदाय को रासलीला के प्रारम्भ का श्रेय देने के लिए अपनी सुविधानुसार तोड़-मरोड़ लिया हो । यह भी संभावना है कि यह जनश्रुति पहले इनमें से किसी एक ही संप्रदाय की संपत्ति अथवा उद्भावना रही हो और फिर बाद को दूसरे ने भी अपनी रुचि के अनुकूल इसका उपयोग किया हो । इन दोनों मतों की प्रतिद्वंद्विता बहुत पुरानी है जिसका प्रमाण वह अभियोग[1] है जो दोनों संप्रदायों में इस बात को लेकर चला था कि बरसाने की बूढ़ी[2] लीलाओं में कृष्ण के मुकुट की

१—सन् १९१४ में बरसाने की बूढ़ी लीला के अवसर पर वृन्दावन के निम्बार्की साधुओं से विवाद होने पर करहला के रासधारियों ने आग्रह किया कि हम निम्बार्की शृङ्गार (बायें मुकुटादि) न लेकर बल्लभी शृङ्गार (दाहिना मुकुट) करेंगे । इस पर बड़ा विवाद हुआ और दो वर्ष तक मुकदमा चलता रहा । इस विवाद के बीच खूब मारपीट हुई और फौजदारी तक की नौबत आई ।

२—ब्रज में प्रचलित इस समय की सब से प्राचीन लीला परंपरा बरसाने की है, पर अपनी प्राचीनता के कारण बूढ़ी लीला कहलाती है । यह भाद्रपद की शुक्ल नौमी से पूर्णिमा तक होती है ।

स्वरूप दासियाँ होनी चाहिए या आर्य। यह दोनों ही मत स्वामी हरिदास जी के भाव और रहस्य में रासलीला का प्रवर्तन मानते हैं। स्वामी हरिदास सोलहवीं शती में हुए थे। इनके ही सम्प्रदाय में इनकी जन्मतिथि सं० १५२० वि० के भाद्रपद शुक्ल की अष्टमी मानी जाती है।

तीसरा मत श्री नारायण भट्ट जी को रास का आचार्य मानता है। ये श्री चैतन्य महाप्रभु के पार्षद श्री गदाधर पण्डित के शिष्य थे। 'रास सर्वस्वकार' ने इनके विषय में जो कुछ लिखा है, उसकी पुष्टि गोस्वामी जानकीप्रसाद लिखित संस्कृत-ग्रन्थ 'नारायणाचार्य चरितामृत' से होती है। गोस्वामी जानकी प्रसाद का समय सं० १७२२ के आसपास माना जा सकता है। गोस्वामी जानकी प्रसाद के उक्त ग्रन्थ से विदित होता है कि श्रीनारायण भट्ट का जन्म दक्षिण भारत में गोदावरी नदी के तट पर मदुरा के निकट किसी गाँव में सं० १५८८ में हुआ था। ये नारद जी के अवतार थे। पाँच वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही इन्हें श्री राधाकृष्ण ने दर्शन दिए और आज्ञा दी कि तुम वृन्दावन जाकर मेरी लीलाओं का प्रकाशन करो। तदनुसार ये ब्रज में आए, और वहाँ बरसाने के पास ऊँचगाँव में निवास किया, तदनन्तर श्री कृष्णदास ब्रह्मचारी से दीक्षा लेकर इन्होंने ब्रज के सब ग्रामों और लीला-स्थानों का उद्घाटन और उद्धार किया। उक्त ग्रंथ के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि भगवान ने जिस स्थान पर जो लीला की थी श्री नारायण भट्टजी ने उस स्थान पर उसी लीला के अनुरूप की परंपरा चलाने का उपक्रम किया, और झाँकी-रचना आदि की परिपाटी का भी प्रवर्तन किया।

'अथ नारायणाचार्यः श्रीकृष्णाज्ञाप्रणोदितः,
भाद्रके सुन्दरे मासे कृष्णपक्षे विधाय च।
राधावेशं तथा चक्रे गोपीवेशान्वयापरान्,
रासलीलां स मथुरे कारयामास दीक्षितः।
रंगदेवी महापीठा दीक्षिता वर्तते यतः,
रासोत्सवे च गोपीनां समीपं दीक्षितोपमौ।
कृष्णवेषं गोपवेषेण गायमानं धारयन् हरिः,
तथा लीलां च कृष्णस्य कालीयदमनादिकाम्।
मानलीलारचनं चापि राधा गोपीभिरेव च,
अन्या बहुविधा लीला या या कृष्णश्चकार ह।

घमंडदेवजी ने करहला के उदयकरण और खेमकरण को शिष्य बनाकर ब्रज में किया। जब श्री नारायण भट्ट ब्रज में आए, तब वहाँ इसी रूप में रासानुकरण का प्रचार था। परन्तु मधुररसाश्रित इस विशुद्ध आध्यात्मिक लीला के अधिकारियों के अभाव के कारण इसमें लौकिकता का प्रवेश होते देखकर उन्होंने इसके साथ-साथ नाना लीलानुकरण का प्रचार किया।

बहुत प्रयत्न करने पर भी ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए, जिनसे उपर्युक्त दोनों मतों में से किसी एक को निर्णयात्मक स्वीकार किया जा सके। उपर्युक्त दोनों ही मत घमंडदेव नामक किन्हीं आचार्य को रासलीला का प्रवर्तक मानते हैं, और करहला-ग्राम निवासी उदयकरण तथा खेमकरण की सहायता से इस परंपरा का प्रवर्तन स्वीकार करते हैं। संभव है, निम्बार्क एवं वल्लभ दोनों ही सम्प्रदायों के घमंडदेव एक ही व्यक्ति हों और सम्प्रदायभेद से भिन्न रूपों में उनके संबंध की जनश्रुतियों का प्रचार हुआ हो। यह भी संभव है कि घमंडदेव द्वारा रासलीला के प्रचलन के संबंध की कोई पुरानी अनुश्रुति चली आ रही हो, जिसको दोनों सम्प्रदायवालों ने पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता और खींचतान के आवेश में अपने ही सम्प्रदाय को रासलीला के प्रारम्भ का श्रेय देने के लिए अपनी सुविधानुसार तोड़-मरोड़ लिया हो। यह भी सम्भावना है कि यह जनश्रुति पहले इनमें से किसी एक ही सम्प्रदाय की उपज अथवा उद्भावना रही हो और फिर बाद को दूसरे ने भी अपनी रुचि के अनुकूल इसका उपयोग किया हो। इन दोनों मतों की प्रतिद्वंद्विता बहुत पुरानी है जिसका प्रमाण वह अभियोग[1] है जो दोनों सम्प्रदायों में इस बात को लेकर चला था कि बरसाने की बूढ़ी[2] लीलाओं में कृष्ण के मुकुट की

१—सन् १९१४ में बरसाने की बूढ़ी लीला के अवसर पर वृन्दावन के निम्बार्की साधुओं से विवाद होने पर करहला के रासधारियों ने आग्रह किया कि हम निम्बार्की शृङ्गार (बायें मुकुटादि) न लेकर वल्लभी शृङ्गार (दाहिना मुकुट) करेंगे। इस पर बड़ा विवाद हुआ और दो वर्ष तक मुकदमा चलता रहा। इस विवाद के बीच खूब मारपीट हुई और पारस्परिक वैर की नौबत आई।

२—ब्रज में प्रचलित इस समय की सब से प्राचीन लीला परंपरा बरसाने की है, यह अपनी प्राचीनता के कारण बूढ़ी लीला कहलाती है। यह भाद्रपद की शुक्ल नौमी से पूर्णिमा तक होती है।

तरह दाहिना होना चाहिए या बायें। यह दोनों ही मत स्वामी हरिदास जी के मानने और तदनंतर में रासलीला का प्रवर्तन मानते हैं। स्वामी हरिदास सोलहवीं शती में हुए थे इनके ही सम्प्रदाय में इनकी जन्मतिथि सं० १५३७ वि० के भाद्रपद शुक्ल की अष्टमी मानी जाती है।

दूसरा मत श्री नारायण भट्ट जी को रास का आचार्य मानता है। ये श्री चैतन्य महाप्रभु के पार्षद श्री गदाधर पंडित के शिष्य थे। 'रास सर्वस्वकार' ने इनके विषय में जो कुछ लिखा है, उसकी पुष्टि गोस्वामी जानकीप्रसाद लिखित संस्कृत-ग्रंथ 'नारायणाचार्य चरितामृत' से होती है। गोस्वामी जानकीप्रसाद का समय सं० १७२१ के आसपास माना जा सकता है। गोस्वामी जानकीप्रसाद के उक्त ग्रन्थ से विदित होता है कि श्रीनारायण भट्ट का जन्म दक्षिण भारत में गोदावरी नदी के तट पर मधुरा के निकट किसी गाँव में सं० १५८८ में हुआ था। ये नारद जी के अवतार थे। बारह वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही इन्हें श्री राधाकृष्ण ने दर्शन दिए और आज्ञा दी कि शीघ्र वृन्दावन जाकर मेरी लीलाओं का प्रकाशन करो। तदनुसार वे ब्रज में आए, और वहाँ बरसाने के पास ऊँचगाम में निवास किया, तदनन्तर श्री कृष्णदास ब्रह्मचारी से दीक्षा लेकर उन्होंने ब्रज के सब ग्रामों और लीला-स्थानों का उद्घाटन और उद्धार किया। उक्त ग्रंथ के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भगवान ने जिस स्थान पर जो लीला की थी, श्री नारायण भट्टजी ने उस स्थान पर उसी लीला के अनुकरण की परंपरा चलाने का उपक्रम किया, और झाँकी-रचना आदि की परिपाटी का भी प्रवर्तन किया।

अथ नारायणाचार्यः श्रीकृष्णाराधनोदितः,
आश्रमे सुंदरं वास कृष्णपदा विधाय च।
राधापदौ तथा चैव गोपीधर्मोत्सवापरान्
रासलीलां च सर्वत्र कारयामास दीक्षित।
रंगदेवी महाविद्या दीक्षिते यत्र ते यतः,
रासोत्सवे च गोपीनां समीपे दीक्षितावुभौ।
गुरुविन गोपवेषेन गायमान वादयन् हरि,
तथा लीलां च कृष्णस्य कालीयदमनादिकाम्।
मानिककारवन क्वापि राधा गोपीभिरेव च,
अन्या बहुविधा लीला या या कृष्णाद्यकार ह।

सखी लीलानुकरणं कारयामास नारद
न प्रापुर्वेदता सर्वे मुनयो ये धृतव्रताः ।
तत्प्राप्तुमसुभा सर्वे लीलादर्शनजं सुखं,
यस्मिन् दिने यत्स्थले वा कृष्णो लीलां चकार ह ।
तस्मिन् दिने स्थले तस्मिन् महोत्सवकरं सम च,
कारयामास तां लीलां बालैः कृष्णादि वेषिभिः ।
ततः प्रभृति सर्वत्र वनेषु पवनेषु च
व्रजे तीर्थेषु कुञ्जेषु रासलीला प्रभूवह ।
अथ नारायणाचार्यो व्रजयात्रां चकार ह,
सर्वैश्च वैष्णवैर्विप्रैरन्यैश्चापि जनैः सह ।'[1]

यह सब करने के बाद उन्होंने करहला-निवासी ब्राह्मणों को शिष्य बनाया और वल्लभ नामक एक नर्तक की सहायता से, जो बादशाह की नौकरी छोड़कर उनका अनुगत हुआ था उन लोगों के बीच उन्होंने रासलीलानुकरण एवं रासधारी परंपरा चलाई । यद्यपि व्रज की बूढ़ी लीला के आविष्कार के विषय में १९३४ में विवाद वल्लभ संप्रदाय और निंबार्क संप्रदाय के अनुयायियों के बीच हुआ था, पर इस लीला के आद्याचार्य और प्रवर्तक श्रीनारायण भट्ट ही प्रतीत होते हैं । इसके कतिपय प्रबल प्रमाण कुसुम सरोवर (गोवर्धन) के विद्वान् संत बाबा कृष्णदास[2] जी ने प्रस्तुत किए हैं । उनका कहना है कि बरसाना, जहाँ उक्त लीला होती है, की वास्तविक भौगोलिक स्थिति को प्रकाश में लाने का श्रेय भट्ट नारायण जी को ही है । बरसाने की अधिष्ठात्री आज भी श्री लाड़िली जी हैं, जिनके प्राकट्य और जीवनव्यापी आराधना का कार्य श्री नारायण भट्ट जी ने किया । बूढ़ी लीला का सीधा सम्बन्ध श्री लाड़िली जी से है, और बूढ़ी लीला श्रीनारायण भट्ट जी के द्वारा विरचित 'प्रेमांकुर'[3]

१—देखो 'नारायणभट्टचरितामृतं तीसरा आस्वाद' ।
२—देखो 'रासलीलानुकरण और श्री श्रीनारायण भट्ट' पृ० १४
३—'ततः प्रेमांकुरं नाम नाटकं कृतवान् मुनिः ।
अन्ये च बहवो ग्रंथा नारायणविनिर्मिताः ॥
यत्र कृष्णस्य जन्मादिलीला सर्वाः प्रकीर्तिताः ।
रासलीला च कृष्णस्य गोपीभिः च परस्परम् ॥
नारायण भट्ट चरितामृत पृ० ४९

नाटक के आधार पर अद्यावधि अभिनीत होती है। इतना ही नहीं, नारायण भट्ट जी ने अपने ग्रंथ 'ब्रजोत्सव चन्द्रिका' में बूढ़ी लीला के प्रत्येक विधान का सविस्तार निर्देश किया है। किस तिथि को किस स्थान पर कौन सी लीला की जाय इसका संपूर्ण विचार उन्होंने किया है और बूढ़ी लीला का कार्यक्रम अनेक ग्रामों में आज भी इसका अनुगत है। 'बूढ़ी लीला' के अंतर्गत आजकल सबसे महत्वपूर्ण लीला 'मटकी फोड़नी लीला' है, जो भाद्रशुक्ल तेरस को होती है। इसके विधि विधान का पूरा निर्देश भी नारायण भट्ट जी के उक्त ग्रंथ में मिलता है—

'ततः भाद्रशुक्ल त्रयोदश्यां प्रातः समये सांकरी खोरिमायाती हरि पर्वतो परिस्थितो लीला कथयन्ती। तनन्तरं सांकरीखोरयां राधा गोपीभिः सार्द्ध दधिभाजन मस्तकोपरिनिधाय विपुलानामवतारार्थमागतस्तयाता। ततः श्रीकृष्णः बलदेवनेगसा दानं ययाचे। मध्याह्न पर्यंत लीलाकृत्वास्तस्पश्चाद्धिमागट मंजूषा दधि भक्ष्य।' (ब्र च प्रथम प्रकाश) बरसाना-चिकसौली के जमींदार श्रीनारायण भट्टजी की शिष्य-प्रशिष्य परंपरा में हैं। अतएव, यदि बरसाने की बूढ़ी लीला रासलीला मानी जायगी तो श्रीनारायण भट्ट को ही उसके आदि प्रवर्तक सिद्ध होने की अधिक संभावना है। ब्रज के सब पुराने रासधारी आज भी रासलीला के उपोद्घात में मंगलाचरण करते हुए श्रीनारायण भट्ट का स्मरण करते हैं—

> भट्ट नरायन अति सरस ब्रज मंडल सों हेत।
> ठौर ठौर रचना करी निकट जानि संकेत॥

साहित्यिक नाटकों के उपसंहार में भरत-वाक्य जोड़ कर भरत के प्रायानार्यत्व की अभ्यर्थना की जाती है। संभव है, उसी परंपरा का पालन करते हुए वर्तिष्ठ रासधारी मंगलाचरण में रासलीला के आद्याचार्य की वंदना करके गुरु और श्रुति के ऋण से उऋण होने का उपक्रम करते हों।

'भक्तमाल' के प्रसिद्ध टीकाकार श्री प्रियादास जी के विवरण से भी गोस्वामी जानकी प्रसाद के उल्लेखों की पुष्टि होती है—

> भट्ट श्रीनारायणजू भये ब्रज परायण,
> जाय जाहि ग्राम तहाँ ब्रत करि ध्याय हैं।

कोटि कै घुमावैं ह्याँ अद्भुत स्वरूप है यह
लीलाकुंड धाम श्याम प्रकट दिखाये हैं।
ठौर ठौर रास के विलास लै प्रकट किये,
जिन्हें सों रसिक जन कोटि सुख पाय हैं।
मथुरा ते कही चलो वेनी पूछे वेनी कहाँ
ऊँचे गाँव आये कोटि लोग को सखाये हैं।

इनके अतिरिक्त 'लघुनारायणभट्टचरितामृत' ग्रंथ में भी जो संभवतः इन सबसे पुराना है, श्री नारायण भट्ट जी के रासलीलानुकरण के आचार्यत्व का उल्लेख मिलता है।[1]

'भक्तमाल' के दूसरे टीकाकार महाराज प्रताप सिंह ने भी अपने 'भक्त कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि नारायण भट्ट जी ने "जहाँ जो चरित्र और विलास भगवत् किये थे उन चरित्र किये, मानो श्रीकृष्ण अवतार को नवीन कर दिया और अब तक वह रासलीला की परंपरा वर्तमान है।" एफ० एस० ग्राउस ने भी 'मथुरा डिस्ट्रिक्ट मेमायर' नामक ग्रंथ में लिखा है कि रूप और सनातन गोस्वामी की शिष्य-परंपरा में नारायण भट्ट जी ने ही पहले पहल वनयात्रा और रासलीला की परंपरा प्रतिष्ठित की।[2] इन उल्लेखों से रासलीला के उद्भव और विकास की परंपरा में श्रीनारायण भट्ट का ऐतिहासिक महत्त्व सिद्ध है। नारायण भट्ट जी उच्चकोटि के शास्त्रविद् विद्वान् थे। उन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रंथों की रचना की है। विश्वनाथ चक्रवर्ती जैसे परवर्ती प्रकाण्ड पंडित ने भी उनकी कृतियों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार जब हम तीनों मतों का सम्यक् समीक्षण करते हैं तो कई निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि ईसा की सोलहवीं शती में रासलीला की

---

१ प्रथमा भगवान्नाद्य मथुरा कुरु पुत्रक।
राधाकृष्णविहाराणि स्थला कार्याणि निश्चितम्॥
इत्युक्त्वा मधुरं हरिणा कृष्ण पुत्राश्रितम्।
कृष्णलीलाविहारादि कारयामास वै मुनि॥

2. ....It was their disciple, Narayan Bhatt who first established the Banjatra and Raslila.

वर्तमान अभिनयात्मक परंपरा का आविर्भाव हुआ। भक्तों ने इसको अपनी उपासना का साधन बनाया था। दूसरी बात यह कि इस परंपरा के विकास में स्वामी हरिदास और श्रीनारायण भट्ट का महत्त्वपूर्ण योग था। तीसरी बात यह कि ये तीनों ही मत करहला नामक ग्राम के ब्राह्मणों के सहयोग से रासधारी-परंपरा का आरम्भ मानते हैं—कदाचित् सभी उदयकरन और खेमकरन को आदि रासधारी मानने के पक्ष में हैं। अतएव अब विवाद का विषय केवल रह जाता है कि रास-परंपरा का आद्याचार्य किसे स्वीकार किया जाय।

निम्बार्क और वल्लभ दोनों ही संप्रदायों में घमंड देव को रासलीला का प्रवर्तक माना जाता है। ये दोनों भिन्न व्यक्ति थे, अथवा एक ही व्यक्ति को दोनों सम्प्रदायों ने अपने अपने वैशिष्ट्य के रंगों में रंगा है, यह बात स्पष्ट नहीं। घमण्डदेव के सम्बन्ध में उक्त संप्रदायों के जो उल्लेख मिलते हैं उनका कोई ऐतिहासिक आधार अथवा प्रामाणिक अनुमोदन प्राप्त नहीं होता। नाभादास के 'भक्तमाल' में उस काल के सभी महत्त्वपूर्ण भक्तों या संतों की प्रमुख विशेषताओं एवं कृतित्व का उल्लेख संक्षेप में संकेतित हुआ है। उसमें वल्लभनन्दन[1] को रास में रस बरसाने वाला अवश्य कहा गया है पर घमंडी जी के विषय में इतना ही कहा गया है—

वृन्दावन की माधुरी इन मिल आस्वादन कियो।
घमंडी जुगल किशोर भृत्य भूगभ बीथ दृढ़ व्रत लियो।

डॉ विजयेन्द्र स्नातक ने भी यह स्वीकार किया है कि 'नाभाजी के इस छप्पय में घमंडी' का केवल नाम है रास-विषयक कोई उल्लेख नहीं। यह भी प्रमाणित नहीं कि भक्तमाल के घमंडी और 'रासप्रवर्तक' अथवा निम्बार्क सम्प्रदाय द्वारा सामने लाए गए घमंडदेव अथवा घमंडी स्वामी एक ही व्यक्ति हैं। ये इन दोनों से ही भिन्न कोई तीसरे व्यक्ति भी हो सकते हैं। यदि ये एक ही हों, तो भी 'भक्तमाल के घमंडी' के साथ रास का कोई प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्बन्ध निर्दिष्ट या संकेतित नहीं हुआ है। 'भक्तमाल' के उल्लेख यद्यपि अत्यन्त संक्षिप्त हैं फिर भी उनमें नाभादास जी ने प्रत्येक भक्त के जीवन की मुख्य उपलब्धि का संकेत अवश्य कर दिया है। प्रियादास जी अथवा 'भक्त कल्पद्रुम' के रचयिता

१—नृत्य गान गुन निपुन रास में रस बरसावन।
भव टीका अभिलाषि वलित दम्पति-हित रिझावन।

महाराज प्रताप सिंह ने भी इनका नाम कहीं नहीं लिया है। ध्रुवदास जी ने घमंडी नाम के एक संत का उल्लेख अवश्य किया है पर रासलीलानुकरण के साथ उनका भी किसी प्रकार का सम्बन्ध कहीं उल्लिखित नहीं हुआ है। इसलिए ध्रुवदास जी के 'घमण्डी' ही वल्लभ संप्रदाय अथवा निम्बार्क सम्प्रदाय के घमण्डदेव हैं, यह अनुमान करने का कोई आधार नहीं मिलता। राससर्वस्व ग्रंथ में घमण्डदेव का उल्लेख अवश्य मिलता है पर जहाँ तक पुराण विवरण का सम्बन्ध है यह ग्रंथ तब तक जनश्रुतियों के संकलन से अधिक मूल्यवान नहीं समझा जा सकता जब तक इसमें प्राप्त विवरणों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो जाती।

स्वामी हरिदास और श्री नारायण भट्ट में रासलीलानुकरण का आद्याचार्य किसे माना जा सकता है? दोनों ही महात्मा ऐतिहासिक महापुरुष हैं। स्वामी हरिदास संगीत के परमाचार्य थे वे तानसेन तक के गुरु माने जाते हैं। रासलीला में उनकी विशेष रुचि होना स्वाभाविक ही समझा जा सकता है। ब्रज में एक जनश्रुति यह भी है कि स्वामी हरिदास जी ब्रज के बालकों को इकट्ठा कर उन्हें मोरपंख से सजा कर तथा गेरू आदि से रंग कर उनकी कृष्ण भाव से उपासना किया करते थे। आगे चलकर इसी का विकास रासाभिनय के रूप में हुआ। स्वामी हरिदास नारायण भट्ट से अवस्था में बड़े भी थे। स्वामी श्री हरिदास जी का जन्म वृन्दावन के अति निकट स्थित राजपुर ग्राम में सं० १५३७ में भाद्र शुक्ल अष्टमी को हुआ था। श्री नारायण भट्ट का जन्म वैशाख शुक्ल १४ (नृसिंह चतुर्दशी) को सं० १५८८ में दक्षिण भारत में मदुरा ग्राम में हुआ था और वे सं० १६०२ या सं० १६०३ में ब्रज आए थे।[२]

१—घमण्डी रस में झूमि रह्यो वृन्दावन निज धाम।
वंशीवट तट रास किय गावै स्यामा स्याम।
—ध्रुवदास कृत भक्तनामावली टीका

२—अवतर्णा पारितो मद्रस्तथा प्राक्तचार्णिकम्॥
गच्छ शीघ्रं व्रजे रासलीलास्थानं प्रकाशय॥
एवं कृष्णं रोषमानो दीक्षितः स दिने दिने।
वर्षद्वयेन सार्द्धेन गतो गोवर्धनं गिरिम्॥
(श्री श्री नारायण भट्ट चरितामृतम् पृ० ११-१७)

इससे सिद्ध है कि जिस समय वे व्रज में आए, उस समय स्वामी हरिदास ६५-६६ वर्ष के वृद्ध हो चुके थे। ऐसी स्थिति में यदि स्वामी हरिदास रास-लीलानुकरण अथवा लीलाभिनय के प्रचार की ओर उन्मुख हुए हों, तो उन्हें ही लीलानुकरण का आद्याचार्य मानना होगा। पर ऐसा मान लेने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह है कि स्वामी हरिदास जी भाव-सेवा-परायण भक्त थे। लगभग चार वर्ष पूर्व मैं स्वामी हरिदास जी के टट्टी संप्रदाय के आचार्य से मिला था। उन्होंने मुझे यह बताया था कि रासलीला के प्रसंग में स्वामी हरिदास जी ने केवल भाव की ही बात कही है, अनुकरण की नहीं। वे कुंजबिहारी (श्यामा-श्याम) के नित्य विहार के उपासक थे, जिसे इस संप्रदाय के अनुयायी परम गोपनीय तत्त्व मानते हैं। यदि इस साम्प्रदायिक विचार को प्रामाणिक माना जाय, (उसे अप्रामाणिक न मानने का कोई कारण नहीं) तो हरिदास जी को स्वयम् रासलीलानुकरण की अभिनय-परंपरा का प्रवर्तक बनाने का यह आग्रह उचित नहीं प्रतीत होता। एक विद्वान्[1] ने हरिराम व्यास के एक पद[2] के आधार पर स्वामी हरिदास और राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक हित हरिवंश जी को एक साथ रास में गान करते हुए मान लिया है, और इसी पद के आधार से उन्होंने स्वामी हरिदास को सं० १६०६ के पूर्व के रास में उपस्थित मान कर उन्हें ही रासलीलानुकरण का प्रवर्तक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर उक्त विद्वान् द्वारा उल्लिखित पद और उनकी तर्क-पद्धति इस तथ्य को सिद्ध नहीं कर पाती। कारण, इस पद से यह बात सिद्ध नहीं हो पाती कि इसमें निर्दिष्ट महोत्सव में रासलीलानुकरण अथवा कृष्णलीलाओं का अभिनय भी हुआ था। यह पद अधिक से अधिक इतना ही बताता है कि उस महोत्सव में हरिदास और हरिवंश जैसे महान् भक्तों ने भाग लिया था, और उन लोगों ने भगवान् की लीलाओं की भावना में स्थित होकर गायन-वादन किया था। किसी प्रकार का अभिनय भी इस महोत्सव का अंग था, इस प्रकार का कोई संकेत कम से कम इस पद में नहीं मिलता। नाभादास जी ने भी हरिदास जी की जो प्रशस्ति लिखी है, उसमें उन्हें 'गानकला गन्धर्व'

१—देखिये श्री शरण बिहारी गोस्वामी लिखित 'स्वामी हरिदास और रासलीलानुकरण', 'त्रिपथगा'—अक्टूबर, १९५७.

२—'हरिवंशी हरिदासी गावहिं, सुघर प्रवीन रसाल बजावहिं।'

महाराज प्रताप सिंह ने भी इनका नाम कहीं नहीं लिया है। ध्रुवदास जी ने घमंडी नाम के एक संत का उल्लेख अवश्य किया है, पर रासलीलानुकरण के साथ उनका भी किसी प्रकार का सम्बन्ध कहीं संकेतित नहीं हुआ है। इसलिए ध्रुवदास जी के 'घमण्डी' ही वल्लभ संप्रदाय अथवा निम्बार्क संप्रदाय के घमण्डदेव हैं यह अनुमान करने का कोई आधार नहीं मिलता। 'रासवर्णन' ग्रंथ में घमण्डदेव का उल्लेख अवश्य मिलता है, पर जहाँ तक पुराने विवरण का सम्बन्ध है, यह ग्रंथ तब तक जनश्रुतियों के संकलन से अधिक मूल्यवान नहीं समझा जा सकता जब तक इसमें प्राप्त विवरणों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो जाती।

स्वामी हरिदास और श्री नारायण भट्ट में रासलीलानुकरण का आद्याचार्य किसे माना जा सकता है? दोनों ही महात्मा ऐतिहासिक महापुरुष हैं। स्वामी हरिदास संगीत के परमाचार्य थे। वे तानसेन तक के गुरु माने जाते हैं। रासलीला में उनकी विशेष रुचि होना स्वाभाविक ही समझा जा सकता है। ब्रज में एक जनश्रुति यह भी है कि स्वामी हरिदास जी ब्रज के बालकों को इकट्ठा कर उन्हें मोरपंख से सजा कर तथा गेरू आदि से रंग कर उनकी कृष्ण भाव से उपासना किया करते थे। आगे चलकर इसी का विकास लीलाभिनय के रूप में हुआ। स्वामी हरिदास नारायण भट्ट से अवस्था में बड़े भी थे। स्वामी श्री हरिदास जी का जन्म वृन्दावन के अति निकट स्थित राजपुर ग्राम में सं० १५३७ में भाद्र शुक्ल अष्टमी को हुआ था। श्री नारायण भट्ट का जन्म वैशाख शुक्ल १४ (नृसिंह चतुर्दशी) को सं० १५८८ में दक्षिण भारत में मदुरा ग्राम में हुआ था, और वे सं० १६०२ या सं० १६०१ में ब्रज आए थे।[२]

१—घमण्डी रस में घुमड़ि रह्यो वृन्दावन निज धाम।
वंशीवट तट वास किय गावै श्यामा श्याम।
—ध्रुवदास कृत भक्तनामावली लीला

२—अवतीर्णो मथुरायां महत्तया द्वादशवार्षिकम् ॥
. . .
गत्वा धीमान् व्रजे रासलीलारम्भं प्रकल्पयन् ॥
. . .
एवं कृष्णं सेवमानो दीक्षितः स दिने दिने।
वर्षेष्वथ सार्द्धेन प्राप्तो गोवर्धनं गिरिम् ॥
(श्री श्री नारायण भट्ट चरितामृतम् पृ० ११-१७)

इससे सिद्ध है कि जिस समय वे ब्रज में आए, उस समय स्वामी हरिदास ६५-६६ वर्ष के वृद्ध हो चुके थे। ऐसी स्थिति में यदि स्वामी हरिदास रास-लीलानुकरण अथवा लीलाभिनय के प्रचार की ओर उन्मुख हुए हों, तो उन्हें ही लीलानुकरण का आद्याचार्य मानना होगा। पर ऐसा मान लेने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह है कि स्वामी हरिदास जी भाव-सेवा-परायण भक्त थे। लगभग बाईस वर्ष पूर्व मैं स्वामी हरिदास जी के टट्टी सम्प्रदाय के आचार्य से मिला था।[1] उन्होंने मुझे यह बताया था कि रासलीला के प्रसंग में स्वामी हरिदास जी ने केवल भाव की ही बात कही है, अनुकरण की नहीं। वे कुंजबिहारी (नित्य-विहारी) के नित्य विहार के उपासक थे, जिसे इस संप्रदाय के अनुयायी परम गोपनीय तत्त्व मानते हैं। यदि इस साम्प्रदायिक निष्ठा को प्रामाणिक माना जाय, (उसे प्रामाणिक न मानने का कोई कारण नहीं) तो हरिदास जी को भगवान् रासलीलानुकरण की अभिनय-परंपरा का प्रवर्तक बनाने का यह आग्रह उचित नहीं प्रतीत होता। एक विद्वान् ने हरिराम व्यास के एक पद[2] के आधार पर स्वामी हरिदास और राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक हित हरिवंश जी को एक साथ रास में गान करते हुए मान लिया है, और इसी पद के साक्ष्य से उन्होंने स्वामी हरिदास को सं० १६०६ के पूर्व के रास में उपस्थित मान कर उन्हें ही रासलीलानुकरण का प्रवर्तक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर उक्त विद्वान् द्वारा उल्लिखित पद और उनकी तर्क पद्धति इस तथ्य को सिद्ध नहीं कर पाती। कारण इस पद से यह बात सिद्ध नहीं हो पाती कि इसमें निर्दिष्ट महोत्सव में रासलीलानुकरण अथवा कृष्णलीलाओं का अभिनय भी हुआ था। यह पद अधिक से अधिक इतना ही बताता है कि उस महोत्सव में हरिदास और हरिवंश जैसे महान् भक्तों ने भाग लिया था, और उन दोनों ने भगवान् की लीलाओं की भावना में स्थित होकर गायन-वादन किया था। किसी प्रकार का अभिनय भी इस महोत्सव का अंग था, इस प्रकार का कोई संकेत कम से कम इस पद में नहीं मिलता। नाभादास जी ने भी हरिदास जी की जो प्रशस्ति लिखी है, उसमें उन्हें 'गानकला गन्धर्व'

१—देखिये श्री शरण बिहारी गोस्वामी लिखित 'स्वामी हरिदास और रासलीलानुकरण', 'बिरजा'—अगस्त, १९५५.

२—'हरिवंशी हरिदासी गावत, सुघर प्रवीन रवाव बजावत ।'

अपरस कहा है, पर ' लीलानुकरण ' के साथ उनके प्रसंग या प्रत्यक्ष संबंध का निर्देश नहीं किया है—

जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंजबिहारी।
अवलोकत रहैं केलि सखी सुख के अधिकारी॥
गानकला गंधर्व स्याम-स्यामा कों तोषैं।
उत्तम भोग लगाय मोर मर्कट तिमि पोषैं॥
नृपति द्वार ठाड़े रहैं दर्शन आशा जास की।
आसधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की॥

इस छप्पय में महात्मा हरिदास जी को ' केलि सखी सुख के अधिकारी ' भी कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे प्रिया-प्रियतम के नित्य-निकुंज के शुद्ध नित्य विहार के उपासक थे, जिसमें ब्रज संबंधी ' स्वारसिकी ' लीलाओं का समावेश नहीं। हरिदास जी की सैद्धान्तिक निष्ठा के अनुसार नित्य-निकुंज का शुद्ध नित्यविहार रस-स्वरूप माना गया है और 'स्वारसिकी' लीला अर्थात् ब्रजलीला लौकिक मानी गई है। अनुकरण और अभिनय इसी ब्रजलीला का हो सकता है, हरिदास जी की नित्य निकुंज की नित्य विहार की उपासना तो निश्चय ही भावना की वस्तु है। भगवत जी ने हरिदास जी की प्रशस्ति में उन्हें 'भावनालीन' लिखा है, उससे भी इसी धारणा की पुष्टि होती है—

नमो नमो हरिदास वृन्दाविपिन-वासवर
प्राण सरबस सदा बाँके बिहारी।
स्यामा-स्याम सुगरूप माधुर्य के
रसिक रिझवार प्रेमावतारी॥
परम वैरागनिधि त्रिभुवन प्रकट सदा
भावनालीन सो प्रवीन भारी।
कामना कल्पतरु सकल संतापहर
भगवत बलि कल्याणकारी॥

इस प्रकार जब हरिदास जी की नित्य विहारकी मानसी उपासना या पद पूजा की सैद्धान्तिक दृष्टि से लीलानुकरण के प्रकार के साथ संगति नहीं बैठती,

तो फिर भी हमें उनका प्रचारक और प्रवर्तक कहते रहना हरिदास जी जैसे परम अनन्य भक्त की गौरव-वृद्धि का निमित्त नहीं माना जा सकता है। अतएव मेरा अनुमान यह है कि जिन उल्लेखों के आधार पर हरिदास जी को रासलीला का प्रवर्तक कहा गया है, वे रासलीला का अनुकरण होने का असंदिग्ध निर्देश नहीं करते। वे भक्तों के समाज के ऐसे आयोजन प्रतीत होते हैं, जिनमें रासलीला का कीर्तन और गानमात्र होता होगा। हरिराम व्यास के उल्लिखित पद में भी यही ध्वनि है, और एक अन्य पद में भी उन्होंने इस भाव को अधिक खोल कर कहा है—

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास।
श्री कुंजबिहारी सेये बिन इक छिन न करी काहू की आस।
सेवा सावधान आनिदिन गावत सुघर रसरास॥

समकालीन संत महाकवि ध्रुवदास जी ने भी यही लिखा है कि स्वामी श्री हरिदास जी नित्य विहार का गान करते थे, उनके द्वारा अनुकरण होने का संकेत उन्होंने नहीं किया है—

रसिक अनन्य हरिदास जू गायो नित्य विहार।
सेवा हू में दूरि करि विधि निषेध जंजार॥
—'भक्तनामावली'।

भक्तों के ऐसे समाज जिनमें भगवान् की लीलाओं का गायन, वादन, कीर्तन आदि होता है, अब भी ब्रज में होते हैं। मुझे बताया गया है कि स्वामी हरिदास जी के टट्टी संप्रदाय में अब भी उक्त प्रकार के समाज होते हैं, पर रासलीला का अनुकरण और अभिनय नहीं होता।

महात्मा श्री विट्ठल विपुल जी, जो स्वामी हरिदास जी के मामा के पुत्र, शिष्य और उत्तराधिकारी थे, के जीवन की एक प्रसिद्ध घटना जिसे मैंने पढ़ी और सुनी है, उससे भी मेरी उपर्युक्त धारणा और हरिदास जी के संप्रदाय की उल्लिखित सैद्धान्तिक निष्ठा की पुष्टि होती है। कहा जाता है कि ये दोनों वर्षों से यहीं बराबर एक ही स्थान पर बैठे रह कर, नित्य विहार के ध्यान में मग्न रहते थे। सं० १६३२ में स्वामी हरिदास जी की मृत्यु हो जाने के बाद किसी समय हरिराम व्यास जी उन्हें रासलीला के एक आयोजन में आग्रहपूर्वक

लिवा ले गए, पर वहाँ भी उन्होंने अपनी आँखों की पट्टी नहीं खोली। तब कुछ लोगों ने उनकी पट्टी खुलवाने के लिए रासमंडलस्थ प्रिया-स्वरूप से प्रार्थना की कि इनका हाथ पकड़ कर नेत्र खोलने की आज्ञा दीजिए। प्रिया स्वरूप ने वैसा ही किया और कहा कि 'मैं ही वो राधा हूँ, नेत्र खोल कर दर्शन करो।' उन्होंने नित्यकेलि की सहचरी के भावावेश में नेत्र तो खोल दिए, पर उपस्थित समाज को देखकर तत्काल प्राण छोड़ दिए और प्रिया-प्रियतम के नित्य विहार में प्रवेश के लिए सम्मिलित हो गए। इससे सिद्ध है कि महात्मा विट्ठल विपुल जी की दृष्टि में सम्भवतः रासलीलानुकरण का यह आयोजन उनकी नित्य विहार की मर्यादा के अनुरूप नहीं था। यही सोच कर और अपनी अनन्य निष्ठा में व्याघात पड़ता हुआ देख कर उन्होंने प्राण त्याग दिए और नित्य विहार की नित्य लीला में समा गए।

एक दूसरी संभावना भी हो सकती है, जिसकी ओर मैं पहले संकेत कर चुका हूँ। मैंने आगे यह दिखाया है कि रास की परंपरा इस देश में बहुत प्राचीन है, प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी यह कभी पूर्ण रूप से अवरुद्ध नहीं हुई। हरिदास आदि महात्माओं के आविर्भाव-काल में भी यह परंपरा चल रही थी, पर उसका रूप उस समय संभवतः संगीत-नृत्य-प्रधान ही रह गया था, अभिनय का समावेश उस में बाद को किया गया। मैंने यह भी दिखाया है कि आज रासलीला जिस रूप में होती है, उसके स्पष्ट दो भाग हो जाते हैं—एक तो नित्य रास का अनुकरण और दूसरा किसी न किसी व्रजलीला का अनुकरण। संभव है 'रास' और 'लीला' का यही संयोग ही उसके रासलीला नामकरण का कारण बन गया हो। मेरा मत है कि स्वामी हरिदास जी अधिक से अधिक नित्य 'रास' के संगीत-नृत्य-प्रधान आयोजनों में, जो परंपरा से किसी न किसी रूप में चले आ रहे थे, उपस्थित भले हो सकते हैं, उनकी व्रजलीलाओं के अनुकरण का प्रवर्तक[1] या पथ-प्रदर्शक मानना उनकी सैद्धान्तिक निष्ठा को देखते हुए उचित नहीं प्रतीत होता।

१—श्री कृष्णदास ने 'हमारी नाट्य परंपरा' नामक ग्रंथ में महाप्रभु हितहरिवंश को रासलीलानुकरण का प्रथम प्रवर्तक कहा है। उनका कहना है कि 'भक्तराज हितहरिवंश ने महात्मा घमंडीदेव तथा बाबा हरिदास को निर्देश दिया। रासलीला में दिखाई देने वाली यथातथ्य की वृत्ति का अनुरूप प्रतिपादन हुआ। गोपियों का प्रयोजन स्वयं हितहरिवंश जी ने किया।

जिस प्रकार स्वामी हरिदास जी को रासशैली की अभिनयात्मक परंपरा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, उसी प्रकार डॉ दशरथ ओझा[1] और डॉ विजयेन्द्र स्नातक[2] ने हितहरिवंश जी को रास का प्रवर्तक सिद्ध किया है। पर हितहरिवंश जी को रास का प्रवर्तक मानने के संबंध में भी वही कठिनाई हमारे सामने आती है, जो हरिदास जी के संबंध में है। कुछ वर्ष पूर्व राधावल्लभी संप्रदाय और रासलीलानुकरण के प्रचलन के संबंध-सूत्रों की खोज करता हुआ मैं इस संप्रदाय के कुछ अधिकारी आचार्यों और विद्वानों से मिला था। उन लोगों ने मुझे बताया कि राधावल्लभी संप्रदाय में अनुकरण निषिद्ध है। इसमें वस्तु का अपमान माना गया है। इसीलिए राधावल्लभ जी के मंदिर में कभी रासलीला नहीं होती। इस विषय में इस संप्रदाय के सिद्धान्त का सार है— लोक बानगी नाहिं सदा विलसत है रस रस।' इस संप्रदाय में गुसाईं जी जैसे श्रेष्ठ भक्तों और कवियों ने जो लीलायें लिखी हैं, वे भावना के लिए हैं, अनुकरण के लिए नहीं। डॉ विजयेन्द्र स्नातक ने भी यह स्वीकार किया है कि "श्री गोस्वामी हितहरिवंश ने भी अपनी कृति 'हित चौरासी' में भावनात्मक लीला का ही वर्णन किया है।"[3] विद्वद्वर बलदेव उपाध्याय जी ने भी 'भागवत सम्प्रदाय' नामक ग्रंथ में लिखा है कि 'हरिवंशी सम्प्रदाय वस्तुतः रस सम्प्रदाय है जिसमें प्रेमामृतमूर्ति श्री राधा तथा लाल जी के नित्य मिलन के अवसर पर साधक तन्मयभाव से उनकी सुखद सेवा में लगा रहता है। इस सेवाभाव को ही वह अपने जीवन का परम लक्ष्य मानता है।'[4] किन्तु स्नातक जी ने अभिमत व्यास वाणी के तथा चाचा वृन्दावनदास[5], गोस्वामी दामोदरवर जी[6] उत्तमदास[7], जयकृष्ण[8], भगवत मुदित[9] गोविन्द

१—हिंदी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ९०–९१।
२—राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य पृ० १८९.
३—वही। पृ० १७१
४—भागवत सम्प्रदाय पृ० ४४१
५—राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य पृ० १८१
६—वही, पृ० २८४,
७— ,, , २८१
८— ,, ,, २८४
९— ,, , २४४–२८८

भक्तों' आदि के जो उल्लेख और उद्धरण दिए हैं उनमें दामोदरवर गोस्वामी के कथन को छोड़ कर कोई ऐसा नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि उनमें निर्दिष्ट रास भावनापरक न होकर अनुकरणात्मक है। कम से कम 'स्नातक जी' के इन उल्लेख अनुकरणात्मक रास की अपेक्षा भावनापरक रास पर ही अधिक घटित होते हैं। डॉ॰ स्नातक ने इसी प्रबंध में यह भी लिखा है कि "श्री भगवत मुदित और श्री उत्तमदास जी ने अपने रसिकमाल में श्री हरिवंश चरित लिखते हुए उन्हें 'रासकेलिरस रसिकन दीनो' कहकर स्मरण किया है।" किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में 'रासकेलिरस रसिकन दीनो' का यह अर्थ कर लेना कि रासकेलि का हरिवंश जी ने रसिकों को रासलीला के अभिनय के आयोजन द्वारा दिया ठीक नहीं माना जा सकता। रसिकों को रासकेलि का रस देने के अन्य प्रभावशाली साधन भी हरिवंश जैसे भक्तों को सुलभ थे, जैसे रास प्रबंध, रसिकमाल, समाज, संगीत, कीर्तन आदि। फिर उनके संबंध के किसी उल्लेख की व्याख्या उन्हीं की सैद्धान्तिक निष्ठा की उपेक्षा करते हुए करना उचित नहीं है। डॉ॰ स्नातक ने यह भी लिखा है कि 'नित्य विहार' की विशुद्ध भावना केवल राधावल्लभी संप्रदाय में मिलती है,[1] उनके मत से चैतन्य निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदाय में नित्य विहार की एकांत विशुद्ध भावना का अभाव है।[2] उनका यह भी मत है कि दास्य, सख्य, वात्सल्य भाव भी नित्य विहार में नहीं समाते ... अतः गौड़ीय संप्रदाय में हम शुद्ध नित्य विहार की भावना की स्थापना नहीं पाते हैं।[3] गौड़ीय संप्रदाय में शुद्ध नित्य विहार की भावना है अथवा नहीं, यह पृथक प्रश्न है। किंतु यह सिद्ध अवश्य हो जाता है कि राधावल्लभी संप्रदाय के जिस नित्य विहार में दास्य सख्य, वात्सल्य नहीं समाते, वह अनुकरण और अभिनय की वस्तु कदापि नहीं हो सकता। मैं स्वीकार करता हूँ कि राधावल्लभी संप्रदाय की 'नित्य विहार' की धारणा का स्वरूप वही है जो स्नातक जी ने लिखा है। मैं यह भी मानता हूँ कि राधावल्लभी संप्रदाय की 'नित्य

१—राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य पृ॰ २८८
२—वही पृ॰ १४०
३— „ „ १४०

विहार' की सब सरसता का स्वरूप ठीक वही है जो डॉ॰ स्नातक ने बताया है। इसीलिए रासलीलानुकरण के प्रवर्तन और प्रचार के साथ भी हितहरिवंश जी का प्रत्यक्ष संबंध निरूपित करना मैं उन्हीं की भावना, आदर्श और सिद्धान्त निष्ठा के विपरीत समझता हूँ। राधावल्लभी संप्रदाय के एक अधिकारी विद्वान् श्री ललिताचरण गोस्वामी जी ने तो यहाँ तक बताया है कि जिनका संबंध नित्यसेवा से नहीं वे लोकप्रिय उत्सव भी उनके सम्प्रदाय में स्वीकृत नहीं हैं। 'राधावल्लभीय सम्प्रदाय में उत्सवों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। यहाँ वही उत्सव ग्रहण किए गये हैं, जो नित्य रास-विहार की भावना के अनुकूल पड़ते हैं। ध्रुवदासजी ने बतलाया है कि 'वही नैमित्तिक उत्सव संप्रदाय में प्रचलित हैं जो नित्य सेवा के अंग बन गये हैं और सूक्ष्म रूपसे नित्य सेवा के संग रहते हैं—

नैमित्तिक उत्सव जिते नित्य कृत्य के अंग।
स्थूल सूक्ष्म सदा रहै नित्य कृत्य के संग ॥१॥"

(ध्रुवदास)

ऐसी स्थिति में लीलानुकरण का प्रचलन, जो वाद्य, नृत्य और वातावरण के बिना चल नहीं सकता, हित हरिवंश जी के मत्थे मढ़ना उन्हीं के साथ अन्याय है। अतएव, हित हरिवंश जी का जिन रास-संबंधी महोत्सवों में उपस्थित होना बताया गया है, वे भक्त-समाज के गायन-वादन-कीर्तन समान आयोजन ही हो सकते हैं, जिनमें भावसेवापरायण भक्तजन रासपंचाध्यायी आदि का गायन करते रहे होंगे। अधिक से अधिक वे ऐसे आयोजन हो सकते हैं जिनमें रासलीला एक ऐसे सामूहिक नृत्य के रूप में संपन्न होती हो, जिसमें एक कृष्णवेशधारी अभिनेता अनेक नारी-सखियों के साथ हल्लीसक शैली का मंडल नृत्य करता हो। बताया जा चुका है कि लीलानुकरण की सम्भावना के रूप में थोड़े अभिनय के साथ इस प्रकार का रास प्रायः भी होता है।

हित हरिवंश जी की रासोपासना मानसी और आन्तरिक ही थी, इसके अनेक आभ्यन्तर साक्ष्य मिलते हैं। श्री ललिताचरण गोस्वामी जी ने लिखा है

१—श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य पृ० ४२५

कि 'श्री हितहरिवंश को मानी उनके द्वारा वर्णित 'नित्य विहार' का वाङ्मय-स्वरूप है।'[1] इस कथन में 'वर्णित नित्य विहार' शब्द ध्यान देने योग्य है, जिस का अर्थ उपासना अथवा अनुभूति-गम्य नित्य विहार का शब्दरूप ही अभिप्रेत प्रतीत होता है, अनुकृत या अभिनीत नित्य विहार नहीं। हरिवंश काल के एक प्रमुख वाणीकार श्री सेवक जी ने भी नित्य विहार के अतिरिक्त ब्रजेन्द्र नंदन की अन्य अनेक प्रकार की लीलाओं के रस को चित्त को अस्थिर बनाने वाला संकलित किया है और रस-रीति की मिलावट-रहित शुद्धता को हित हरिवंश की उपासना की विशेषता बतलाया है।' ... मैंने प्रेमस्वरूप ब्रजेन्द्रनंदन के अद्भुत वैभव का भजन करके देखा है, किन्तु वहाँ अनेक प्रकार की लीलाओं का सुख चित्त को थामने नहीं देता। ... श्री हरि की बंसी के रस भी हरिवंश का, इसीलिए, मैंने दृढ़ता से आश्रय लिया है।

...एक ही रस-रीति का आग्रह एवं उस रस-रीति की मिलावट-रहित शुद्धता श्री हिताचार्य की उपासना की विशेषताएँ मानी जाती हैं। ... अतः वंशीवादि द्वारा उद्भावित नित्य रासलीला में किसी प्रकार की मिलावट की संभावना नहीं है।'[2] प्रबोधा जी ने भी हित हरिवंश जी के द्वारा निरूपित रस-तत्त्व को समझाते हुए बताया है कि इस रस में नायक-नायिका नहीं होते स्वयं रस ही केलि का प्रयोजक होता है—

नायक तहाँ न नायिका रस करवावत केलि।[3]

उन्होंने यह भी बताया है कि नैनों के रहते हुए भी रस रूप के अभिज्ञान को देखा नहीं जा सकता—

प्रगट जगत में जगमगै वृन्दा विपिन अनूप।
नैन अछत देखत नहीं यह माया की रूप।
(वृंदावन शतक)

१—श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य पृ० ५३
२—वही पृ० ८८-८९
३—वही पृ० १०३

इन उद्धरणों से सिद्ध है कि हित हरिवंश और उनके प्रमुख अनुयायियों की दृष्टि में उनके संप्रदाय का गूढ़ नित्य-विहार-रस अभिनय और अनुकरण की वस्तु के रूप में मान्य नहीं था यह काव्य की रसानुभूति का अथवा दृश्यकाव्य का विषय भी नहीं बनाया जा सकता था। ललिताचरण गोस्वामी ने भी स्वीकार किया है कि 'राधावल्लभीय रसिकों ने प्रारंभ से ही अपने रस के व्याख्यान के लिए काव्यशास्त्र परिपाटी का किसी अंश में भी अंगीकार नहीं किया है और उन्होंने रस को जिस दृष्टि से देखा है उसके अनुसार वे कर भी नहीं सकते थे।'[1] इस प्रकार के गूढ़ रहस्यपूर्ण कथनों से यह सिद्ध है कि इस संप्रदाय की साधना बाह्य उपादानों के बिना केवल मन के भावों द्वारा सेवा संपन्न करने का निर्देश करती है। साधक को सखीजनों के भाव से भावना में स्थिर रहकर भावना-भक्ति को समृद्ध बनाने का उपदेश ही इस संप्रदाय में दिया गया है—

इत्थं भावनास्थैर्ये स्वस्मिंस्त्वास्मभिलक्षिता।
समृद्धा भावना यस्मी न वैध्या भवति ध्रुवम् ॥
(भ० सि० ७)

इस भाव-सेवा द्वारा दर्शित नित्यविहार परम रहस्यमय है अनुकरण का विषय नहीं—

मेघ महल परदा कुँहीं राजत कुंज निकुंज।
बैठे नेह की सेज पर करत केलि सुख पुंज॥
(आनंद लता ११)[2]

खेलत रहस्य-निकुंज में अतिहि रहसि नित केलि।
लपटी प्रेम तमाल सौं मनौ रूप की बेलि॥
(रहस्य लता)

राधावल्लभ संप्रदाय की रासलीला-संबंधी इतनी दृढ़ मान्यताओं की अवहेलना कर यह कथन समीचीन नहीं माना जा सकता कि राधावल्लभ संप्रदाय में नित्यरास

१ श्री हित हरिवंश गोस्वामी संप्रदाय। और साहित्य-पृष्ठ ४०५

२ वही

कि 'श्री हितहरिवंश की वाणी उनके द्वारा वर्णित 'नित्य विहार' का वाङ्मय-स्वरूप है।'[१] इस कथन में 'वर्णित नित्य विहार' शब्द ध्यान देने योग्य है, जिस का अर्थ भावना अथवा अनुभूति-जन्य नित्य विहार का स्वरूप ही अभिप्रेत प्रतीत होता है, अनुकृत या अभिनीत नित्य विहार नहीं। हरिवंश काल के एक प्रमुख, वाणीकार श्री सेवक जी ने भी नित्य विहार के अतिरिक्त व्रजेन्द्र नन्दन की अन्य अनेक प्रकार की लीलाओं के पक्ष को चित्त को अस्थिर बनाने वाला संकेतित किया है और रस-रीति की मिलावट-रहित शुद्धता को हित हरिवंश की उपासना की विशेषता बतलाया है। ' ... मैंने प्रेमस्वरूप व्रजेन्द्रनंदन के महामधुर-वैभव का मथन करके देखा है, किन्तु वहाँ अनेक प्रकार की लीलाओं का पक्ष चित्त को थमने नहीं देता। ... श्री हरि की वंशी के रूप श्री हरिवंश का, इसीलिए, मैंने दृढ़ता से आश्रय लिया है। एक ही रस-रीति का आग्रह एवं उस रस-रीति की मिलावट-रहित शुद्धता श्री 'हिताचार्य' की उपासना की विशेषताएँ मानी जाती हैं। ... अतः पंचोनाद द्वारा उद्भावित मिश्र रास-क्रीड़ा में किसी प्रकार की मिलावट की संभावना नहीं है।'[२] ध्रुवदास जी ने भी हित हरिवंश जी के द्वारा निरूपित रस-तत्त्व को समझाते हुए, बताया है कि इस रस में नायक-नायिका नहीं होते स्वयं रस ही केलि का प्रयोजक होता है—

'नायक तहाँ न नायिका रस करवावत केलि।'[३]

उन्होंने यह भी बताया है कि नेत्रों के रहते हुए भी इस रस के अभिधान को देखा नहीं जा सकता—

प्रगट जगत में जगमगे वृन्दा विपिन अनूप।
नैन अछत देखत नहीं यह माया को रूप।
(वृन्दावन शतक)

१—श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य पृ० ७१.

२—वही पृ०

३—वही पृ० १ ३

इन उद्धरणों से सिद्ध है कि हित हरिवंश और उनके प्रमुख अनुयायियों की दृष्टि में उनके संप्रदाय का गूढ़ नित्य-विहार-तत्त्व अभिनय और अनुकरण की वस्तु के रूप में ग्राह्य नहीं था। वह काव्य की रमणीयता का अथवा रासलीला का विषय भी नहीं बनाया जा सकता था। ललिताचरण गोस्वामी ने भी स्वीकार किया है कि 'राधावल्लभीय रसिकों ने प्रारंभ से ही अपने रस के व्याख्यान के लिए काव्यगत परिपाटी का किसी अंश में भी अंगीकार नहीं किया है, और उन्होंने रस को जिस दृष्टि से देखा है उसके अनुसार वे कर भी नहीं सकते थे।'[1] इस प्रकार के गूढ़ रहस्यपूर्ण कथनों से यह सिद्ध है कि इस संप्रदाय की साधना बाह्य उपादानों के बिना केवल मन के भावों द्वारा सेवा संपन्न करने का निर्देश करती है। साधक का सखीजनों के भाव से भावना में स्थिर रहकर भावना-बारी को समृद्ध बनाने का उद्देश्य ही इस संप्रदाय में दिया गया है—

इत्थं भावनास्थैर्यं स्वस्मिन्स्वात्माभिलाषिता।
समृद्धा भावना यस्मीं न संध्या भवति ध्रुवम्॥
(स० सि० ७)

इस भाव-रस द्वारा 'दर्शित नित्यविहार' परम रहस्यमय है, अनुकरण का विषय नहीं—

प्रेम महल परदा पुँही राजत कुंज निकुंज।
बैठे नेह की सेज पर करत केलि सुख पुंज॥
(आनंद लता १२)[2]

खेलत रहस्य-निकुंज में अतिहि रहसि नित केलि।
लपटी प्रेम तमाल सों मनौ रूप की वेलि॥
(रहस्य लता)

राधावल्लभ संप्रदाय की रासलीला-संबंधी इतनी स्पष्ट मान्यताओं की अवहेलना कर यह कथन समीचीन नहीं माना जा सकता कि राधावल्लभ संप्रदाय में नित्यरास

१ श्री हित हरिवंश गोस्वामी संप्रदाय। और साहित्य—पृष्ठ ४०५

२ वही

के साथ मौलिक पृष्ठभूमि पर—अनुकरण द्वारा लीला करने का विधान है।[1] अतएव गोस्वामी दामोदरवर कृत 'हस्तामलक' की हस्तलिखित प्रति के किस श्लोक[2] के आधार पर डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने राधावल्लभी-संप्रदाय में अनुकरण-लीला को विहित माना है, उसे हम उक्त साम्प्रदायिक सिद्धान्त का व्यतिरेक या अपवाद ही मान सकते हैं। गोस्वामी दामोदरवरजी का जन्म सं. १६२४ बताया गया है, उनके समय में लीलानुकरण का व्यापक प्रचार ब्रज में हो गया था अतएव उनके श्लोक का औचित्य लोकसंग्राहकता की दृष्टि से ही ठहराया जा सकता है। भक्तिप्रकाश गोस्वामी ने भी माना है कि राधावल्लभी संप्रदाय के बाबा हितवृंदावन दास जैसे परवर्ती भक्तों और कवियों ने ऐसी अनेक बातें लोकसंग्राहकता की दृष्टि से ग्रहण कर ली हैं, जो संप्रदाय में पहले से स्वीकृत या विहित नहीं थी।[3]

इसके विपरीत नारायण मठ के चैतन्य संप्रदाय में रासलीलानुकरण साधना के रूप में मान्य था। 'चैतन्य भागवत' के प्रसंग की वृंदावनदास का संदर्भ प्रस्तुत हुए पहले ही लिखा जा चुका है कि महाप्रभु चैतन्य स्वयं कृष्णलीला के अभिनय में भाग लेते थे। उनकी प्रेरणा से धार्मिक अभिनय के अनेक रूपों का प्रचार हुआ यह भी बताया जा चुका है। चैतन्य संप्रदाय के परम इती महापुरुष रूप गोस्वामी जी ने 'विदग्ध माधव' 'ललित माधव' और 'दानकेलि कौमुदी' जैसे भक्तिरसपूर्ण नाटक लिखे हैं, और नाट्यशास्त्र पर भी 'नाटक चंद्रिका' नामक श्रेष्ठ ग्रंथ लिखा है। इसी संप्रदाय के कवि कर्णपूर ने 'चैतन्य चंद्रोदय' नामक एक अत्यंत सरस नाटक लिखा है, जिसमें महाप्रभु चैतन्य और उनके परिकर अद्वैतप्रभु क्रमश: राधा और कृष्ण की भूमिकामें अवतरित होते दिखाए गए हैं। श्री नारायणभट्ट-चरितामृत' में बताया गया है कि नारायण भट्ट ने 'प्रेमांकुर' नामक नाटक लिखा

१ दे० डॉ. विजयेन्द्र स्नातक कृत 'राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य' पृ. २८१

२ 'रासलीला करें तो ब्रजवासी के बालक होंहि' "उनके शरीर में अब गुरु के शरीर में ग्लानि न करे। ज्यों स्वरूप त्यों वेष पहले पुष्प वारि पखारो उनके तन सखि वेष आगे धरें।" वही पृष्ठ २२१

३ भक्तिप्रकाश गोस्वामी कृत हि० इ० को सं० ता० प० ४९४-४९५

था जिसमें जन्मलीला दानलीला मानमोचनी लीला पारस्परिक पाणिग्रहण लीला वनविहार लीला होली लीला पुष्पचयन लीला, निकुंजरचना लीला, निकुंजभेद आदि लीलाएँ वर्णित हैं।[1] 'प्रेमांकुर' नाटक की विषयानुक्रमणिका से सिद्ध है कि चैतन्य संप्रदाय में वात्सल्य और सख्य आदि रसों की लीलाएँ भी निकुंजलीलाओं के समान ही आस्वाद्य और ग्राह्य हैं। इस संप्रदाय में लीलाओं का अनुक्रम स्तोत्र-स्वरूप माना गया है जिसका अर्थ यही हो सकता है कि वात्सल्य और सख्य रस की जन्मादि, गोष्ठ एवं वनविहार की लीलाएँ तथा मधुर रस की निकुंज लीलाएँ सभी नित्य और सेव्य हैं। उनमें भेद केवल रस-परिपाक की दृष्टि से ही किया जा सकता है जैसे मधुर रस की निकुंजलीलाओं में सबसे अधिक माना गया है, अन्य किसी प्रकार का तात्त्विक भेद कदाचित् उनमें स्वीकृत नहीं। अतएव परंपरा और सिद्धांत दोनों ही दृष्टियों से चैतन्य संप्रदाय का परिवेश लीलानुकरण के विकास के लिए अधिक अनुकूल दिखाई पड़ता है। इसलिए इस संप्रदाय के नारायण भट्ट का रासलीलानुकरण के प्रवर्तन की ओर विशेष रूप से उन्मुख होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। तदनन्तर सभी भक्तिसंप्रदायों में नाट्याभिनय को भक्ति-साधना का माध्यम बनाकर उपस्थित करने का प्रयत्न कदाचित् चैतन्य संप्रदाय ने ही पहले-पहल किया था। ऐसी स्थिति में रासलीला की संगीत-नृत्य-प्रधान परंपरा को नाना लीलानुकरण की अभिनयात्मक परंपरा में परिणत करने का श्रेय उनमें भी पहले-

---

1 तत्र प्रेमांकुरं नाम नाटकं कृतवान् मुनिः ।
अन्ये च बहवो ग्रंथा नारायणविनिर्मिताः ॥१०॥
तत्र कृष्णस्य जन्मादिर्लीला सर्वाः प्रकीर्तिताः ।
रासलीला च कृष्णस्य गोपीनां च परस्परम् ॥११॥
× × ×
गोपीनां तु कर्मैव विविधा तत्र तत्र हि ।
निकुंज रासमास्याय श्रीकृष्णगुणकीर्तनम् ॥४१॥
पुष्पेण वै धारितया श्रीराधागुणकीर्तनम् ।
इत्यादि बहुधा प्रोक्ता लीला प्रेमाख्य नाटके ॥४२॥
(श्री श्री गो० ना. भ. भट्ट विरचितं श्री श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्।
पृ ८३-८४ अध्याय ५, श्लो १०-४२।)

प्रश्न इसी संप्रदाय के महात्मा नारायण भट्ट ने किया था तो कोई आश्चर्य नहीं। जिन ऐतिहासिक और परंपरासिद्ध प्रमाणों के आधार पर नारायण भट्ट जी को रासलीला की अनुकरणात्मक परंपरा का प्रवर्तक माना जाता है उनमें से कुछ का उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ। इनके अतिरिक्त प्राचीन और नवीन अन्य भी कई महत्वपूर्ण साक्ष्य इस विषय के उपलब्ध हैं। 'प्रभु श्री नारायण भट्ट चरितामृत' ग्रंथ में जो गोस्वामी जानकी प्रसाद भट्ट लिखित चरितामृत से पहले का बताया जाता है इनके कृष्णलीलाओं के प्रवर्तक होने की बात कही गई है —

पुनरेको द्विजो प्राप्तो ब्रह्मनारायणात्मकम् ।
मेर्ने गृहीत्वा तं प्राह मार्गं देहि मम प्रभो ।
प्रसन्नं भगवानाह मधुर्कं कुरु पुत्रक ।
राधाकृष्णविहारांश्च त्वया कार्याणि निश्चितं ॥
इत्युक्त्वा मुकुटं दत्वा करहलपुर वासिनम् ।
कृष्णलीलाविहारांश्च कारयामास ये भुवि ॥
अद्यापि व्रज भूमौ ते गुरा: स्वामिपदं गता: ।
तद्वंशपास्तत्र स्थाने तु कृष्णलीला रचंति ते ॥

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ पं. कृष्णदत्त वाजपेयी जी भी नारायण भट्ट को रास का आविष्कारक मानते हैं। उनका कहना है 'श्री नारायण भट्ट का नाम बड़े महत्व का नाम है। इन्होंने न केवल रास का आविष्कार किया अपितु अनेक ग्रंथों की रचना कर ब्रज के वैभव को भारत में फैलाया प्राचीन लीलास्थलों की खोज की तथा ब्रज चौरासी कोस यात्रा का आरंभ किया'।[1]

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि नारायण भट्ट जी के नाम के साथ जहाँ कहीं रासलीला की बात आई है वहाँ उसका अर्थ लीलानुकरण ही है। पर हरिवंश जी आदि के विषय में यह कह सकना कठिन है, यह मैं पहले ही बता चुका हूँ। जो आलक ये हरिवंश जी की पुण्यतिथि पर अनुकरण द्वारा रासलीला के

१ ब्रजलोक संस्कृति पृष्ठ १४७

तुलना कीजिए डॉ. गोपीनाथ तिवारी लिखित 'ब्रजभाषा नाटक' निबंध हिंदी अनुशीलन वर्ष १२ अंक १ पृ. २९।

प्रदान का श्रेय प्रदान करने के लिए सबसे अधिक उदाहरण हरिराम व्यास जी की वाणी से लिए हैं, वे भी सब इसी कोटि के हैं। बिना लीलाराम के उनसे अनुकरणात्मक किंवा अभिनय-प्रधान रासलीला का अर्थ नहीं निकाला जा सकता। उदाहरणस्वरूप उनका यह पद उद्धृत किया गया है —

राधावल्लभ के गुन गाइ लेहु

× × ×

पावन पुलिन रासमंडल में मन दै तनहिं नचाइ लेहु।
गद्गद् स्वर कोमल पुलकित चित्त आनंद नीर बहाइ लेहु॥

इसमें 'तन का नचाना' गद्गद् स्वर 'पुलकित कोमल चित्त होकर आनंदाश्रु बहाना' आदि अनुकरणात्मक रास की अपेक्षा संगीत नृत्यमय रास के ही अधिक सूचक हैं।[1] व्यास जी ने बेतवती के तट पर ओरछा में रासोत्सव की जो योजना की थी उसके भी जो विवरण मिलते हैं, उनसे भी उसके संगीत-नृत्य प्रधान होने का ही आभास मिलता है।[2] व्यासजी का जन्म सं. १५६७ वि में हुआ था और वे सं १५९१ के लगभग प्रथम बार वृंदावन गए थे। हितहरिवंश जी का वृंदावन-गमन-काल लगभग इसी समय अर्थात् संवत् १५९० के आसपास बताया जाता है। उस समय ब्रजभूमि में हित हरिवंश जी का प्रभाव बढ़ती पर अवश्य था। पर उसके बहुत पूर्व चैतन्य महाप्रभु वृंदावन आ चुके थे, और उनके संप्रदाय के सनातन रूप आदि महान् गोस्वामियों ने वृंदावन में वास कर कृष्णभक्ति का चतुर्दिक प्रचार प्रसार कर दिया था। कहा जाता है, इनके प्रभाव से वृंदावन के लता तरु ने हरिनाम का उच्चार किया था। इतना ही नहीं वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के दूसरे प्रधान प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य का जीवनव्यापी कार्य सं १५९०–९१ के बहुत पहले पूरा हो चुका था। देश के बहुत से भागों में पर्यटन कर और बड़े बड़े विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर अंत में वे अपने आराध्य कृष्ण की जन्मभूमि में गद्दी स्थापित कर निवास करने लगे थे। सं १५७६ में गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथजी का मंदिर बन चुका था, जिस में भगवान् की ललित लीलाओं के विश्वविमोहक

---

१ डॉ॰ वि॰ स्नातक— रा॰ सं॰ सि॰ सा॰' पृ॰ २४६
२ भक्त कवि व्यास जी ले॰ वासुदेव गोस्वामी पृ॰ ११४-११५

गायक सूरदास कीर्तन सेवा में नियुक्त थे। सं. १५८८ में वल्लभाचार्य की मृत्यु हो गई थी और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी गद्दी पर आ गए थे और उन्होंने अपने संप्रदाय के आठ भक्त कवियों को चुन कर अष्टछाप की स्थापना भी कर दी थी। इससे स्पष्ट है कि इन संप्रदायों के भक्तों की साधना ने सं. १५९०–९१ के बहुत पूर्व ब्रजभूमि को पुनः कृष्णमय बना दिया था। इतना ही नहीं इन महान् भक्तों के प्रभाव से सारा ब्रज भगवान् के नाम-रूप लीला और धाम का अनन्य अनुरागी हो गया था। यदि सं. १५९० के पूर्व के हिंदी-साहित्य को ही देखा जाय तो उस में अनेक बार रासलीला-विषयक ऐसे ही उल्लेख मिलते हैं। जैसे हरिवंश जी को रासलीला का प्रवर्तक सिद्ध करने के लिए प्रयत्न किए गए हैं। मैंने भी अपना स्थान यह दिखाया है कि सूरदास जी के द्वारा लिखी हुई अनेक लीलाओं में रास की अभिनय-परंपरा का पूर्ण आनुकूल्य और अनुसरण है। यद्यपि इन्हीं सब बातों को ध्यान में रख कुछ लेखकों[1] ने वल्लभाचार्य जी को रासलीला का प्रवर्तक कहा है, और हरिदास, हितहरिवंश, घमंडदेव और नारायण भट्ट जी का इस काम में पश्चात् सहयोगी बतलाया है। वस्तुतः महाप्रभु वल्लभाचार्य और चैतन्य संप्रदाय के गोस्वामियों के कार्यों को भुलाकर हरिराम व्यास की रचनाओं से संकलित उद्धरणों अथवा इसी प्रकार के संदिग्ध अर्थ वाले अन्य उद्धरणों के आधार पर हित हरिवंश जी को उन्हीं की सैद्धांतिक निष्ठा के विपरीत अभिनयात्मक रासलीला का प्रवर्तक सिद्ध करना ठीक नहीं। इस विषय में हरिराम व्यास के साक्ष्य विश्वसनीय नहीं माने जा सकते। कारण, माध्वीय संप्रदाय से उनका परंपरागत संबंध सिद्ध है। उनके पिता सुमोखन शुक्ल ने चैतन्य महाप्रभु के गुरुभाई माधवदास नामक संन्यासी से माध्व संप्रदाय की दीक्षा प्राप्त की थी। व्यास जी ने अपने पिता को ही अपना दीक्षा गुरु बनाया था। 'व्यास वाणी' में इसके प्रमाण मिलते हैं—

जय जय श्री गुरु सुकुल बंस प्रगटित भयौ।
कह्यौ है जस नाम तिमिर जग को गयौ॥[2]

इसकी पुष्टि करनेवाले अन्य अनेक उल्लेख भी मिलते हैं। राधावल्लभी संप्रदाय के विद्वानों ने लिखा है कि व्यास जी ने इन्होंने हितहरिवंशजी से प्रभावित हो

---

१ डॉ. श्याम परमार कृत भारतीय नाट्यपरंपरा पृ. ९९

२ वासुदेव गोस्वामी कृत 'भक्त कवि व्यासजी' श्री गुरु मंगल व्यास-वाणी पृ. १५०

कर उनसे दीक्षा ले ली थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने भी संभवतः इसी को प्रमाण मान कर लिखा है कि 'पहले वे गौड़ संप्रदाय के वैष्णव थे पीछे हित हरिवंश के शिष्य होकर राधावल्लभी हो गए।'[1] डॉ विजयेन्द्र स्नातक ने भी अपने प्रबंध में इसी बात की पुष्टि करने का प्रयत्न किया है।[2] स्नातक जी ने व्यास जी के लिखे हुए संस्कृत के दो अनुपलब्ध ग्रंथों की चर्चा की है वे हैं 'नवरत्न' और 'स्वधर्मपद्धति'। अब ये ग्रंथ मिल गए हैं और प्रकाशित हो चुके हैं।[3] उनको पढ़ने से पता चलता है कि वे दोनों अलग अलग ग्रंथ न हो कर दो भिन्न पर्यायवाची अभिधानों से प्रसिद्ध एक ही कृति है। व्यास जी ने ग्रंथका नाम 'नवरत्न' इसीलिए रखा है कि उसमें माध्वमत के नव प्रमेयों का श्रुति स्मृति पुराणादि के प्रमाणों द्वारा निर्णय किया जाता है—

'हरिः परतमः सत्यं जगद्भेदस्तु तात्त्विकः,
जीवाः श्रीविष्णुदासास्तत्तारतम्यं परस्परम्।
मुक्तिर्हरिपदप्राप्तिस्तद्धेतुर्भक्तिरुत्तमा,
प्रत्यक्षादित्रयं मानं वेदवेद्यस्तु माधवः।
× × ×
यान्याख्यौ नवरत्नानि प्रमेयाण्याह सः प्रभुः,
श्रीमध्वसत्यधर्मादीन्द्रस्वानिमे संमतानि हि।'

व्यास जी के दीक्षागुरु-संबंधित विषयों पर वासुदेव गोस्वामी ने भी अपने ग्रंथ 'भक्त कवि व्यासजी' में कुछ नवीन महत्त्वपूर्ण तथ्य दिए हैं।[4] उन सब को लेकर और 'नवरत्न' की प्रामाणिकता की पूर्ण परीक्षा करने के बाद इस विषय पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। यद्यपि व्यास जी के दीक्षागुरु से संबंध रखनेवाला यह विवाद साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं किंतु जब उसके द्वारा महत्त्वपूर्ण

---

१ हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० १८९,

२. राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धांत और साहित्य पृ० २०२, २७५, २८२ आदि।

३ नवरत्न अथवा स्वधर्म पद्धति– बाबा कृष्णदास कुसुम सरोवर राधाकुंड मथुरा।

४, भक्त कवि व्यासजी पृ० ५४ ६७

साहित्यिक निष्कर्ष निकालने का उपक्रम किया जाता है। तब इन सब तथ्यों का पुनर्परीक्षण अनिवार्य हो जाता है। प्रभुदयाल मीतल जी ने ठीक ही लिखा है कि 'दीक्षागुरु का विषय इसलिए व्यर्थ है कि इससे हितजी और व्यास जी के पारस्परिक संबंधों में कोई न्यूनता नहीं आती है। व्यास जी ने अनेक पदों में हित जी के प्रति गुरु जैसी श्रद्धा प्रकट की है अतः यदि हित जी व्यास जी के दीक्षा-गुरु नहीं भी होते हैं, इससे हित जी के महत्व की न्यूनता और व्यास जी के महत्व की वृद्धि नहीं होती है।'[1] वस्तुतः व्यास जी बड़े लोकधर्मी अत्यंत उदार एवं विनम्र और सब प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णताओं के ऊपर उठे हुए महात्मा प्रतीत होते हैं। उन्होंने अकेले हितहरिवंश जी के प्रति ही नहीं अपने समय के सभी भक्त महात्मा और संतों के प्रति सद्गुण भाव से सम्मान व्यक्त किया है। इनमें मधुरभावोपासक सनातन[2] रूप[3] हरिदास[4] प्रबोधानंद[5] बिहारिनदास आदि[6] तो हैं ही पिता के गुरु माध्वीय माधवदास भी हैं जिनकी उन्होंने 'माधवदास शरण मैं आयौ' कहकर वंदना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सूरदास परमानंददास मीराबाई के विषय में भी उसी भाव से प्रेरित होकर लिखा है कि इनके बिना 'का मन तन की तपन बुझावै'। उनकी आत्मार्पणा रामानंद सुरसुरानंद राघवानंद आदि रामोपासकों को भी प्राप्त हुई है[7] और गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रति उनकी श्रद्धा का संकेत भी एक पद में मिलता है —

जिनके राम दशरथ-सुत मारयौ, माया कनक-कुरंग।
तिनके कहत 'व्यास' प्रभु सुमरयौ सत्वर पशुप-निषंग॥[8]

---

१ भक्त-कवि व्यास जी 'भूमिका' पृ० १।
२ ३ साधु-शिरोमणि रूप सनातन। — पृ० १९७
४ अनन्य नृपति स्वामी हरिदास। — वही पृ० १९१
५ प्रबोधानंद से कवि थोरे। — वही पृ० १९५
६ सांची प्रीति बिहारिनदासै — वही पृ० १९५
७ वही — पृ० १९६
८ वही — पृ० २४६

इतना ही नहीं उन्होंने नामदेव, कबीर, पीपा, त्रिलोचन, रैदास जैसे निर्गुणोपासक संतों का भी भक्त भाव, श्रद्धा-भक्ति के साथ स्मरण किया है।[1] ऐसे धर्मोदार व्यक्ति के रासलीला-संबंधी संकेत किसी एक संप्रदाय की ही परम्परापरक निष्ठा की सूचना देते हैं यह मान लेना कठिन है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डॉ. रामकुमार वर्मा जैसे विद्वानोंने व्यासजी का ब्रजागमन-काल सं. १६१२ माना है। संभव है इसके पहले भी वे ब्रज गए हों क्योंकि १५९१ वि. एवं सं. १६१२ वि. में भी उनके ब्रज जाने के उल्लेख मिलते हैं। पर प्रतीत ऐसा होता है कि सं. १६२२ वि. से वे स्थायी रूप से ब्रज में रहने लगे थे। उस समय तक नारायण भट्ट भी ब्रज पहुँच गए थे और अभिनयात्मक रासलीला का व्यापक प्रचार ब्रजभूमि में हो चला था। अतएव साम्प्रदायिक आग्रहों और अभिनिवेशों का तटस्थ भाव से अनुशीलन करने से मेरे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु जैसे महापुरुषों के ब्रजागमन के परिणाम-स्वरूप संभवतः इन्हीं लोगों की प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न प्रेरणा से, रासलीला की संगीत-नृत्य-प्रधान परंपरा हरिवंशजी आदि के पहले से ही चल पड़ी[1] थी जिसमें केवल उस महारास लीला का अनुकरण होता था जो भगवान् कृष्णने शरत्पूर्णिमा की रात्रि में गोपियों के साथ यमुना-तट पर संपन्न की थी। 'रासरसार्णव' के निर्माता रासधारी तथा कृष्णदास के उपर्युक्त उल्लेख भी इसके संगीत-नृत्य-प्रधान होने के अनुमान की पुष्टि करते हैं, क्योंकि उन्होंने भी—

महारास तब कियो प्रकास सबै संतचीना।
बन बन कुंज फिरैं सखी करि करि गुन गाना॥
ताते विविध नृत्य सिखलाई। रासविलास प्रगटता गाई॥

लिखा है। इसमें महारास लीला के अतिरिक्त अन्य लीलाओं का समावेश नहीं था। वह भावावेश भक्तों के समाज के रूप में होता था जिसमें गायन-कीर्तन और नृत्य ही प्रधान था, कथोपकथन और अभिनय गौण था। वस्तुतः भगवान् कृष्ण की महारास लीला अपने मूलरूप में भी संगीत नृत्य-प्रधान है। श्रीमद्भागवत में स्वयं शुकदेव जी ने ही इस महारास लीला का अनुकरण निषिद्ध बताया है—

---

१ भक्त कवि व्यास — पृ० १६६

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् ।
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् ।
श्रीमद्भागवत १०।३३।३१ ३२ ।

जब नारायण भट्ट जी ब्रज में आए, तब इसी परंपरा का प्रचार यहाँ था। संभव है सामाजिक दृष्टि से इसमें कुछ विकार भी आने लगा हो क्योंकि शुकदेव जी ने भी लोक हित की दृष्टि से ही इसे वर्जित ठहराया है। ठीक ही है, माधुर्य-संपर्क लीला में जब किसी का प्रवेशाधिकार नहीं तो भगवान् की परम गुह्य निकुंज लीला का ऐसा प्रकट प्रचार साधु कैसे मान्य कर सकता था? अतएव नारायण भट्ट जी ने महारास लीला के अतिरिक्त या साथ साथ भगवान की अन्य सभी प्रकार की लीलाओं के अनुकरण की परंपरा चलाई। जिस प्रकार शांडिल्य ऋषि के आदेश से अनिरुद्ध के पुत्र के पुत्र वज्रनाभ ने भगवान् कृष्ण ने जहाँ जैसी लीला की थी, उसके अनुसार उस स्थान का नाम रख कर अनेक गाँव बसाए और दिव्य ब्रजभूमि का पुनरुद्धार किया था[1] उसी प्रकार नारायण भट्ट जी ने भी ब्रजभूमि की विस्मृत भौगोलिक अवस्थिति की पुनर्प्रतिष्ठा की। शास्त्रों के आधार पर उन्होंने ब्रजभूमि के प्रत्येक स्थल की प्रत्यभिज्ञा संपादित की और जिस दिवस जिस मुहूर्त जिस स्थान या ग्राम में जो लीला भगवान् ने स्वयं की थी उसी उसी समय उसी उसी स्थान पर भट्ट जी ने उसी लीला के अनुकरण की पूर्ण अभिनयात्मक परंपरा चलाई।[2] ब्रज की परिक्रमा 'बूढ़ी लीला' 'सुखि' उनका इसी

१ वज्रस्तु तत्समारभ्य शाण्डिल्यस्याप्यनुग्रहात् ।
गोविन्दगोपगोपीनां लीलास्थानान्यनुक्रमात् ॥
विज्ञायाभिधयाऽऽस्थाप्य ग्रामानावासयद् बहून् ।
कुण्डकूपादिपूर्तेन शिवादिस्थापनेन च ॥
श्रीमद्भागवत माहात्म्य अ० १। श्लो० ४ ५ ।

२ यस्मिन् दिने यदा यत्र कृष्णो लीलां चकार ह ।
तस्मिन् दिने स्थले तस्मिन् भट्टो भास्करसंभवः ।
चकाराभास तां लीलां कृष्णादिविधिभिः ॥
गोस्वामी जानकी प्रसाद 'भट्टाचार्य' नारायण भट्ट चरितामृत'

विधान उपाय का अवशेष और स्मृति-चिह्न प्रतीत होती है। अतएव रासलीला की यह अभिनय-परंपरा जिसको रूप का विशिष्ट धर्म के लीलात्मक मध्यकाल में लिये गए, नारायण भट्ट के द्वारा ही प्रवर्तित हुई प्रतीत होती है। नारायण भट्ट जी के द्वारा प्रवर्तित इस परंपरा का पुरानी संगीत-नृत्य किंवा अन्य-अभिनय प्रधान परंपरा के साथ योग घटित हुआ। मैं बता चुका हूँ कि रासलीला की वर्तमान प्रविधि में भी दो परंपराओं का यह योग स्पष्ट दिखाई पड़ता है। भगवान् कृष्ण की मधुरसमयी ललित लीलाओं के अनुकरण के प्रचलन की इस घटना का आज भी रासधारी नारायण भट्ट का नाम लेकर स्मरण करते हैं[1]। इस विषय के प्राचीन और नवीन उल्लेखों का निर्देश पहले किया जा चुका है, जिनसे सिद्ध है कि मध्यकालीन नाट्यपरंपरा के प्रवर्तकों में भी नारायण भट्ट का स्थान अन्यतम है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मानरूप में रासलीला के प्रति गहन निष्ठा सभी कृष्णभक्ति-संप्रदायों में विद्यमान थी। इसीलिए जब उसकी अभिनयात्मक परंपरा का प्रवर्तन हुआ तो सब संप्रदायों के महात्माओं ने उत्साहपूर्वक उसमें सहयोग प्रदान किया। यही कारण है कि रासलीला के प्रचारकों और उन्नायकों में कुछ नाम सभी संप्रदायों की सूची में मिलते हैं। इस परंपरा के प्रवर्तन के आरंभ से ही उसमें उस काल के सब महान् संतों के सहयोग के प्रमाण मिलते हैं। यह तो निर्विवाद है कि लोगों में आज जैसा सांप्रदायिक दुराग्रह पाया जाता है, वह उन संतों को सर्वथा अज्ञात था। हो सकता है, इस युग की सांप्रदायिक खींचतानी ने उस काल के संतों के प्रसंगों को मान्यताप्रित कर दिया हो। इस अनुमान को कुछ जनश्रुतियों से बल भी मिलता है। एक वरिष्ठ रासधारी ने मुझे बतलाया था कि यह एक पुरानी जनश्रुति है कि हितहरिवंश घमंडदेव और नारायण भट्ट मित्र थे और उन दोनों के सहयोग से ही लीलानुकरण का प्रारंभ और विकास हुआ था। शोध की वर्तमान स्थिति में इससे आगे कुछ कह सकना कठिन है।

सब मत और जनश्रुतियाँ घमंडदेव से ही रासधारी-परंपरा का प्रवर्तित होना मानती हैं। यह ठीक भी मालूम होता है, क्योंकि आज भी सारे ब्रजमंडल में घमंडदेव के रासधारियों की प्राचीनता और श्रेष्ठता निर्विवाद रूप से मान्य है। इसके साथ ही यह स्वीकार कर लेने में अभी कोई विशेष बाधा नहीं होती है कि यह रासधारी-परंपरा उदयकरण और खेमकरण से चली क्योंकि कोई मत इसका

१ देखिए पृ० ८५

विरोध नहीं करता। ब्रजम मे भी जिन स्वरूपों का श्री नारायण भट्ट की आज्ञा से रासलीला के अभिनय में दीक्षित किया था वे भी ब्रजवासी न ही थे। रासमाल ग्रंथ के लेखक ने अपने को उदयकरण और खेमकरण का वंशज कहा है और उसने अपने ग्रंथ मे एक वंशावली भी दी है जो बीच में लगभग ८० पीढ़ी तक खंडित होने के कारण पूर्णतया प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। उक्त लेखक ने यह भी लिखा है कि उदयकरण के पुत्र विक्रम के समय में लीलानुकरण की बहुत उन्नति हुई स्वयं औरंगजेब ने विक्रम के रास की परीक्षा की। इसी प्रकार जाग चक्कर जयपुर के किसी राजा ने भी रास की परीक्षा की और उसमें दैवी चमत्कार देखे। कुछ दिन तक इस प्रकार उन्नति कर लेने के बाद फिर लीलानुकरण में बहुत सी विकृतियाँ[1] आ गईं और इसलिए महात्माओं ने उसके अभिनय पर प्रतिबंध लगा दिया। फिर स्वामिदास तथा बिहारीलाल ने इसका पुनरुत्थान किया। बिहारीलाल लगभग सौ वर्ष पूर्व हुए हैं। उनकी रासनिष्ठा ब्रज में आदर्श और अनुकरणीय मानी जाती है। उन्होंने रास लीलानुकरण-विषयक बड़े कठोर नियम बनाए थे। बिहारीलाल के पुत्र रामकृष्ण के समय में भी लीला-सौष्ठव अक्षुण्ण रहा। फिर देवकीनंदन जी हुए, जिनकी मंडली विदेशों को भी गई। उन्होंने रास के प्रचलन को विशेष प्रोत्साहन दिया। उल्लिखित महात्मा स्वामिदास के शिष्य ब्रजलाल बोहरे ने भी रास लीला के प्रचार का महत्त्वपूर्ण काम किया था।

बिहारी लाल के समकालीन बाबू कृष्ण लाल रास के अनन्य अनुरागी थे। कहा जाता है, उन्होंने रास में अस्सी-साठ हजार रुपए व्यय किए थे। इनके रास में

१ देखो 'रास-सर्वस्व'—

'जिनके पीछे हुमो रसिक रस सबै बिनाशिनो
बंस धरम मद लोभ रासधारिन उर बसिनो।
है गए सब निर्दन्द रासधारी कबहूँ न
भय करी मन रीति लोभ वश है तन हीं न।
चाहि भगति कुशलिन के मानक से है सब
कृष्ण वेषधर दंभ धाम मानस बाची तब।
महानीच मति हुइ अधम वस असुर समाना,
मानक रेखवा चारि धरम पामर मनमाना।

साथ-साथ तक गोपियाँ रहती थीं और जब यमुना में हासी-लीला होती थी तो रंग से यमुना की धारा लाल हो जाती थी। उनके रास का यह अनुकरणीय नियम था कि उसे कोई बैठ कर नहीं देख सकता था। उनके द्वारा आयोजित रासलीला को बड़े-बड़े लोग छिप कर देखा करते थे। सच्चिदकिशोरी जी स्वयं भक्त कवि थे उन्होंने 'मधुरस कलिका' नामक ग्रन्थ लिखा एवं पुरान भक्तों और संतों की वाणियों को छाँट कर अपने ही पदों से लीलायें करवानी आरंभ कर दी। इस पर वृन्दावन के साधुओं ने इनकी लीला में आना बंद कर दिया। लेकिन किशोरी जी की ही तरह बाबा कृष्णानंद जी ने भी रासलीला पर प्रचुर व्यय किया है। कहा जाता है (लगभग ६००००) उन्होंने अपने पास से रासलीला अनुकरण के निमित्त व्यय किया था। उनके रास का प्रत्येक प्रेक्षक प्रसाद और फूल माला लेकर ही उसमें प्रवेश प्राप्त कर सकता था।

रासलीला की प्राचीन गौरवमयी आध्यात्मिक परंपरा अब फिर संकटापन्न है। पहले हर एक रासमंडली में दो-चार विरक्त साधु रहा करते थे जो इन मण्डलियों के अनुमानित रसिक थे और स्वयं भिक्षा माँग कर खाते थे। पर इधर पिछले २५-३० वर्षों में यह प्रथा कम हो गई है। तथापि आज भी वृन्दावन में कुछ ऐसी रास मंडलियाँ और ऐसे विरक्त साधु हैं, जो रास के विशुद्ध आध्यात्मिक रस के रसिक, संरक्षक एवं सतत जागरूक प्रहरी हैं।

(४)

यद्यपि रासधारियों[1] की आधुनिक परम्परा में रास की उत्पत्ति ब्रज में ही सोलहवीं शती में मानी जाती है। परंतु अनुसंधित्सु की दृष्टि से विचार करने पर रास का प्रारम्भ बहुत पहिले हो गया प्रतीत होता है।[2] पश्चिमप्रवर डॉ. वासुदेवशरण

१ तुलना कीजिए आनंदकुमार स्वामी लिखित राजपूत पेंटिंग भाग १ पृ० २८-२९.

2—"Certain of the Krishna mysteries such as the Rasa Mandal may have a very remote ancestry perhaps an esoteric Vaishnava tradition remained more or less secret, until in the

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अग्रवाल ने ऋग्वेद के एक सूक्त[1] का उल्लेख करते हुए निर्देश किया है कि मंडलाकार रासनृत्य की प्राक्-परंपरा का दर्शन वैदिक युग के आरंभिक युग में ही मिल जाता है।[2] कम से कम ईसा की प्रथम शताब्दी तक के इसके साहित्यिक उल्लेख तो मिलते ही हैं।[3] रास-सम्बन्धी प्राचीनतम संकेत भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है। भरत ने रास या रासक को उपरूपक माना है और उसके तीन भेदों का भी निर्देश किया है—ताललासक, दंडरासक और मंडल रासक।[4] नाट्यशास्त्र का रचना काल ईसा की प्रथम शती से लगा कर ईसा पूर्व की दूसरी तीसरी शती तक माना जाता है। नाट्यशास्त्र की सुप्रसिद्ध टीका 'अभिनव भारती' के रचयिता अभिनवगुप्त पादाचार्य ने नवीं शती में रास को हल्लीसक के नाम से अभिहित किया है—

'मंडलेन तु यन्नृत्यं हल्लीसकमिति स्मृतम्।'

'अभिनव भारती' की रचना के बहुत पूर्व वात्स्यायन ने भी (ई० तृतीय शती) अपने कामसूत्र में हल्लीसक और नाट्यरासक का एक साथ उल्लेख किया है—

Bhagavata Purna and the subsequent medieval Sanskrit and Hindi Literature of devotion, it became the leading theme of religious art. But we must understand that none of this development has a pedantic character it is determined only by the fact that a school of inspired mystic poets found in the matter of Vrindaban Lila just that material suited to the expressions of their intuitions of divine love.

१ गोभा वर्षं सखिके सुरूपस्था अपिश्रव।
मनायो मन्वतामिव तीयो रेणुमावर्ते। (ऋ० १०।७१।९)

२ दे० रास और रासान्वयी काव्य—प्रस्तावना पृ० १२

३ पंडित श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का निबंध, 'ब्रजलोक संस्कृति' पृ० १२९ १४१

४ 'ताललासक नामस्तत् त्रेधा रासकं स्मृतम्।
दंडरासकमेकं तु तथा मंडलरासकम्।

हल्लीसक क्रीडनंकामानेनस्त्रियासह।[1] कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने हल्लीसक नृत्य की व्याख्या करते हुए लिखा—

'मण्डलेन च यत्स्त्रीणां नृत्य हल्लीसकं तु तत्।
नेता तत्र भवेदेको गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥'

अर्थात् स्त्रियों का मंडल के द्वारा जो नृत्य होता है उसी को हल्लीसक कहते हैं। गोपियों के बीच में कृष्ण के समान इसमें एक नेता होता है।

इस प्रकार के नृत्य के बड़े पुराने चित्र भी पाए जाते हैं। अजंता की दीवारों में भी दो ऐसे दृश्य हैं, जिनमें एक पुरुष अनेक स्त्रियों के साथ नृत्य करता हुआ दिखाया गया है स्त्रियाँ कुछ बंसी बजा रही हैं, कुछ गा रही हैं और कुछ नृत्य कर रही हैं।[2] बाघ-गुफा में भी जो सातवीं शती की मानी जाती है, दो इसी प्रकार के चित्र[3] हैं। जिनमें स्त्री-नायिकाओं के दो समूह अंकित हैं। पहले में सात नायिकायें हैं, जो एक आठवें व्यक्ति को घेर कर खड़ी हैं, जिसकी वेश-भूषा विचित्र है। उसकी अलकें कन्धों तक फैली हैं वह पैरों में धारीदार पायजामा पहने हुए है और उसके दाहिने पैर[4] की स्थिति नृत्य की मुद्रा की सूचक है। वह घुटनों तक बाहुवस्त्रयुक्त 'चोलना' (deeved tunic) पहने है, जो कुछ सफेद और कुछ हरा है। उसकी हथेलियाँ अन्य नर्तकियों के ही समान ऊपर को उठी हैं, हाथों में कंगन है, और मस्तक पर सुनहरी धारियों वाला पेंच बँधे (Scarf)। दूसरे चित्र में भी एक समूह एक नर्तक के पास खड़ा है। इस समूह में छः नायिकायें हैं। नर्तक एक लंबा हरा 'चोलना' (tunic) और धारीदार पायजामा पहने है, कानों में कुण्डल तथा हाथों में वलय धारण किए हुए है। ये दोनों ही हल्लीसक नृत्य के निदर्शन माने जाते हैं।

पुराणों में रासक-नृत्य के जो विवरण मिलते हैं वे बहुत कुछ एक ही जैसे हैं और उनसे हल्लीसक के साथ उनका अभेद प्रमाणित होता है। बाकी

१—काम सूत्र २।१०।१५।
२—दे० रविशंकर रावल रचित 'अजंता का कला मंडप' पृ० ३२
३—दे० 'बाघ गुफा' इंडिया सोसाइटी लंदन द्वारा प्रकाशित।
४—अध्याय ८० श्लोक १२ ४२

थे, शास्त्र से इसका संबंध सूचित करने वाले कुछ प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।[1] इसमें निर्विवाद है कि रासक अपने प्रसवोत्सव-काल में एक आदिम नृत्यरूप[2] मात्र था। संभवतः नृत्य-अवस्था प्राप्त करके ही यह हल्लीसक या हल्लीस कहलाया। यह भी सम्भव है कि हल्लीसक या हल्लीस भी आरम्भ में रासक का ही समानान्तर एक स्वतंत्र नृत्य रूप रहा हो किन्तु कालान्तर में जब दोनों का वैशिष्ट्य और पार्थक्य लुप्त हो गया हो तो उनका प्रयोग एक ही अर्थ में होने लगा हो। आगे चल कर जब रासक में नाट्य एवं अभिनय के विविध तत्वों का समावेश हो गया तो नाट्यरासक के रूप में उसकी परिणति हुई और इसीलिए भी उसे रूपक का एक स्वतंत्र भेद मान लिया गया।

'भाव प्रकाशन' में नाट्यरासक का जो विवरण मिलता है, उसमें प्रारम्भ में बताया गया है कि इस में सोलह, बारह या आठ नायिकाएँ पिंडीबंधादि नृत्य करती हैं। वास्तव में यह रासक का ही परंपरा प्राप्त स्वरूप है—

षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः।
पिंडीबंधादि विन्यासैः रासकं तदुदाहृतम्॥

फिर यह नाट्यरासक क्यों कहलाया? यह रहस्य 'भाव प्रकाशन' में इसी प्रसंग के अगले श्लोक में खोला गया है।—

कामिनीभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टितं यत्तु नृत्यते।
रागाद्वसंतमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः॥

१—अस्य मस्यामत प्रोक्ता पावना समुदीरितम्।
श्रुत्वा तु तन्मयं तत्तो मर्त्येभ्यो भुवनेऽभवत्।
पार्वत्या मनुशास्तुमस्मात् भास्यं प्राप्तमनुत्तमम्।
तथा द्वारावती गोप्यः तासि सौराष्ट्रको स्त्रियाः (१ शोभिता)॥
ताभिस्तु शिक्षिता नार्यो नाना जनपदाः स्त्रियः।
एवं परंपरा प्राप्तं ततो लोके प्रतिष्ठितम्॥

२—डी. आर. मांकड़ की 'टाइप्स ऑफ संस्कृत ड्रामा' पृ. १४ और १४३।

अर्थात् नाट्यरासक की सर्वाधिक विशेषता यह है कि उसमें उपर्युक्त नृत्यपरायण नायिकायें किसी राजा के चारित्र्य और कीर्ति को अपने नृत्य द्वारा प्रदर्शित करें। किसी राजा के चारित्र्य और कर्तृत्व का नृत्यात्मक प्रदर्शन सम्यक् संपन्न हो सके इसलिए उसका शास्त्रीय कोटि-क्रम भी निर्धारित कर दिया गया। साहित्यदर्पणकार के अनुसार उसमें एक ही अंक होता है, नायक उदात्त, उपनायक पीठमर्द और नायिका वासकसज्जा होती है। इसमें सब सन्ध्यांगों का होना आवश्यक है। इसका अंगी रस शृंगार सहित हास्य होता है और दो अथवा चार (प्रतिमुख के अतिरिक्त) संधियाँ होती हैं। अन्य पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों ने भी इसी प्रकार नाट्य रासक की शास्त्रीय मर्यादा निर्धारित की है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि रासक, वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है। रास में यही भाव है। छालक भी ऐसा ही शब्द है। लोक में इन मनोरंजक विनोदों को कर संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने इन्हें रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था। शब्दों का अर्थ विशेष प्रकार के विनोद और मनोरंजन थे।[1] कथा का मुख्य कि भावप्रकाशन में नाट्यरासक की सर्वाधिक विशेषता यह बताई गई है कि इसमें किसी राजा के चरित्र का प्रदर्शन हो। मेरा अनुमान है कि इसी मूलभूत विशेषता के उन्मेष के फलस्वरूप चरितकाव्यों की यह परम्परा चली, जिसमें चरितनायक के नाम के साथ रासो नाम जोड़ना रूढ़ हो गया है, और मध्यकाल में रासो केवल चरित-काव्य का सूचक रह गया।

अपभ्रंश में अनेक रासकों की रचना हुई, इनमें अद्दहमाण का 'संदेश रासक' विशेषरूप से उल्लेखनीय है। श्री नामवर सिंह ने लिखा है कि 'संदेशरासक' को देखते हुए लगता है कि इस प्रकार के रास काव्यों का संबंध गोप-गोपियों की रास लीला से अवश्य रहा होगा," यह कथन युक्ति से अधिक आंशिक सत्य ही माना जा सकता है। 'संदेश रासक' में जिस नृत्यरूप की व्यंजना है, यह रासलीला के नृत्यरूप से वैसे ही बाहरी साम्य रखता हो पर रासलीला के विविक्त आध्यात्मिक स्वरूप का कुछ भी आभास अद्दहमाण की रचना में नहीं मिलता। डा० दशरथ ओझा ने 'संदेश रासक' के अध्ययन के

१—दे० हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० १००—१०१।

२—दे० हिंदी नाटक- उद्भव और विकास पृ० ६२

पश्चात् जो निष्कर्ष निकलता है, वह भी विचारणीय है।[१] उनका कहना है कि यह रासक पूर्णतया विकसित नाटकों के प्रारंभिक काल का वह रूप है जिसमें श्रव्य-काव्य अभिनय-कला की सहायता से दृश्य काव्य में परिणत हो रहे हैं। बहुरूपियों द्वारा प्रदर्शन होने का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।

मैंने ऊपर रासक के विकास का जो क्रम निरूपित किया है, उसको देखते हुए डॉ० दशरथ ओझा का यह निष्कर्ष संदिग्ध प्रतीत होता है। मैंने यह दिखाया है कि जिस समय 'संदेश रासक' की रचना हुई थी उस समय 'पृथ्वीराज रासो' और 'बीसल देव रासो' की तरह के चरित-काव्यों की रचना की परंपरा भी चल पड़ी थी। अतएव स्पष्ट वस्तुस्थिति तो यह प्रतीत होती है कि दृश्य काव्य अपने अभिनेय गुणों और उपकरणों को छोड़ कर श्रव्य काव्य में परिणत हो रहे हैं। पृथ्वीराज रासो में परिणति की यह क्रिया पूरी हो चुकी है, और संदेश रासक में अभी वह आधे मार्ग में ही है। इसका प्रमाण यह है कि 'संदेश रासक' पूर्ण अभिनेय रचना नहीं, अद्दहमाण का साक्ष्य भी उस काल के रासक, रासो या रास को श्रव्य या श्रव्य-काव्य ही सिद्ध कर पाता है। अद्दहमाण का कहना है कि उसके समय के रास बहुरूपियों द्वारा पठित होते थे, अभिनीत या प्रदर्शित नहीं। 'कहु बहुरूपि णिबद्धउ रासउ भासियउ'। अद्दहमाण के इस कथन की टीका में भी यही बात पुष्ट की गई है—'क्वापि बहुरूपिनिर्मितो रासको भाष्यते'। इससे यह सिद्ध होता है कि रास जो नाट्यरासक के रूप में कभी पूर्ण अभिनेय कलाकृति बन गया था अब केवल बहुरूपिए के संभाषण की वस्तु हो गया था।

अपने श्रव्य-काव्य के बहुरूपिया इन रासकों के पात्रोंकी वचन-रचना मात्र भंगिमा तथा विविध मुद्राओं का प्रदर्शन उसी प्रकार पाठ करते समय कुशलता के साथ करते थे, जिस प्रकार आज-कल के बहुत से कुशल और सफल कथावाचक करते हैं। मेरा अनुमान है रासक की नाटकीयता का विकास और ह्रास एक चक्र के रूप में हुआ है। इसने नृत्य-रूप से आरंभ करके रासक-नृत्य के माध्यम से पुष्ट हो नाट्यरासक के रूप में पूर्ण अभिनेय नाटक का रूप प्राप्त किया। फिर जब उसके इन गुणों का ह्रास होने लगा तो उसने 'संदेश रासक' जैसा एक अर्द्धनाटकीय या अर्द्ध-श्रव्य रूप प्राप्त किया। बाकी नाटकीय विशेषताओं को छोड़ कर वह दृश्य काव्यात्मक रासक न रह कर पृथ्वीराज रासो जैसा श्रव्य-काव्यात्मक रासक बन गया।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में रासग्रन्थों की धर्म-ग्रन्थों के रूप में परिणति की जो प्रक्रिया हो रही थी हिन्दी नाटक का इतिहास समझने के लिए उस पर ध्यान रखना आवश्यक है। अपभ्रंश के अधिकांश रासक इसी प्रक्रिया की कोई न कोई अवस्था सूचित करते हैं। यह संभव है जीवन-जगत के संपर्क में रहनेवाले कुछ रासक रूप इस प्रक्रिया के प्रभाव से मुक्त रह कर अपनी मूल नाटकीयता अक्षुण्ण रख सके हों पर, अद्यावधि उपलब्ध प्राय सभी साहित्यिक रासक इस प्रवृत्ति का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं। डा० दशरथ ओझा ने 'गयसुकुमार रास' को हिन्दी का प्रथम नाटक माना है और इसी प्रकार विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से हिन्दी नाटक के विच्छिन्न रूप की परंपरा की अखण्डता सिद्ध की है।

यदि 'गयसुकुमार रास' 'संदेश रासक' की तरह नाट्य-तत्त्वों के ह्रास की प्रवृत्ति सूचित नहीं करता तो उसे नाटक मान लेने में हमें आपत्ति नहीं। पर जब राजस्थान के ग्रंथागारों में अब भी असंख्य रासक-ग्रंथ अज्ञातावस्था में पड़े हैं तो 'गयसुकुमार रास' को ही हिन्दी का प्रथम नाटक सिद्ध करने का आग्रह उचित नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः भारतीय नाट्य-परंपरा का पूर्ण ह्रास या क्षय कभी नहीं हुआ, समय-समय पर उसने नए-नए रूप अवश्य ग्रहण किए। अपभ्रंश-काल में संस्कृत के नाटक तो लिखे ही जा रहे थे इसलिए अपभ्रंश के रासक में जन-नाटकों के ही प्रश्रय पाने की संभावना थी। अपभ्रंश ने जिन जन-नाटकों का विकास संवर्द्धन किया उनमें रासक ही प्रधान है। पर अपभ्रंश के साहित्यकारों के संपर्क में आकर रासक अपना दृश्यत्व छोड़ कर श्रव्य बनने लगा, यह बात ऊपर दिखाई जा चुकी है।

इस प्रसंग में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य भी ध्यान में रखना आवश्यक है। वह यह कि इसमें 'अभिनय और रंगमंच की परंपरा का बड़ा विलक्षण विकास हुआ और भाव, रस तथा ताल में निष्णात भरतों की एक ऐसी जाति ही बन गई जो वंशानुक्रम से उच्च परंपरा के संरक्षण के लिए उत्तरदायी रही। इन भरतों के संरक्षण और प्रशिक्षण में प्रत्येक अंग के ऐसे अभिनय-संकेतों का विकास हुआ जिनके द्वारा महाभारत और रामायण जैसे विशाल धर्मग्रन्थों को रंगमंच पर अभिनेय कथा कर प्रस्तुत कर दिया जाता था। दक्षिण भारत के अनेक मन्दिरों की भित्तियों पर इस प्रकार के अभिनयों के चित्र मिलते हैं। अभिनय की इस परंपरा में किसी भी प्रकार की कृति को अभिनय और रंगमंचीय बनाकर प्रस्तुत करने की क्षमता थी।

संभव है, ब्रजप्रदेश-भर में ऐसे अभिनेता रहे हों जो अर्द्ध नाटकीय या अर्द्धकाव्य रासकों का अभिनय प्रस्तुत करते हों। हो सकता है, नंददास ने 'बहुरूपि' कहकर उन्हीं की ओर संकेत किया हो। आगे चलकर सोलहवीं-सत्रहवीं शती में जब रासधारियों की परंपरा चली तो उन्होंने भी सूरदास, नन्ददास, हितवृंदावनदास आदि कवियों की लिखी हुई लीलाओं को अभिनेय बना कर उपस्थित करने की पूर्ण पटुता प्रदर्शित की। ये लीलायें शास्त्रीय नाटकों की मर्यादा का पालन नहीं करतीं पर ये रास के रंगमंच और अभिनय के सर्वथा अनुकूल हैं। रासधारियों को उनकी नाटकीयता या संविधान के विषय में किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं। कारण रास लीला नाटकों का प्रणेता इस अभिनय परंपरा से पूर्णतया परिचित है और उसी के अनुरूप रचना भी करता है। इस परंपरा से अनभिज्ञ रहने के कारण ही अध्येताओं में मध्यकालीन लीला-नाटकों के विषय में दुर्भाव उत्पन्न हुआ है।

ब्रजप्रदेश के रास-नाटक अधिकांश लौकिक और कुछ धार्मिक भी थे। पर सत्रहवीं शताब्दी में ब्रज में जिन रासलीला-नाटकों के प्रचलन और प्रेक्षण की परंपरा चली वे अधिकांश परमोच्च आध्यात्मिक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित थे यह दिखाया जा चुका है। रासलीला नाटकों का यह उत्थान हिन्दी-नाटक साहित्य का स्वर्ण युग माना जा सकता है। डा० दशरथ ओझा का कहना है कि रासलीला नाटकों की परंपरा नन्ददास से आरम्भ होती है। उनका मत है कि गोवर्द्धन लीला नाटक की रचना कर नन्ददास जी ने रासलीला नाटकों की नई परंपरा चलाई। पर पता नहीं डा० ओझा सूरदास जी के लीला नाटकों को क्यों भूल गए? उन्होंने नन्ददास जी की गोवर्धन लीला में जो नाटकीय विशेषताएँ निरूपित की हैं वे सूरदास जी की पनघट-लीला और दानलीला आदि में भी मिलती हैं। सूर की 'पनघट-लीला' में 'हरि मिलेगाती पुरवासी' बारह वर्षों का एक नाटकी है। दानलीला में भी 'ग्वालिनि के प्रश्नात्मक साम्य' ऐसा ही बारह वर्षों का नाटकी है। दोनों में ही प्रेमियों का चित्त आकृष्ट करने के लिये भगवान् के अंतर्यामित्व और भक्तवत्सलता का वर्णन किया गया है। डा० ओझा ने लीला-नाटकों के तीन गुण बताए हैं—मनोरंजन, मनुष्यत्व की प्राप्ति और निःश्रेयस की सिद्धि। ये तीनों गुण भी सूर की उपर्युक्त लीलाओं में विद्यमान हैं। सूर ने दान-लीला के उपोद्घात में कहा है—

'संकट में जिन जहाँ पुकारयो। तहाँ प्रगटि तिनको उद्धारयौ।
दुख भीतर जिनि सुमिरन कीन्हाँ। तिनकौं दरस तहाँ हरि दीन्हौं।
× × ×
सूर स्याम संग सखनि बुलाया। यह लीला कहि सुख उपजायौं।

इस उद्धरण में मनोरंजन, अनुराग एवं निःश्रेयस तीनों की व्यंजना है। मेरा यह निश्चित मत है कि 'सूरसागर' के अंतर्गत लीलागान के जितने प्रकरण हैं, वे सब लीला-नाटक ही मान जाने चाहिए। सूरदास जी के समसामयिक और सहयोगी प्रायः सभी कवियों ने इस प्रकार की अभिनय लीलायें लिखी हैं। इन रास लीलाओं के प्रेक्षकों के विषय में यथास्थान आवश्यक उल्लेख किए गए हैं।

डा० दशरथ ओझा ने रास शैली की आठ विशेषताएँ बताई हैं—

१—संपूर्ण नाटक छंदोबद्ध एवं गेय होता है।

२—रास-नाटकों में गद्यभाग सर्वथा उपेक्षित रहता है।

३—नाटक के सभी पात्र आदि से इति तक रंगमंच पर ही विद्यमान रहते हैं। पात्रों के प्रवेश और निष्क्रमण का संकेत नहीं मिलता।

४—संपूर्ण नाटक नृत्य और गीत पर अवलंबित होता है।

५—इन रास नाटकों का मंगलाचरण और प्रशस्ति-पाठ स्वांग नाटकों के सदृश होता है।

६—रास के अन्त में सूत्रधार नाटक लिखने का प्रयोजन बताते हैं, और उसके द्वारा पुण्यफल की प्राप्ति का उल्लेख करते हैं।

७—रास नाटक में स्वांग के सदृश सभी दृश्य पट-परिवर्तन-रहित होते हैं। इनमें संस्कृत-नाटकों के समान अंक, प्रवेशक, विष्कंभक तथा अंकावतार आदि नहीं होते।

८—रास की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रायः नितान्त अभाव तथा देशज और तद्भव शब्दों का बाहुल्य है।

इन विशेषताओं से रास-शैली के नाटकों का सम्यक् परिज्ञान तो हो ही नहीं पाता, अपितु कुछ भ्रम उत्पन्न होने से, समस्या अवश्य उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण स्वरूप डा० ओझा का यह कथन आंशिक सत्य है कि रास-नाटकों में गद्य-भाग सर्वथा उपेक्षित होता है। मैंने यथा-स्थान रास-नाटकों के अभिनय में पात्रों के संवाद के अंतर्गत प्रयोग में लाए जाने वाले गद्य का उल्लेख किया है। अवश्य लेखकों ने रास-नाटकों में गद्यांश नहीं जोड़े हैं, पर रासधारी यथास्थान गद्य का प्रयोग प्रायःप्रत्येक लीलाभिनय में करते हैं। ब्रजभाषा की जिस मधुरता की प्रसिद्धि है उसका यथार्थ स्वरूप रासलीला के अन्तर्गत उनके गद्यात्मक कथोपकथनों में ही परिलक्षित होता है। बड़े-बड़े यशोसम्पन्न कवियों की रचनाओं की साहित्यिक माधुरी इस बोलचाल की ब्रजभाषा मधुर माधुर्य के समक्ष फीकी लगती है। यह कहना भी ठीक नहीं कि रास नाटकों का मंगलाचरण और प्रशस्ति-पाठ स्वाँग-नाटकों के समान होता है। मैंने आरम्भ में ही बताया है कि रासलीला-नाटक के पूर्व रंग की विस्तृत विधि का उल्लेख ग्रंथों में मिलती है। इसका पूरा पूरा पालन भले ही न होता हो पर स्वाँग नाटकों के पूर्वरंग से तो यह निश्चय ही अधिक उदात्त और परिमार्जित होता है। रास-नाटकों की भाषा के संबंध में भी डा० ओझा का मत मान्य नहीं। जिन नंददास को लेखक ने रासलीला-नाटक की परंपरा का प्रवर्तक माना है, उन्हीं की भाषा में 'तत्सम शब्दों का प्रायः नितान्त अभाव नहीं अपितु उल्लेखनीय बाहुल्य है।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नंददास के विषय में लिखा है कि इन्होंने कृष्ण की रासलीला का अनुप्रासादि युक्त साहित्यिक भाषा में विस्तार के साथ वर्णन किया है। 'अनुप्रास और संस्कृत पद-विन्यास आदि की ओर इनकी प्रवृत्ति' प्रसिद्ध है, तो फिर डा० ओझा जिन रास नाटकों की भाषा की ओर संकेत कर रहे हैं, वह समझ में नहीं आता। प्रचलित मंडलियों को देखकर उनकी भाषा के विषय में वे ही बातें कही जातीं तो संभव है ठीक होतीं। इसके अतिरिक्त रासलीला-नाटकों की कुछ वास्तविक विशेषताओं का उल्लेख भी डा० ओझा ने नहीं किया है। इस विवेचन में यथास्थान उन सब का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनके बिना रासलीला निकृष्ट ग्राम्य मनोरंजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाती।

१—रासलीला में संस्कृत के संवादों का भी कभी कभी प्रयोग होता है।

इसी प्रसंग में रासलीला के उत्पत्ति-स्थान की समस्या पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। कुछ विद्वान् सौराष्ट्र को रास का उत्पत्ति-स्थान मानते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि वहाँ की स्त्रियों में अब भी रास-नृत्य का प्रचार है। किन्तु गुजरात के ही समान आसाम के अन्तर्गत मणिपुर का रास-नृत्य भी प्रसिद्ध है। भारत देश के कुछ अन्य भागों में भी इस प्रकार के नृत्य का प्रचार है। ऐसी स्थिति में किसी अकाट्य प्रमाण के अभाव में रास के प्रादुर्भाव-स्थान का निर्धारण कठिन है। यदि भगवान् कृष्ण के जन्म और जीवन-लीला से संबंधित स्थानों का महत्व दिया जाय तो ब्रज अथवा सौराष्ट्र को ही रास का उद्भव-स्थान माना जा सकता है। यदि भगवान् कृष्ण के व्यक्तित्व को केन्द्र बना कर रासलीला की परंपरा चली होगी, तो उसका प्रवर्तन पहले ब्रज में हुआ होगा और फिर वह भगवान के द्वारका-प्रवास के साथ-साथ सौराष्ट्र को गई होगी। सौराष्ट्र में रास की परंपरा अखंड रूप से चलती रही किन्तु मुसलमानों के आतंकपूर्ण शासन-केन्द्र देहली के निकट होने के कारण ब्रज में वह खंडित हो गई होगी। सोलहवीं-सत्रहवीं शती में महाप्रभु वल्लभाचार्य स्वामी हरिदास श्री नारायण भट्ट जैसे महान् भक्तों और संतों की प्रेरणा और प्रयत्न से रासलीलानुकरण के रूप में नई शक्ति के साथ इसका पुनरुत्थान घटित हुआ। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि रासलीला-नाटकों की जिस परंपरा का हिंदी के साथ सीधा संबंध है उसका उत्पत्ति स्थान ब्रज ही है।

रासलीला-नाटकों की प्रविधि का बड़ा व्यापक प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी-काव्य पर पड़ा। भक्त कवियों की रचना में गेयता और अभिनेयता का जो विशेष उत्कर्ष देखा जाता है, उसके मूल में इन रासलीला नाटकों की ही प्रेरणा प्रधान है। रीतिकालीन कवियों पर भी लीला-नाटकों का प्रभाव देखा जा सकता है। अनेक प्रमुख रीतिकालीन कवियों ने ऐसे छंद लिखे हैं जिनमें निर्गुण अथवा रूप लीलाओं का नाटकीय संयोजन किया गया है। उदाहरणस्वरूप देव का एक छंद उद्धृत किया जा सकता है—

राज पौरिया के रूप राधे को बनाइ लाई,
गोपी मथुरा ते मधुबन की लतानि में।
टेरि कह्यो कान्ह सों, चलौ हो कंस चाहि तुम्हें,
काके कहे लूटत हो दधि-दानि में

संग कै न आने गए डगरि डराने पिय,
स्याम ससवाने से पकरि करे पानि मैं ।
छूटि गयो छल सो छबीली की चितौननि मैं,
ढीली भई मौहैं वा छबीली मुसकानि मैं ।

भारतेन्दु जी ने रासलीला नाटकों की परंपरा और प्रविधि का अत्यन्त कलात्मक प्रयोग अपनी 'चन्द्रावली' नाटिका में किया है । वियोगी हरि जी की 'छद्मयोगिनी' नाटिका भी इसी शृंखला की एक कड़ी है ।

(५)

मैंने लिखा है कि वैदिक संवाद-सूक्तों में उपलब्ध वीरगाथात्मक परंपरा ही संभवतः यौगिकों के मूक अभिनय के रूप में परिणत हुई और आगे चलकर उसी में से मूक-अभिनय छाया-अभिनय झाँकी कथावाचन काव्यात्मक संवाद आदि के माध्यम से संपन्न होने वाली राम और कृष्ण की लीलाओं का प्रचार हुआ । ब्रज में प्रचलित मूक-अभिनय-प्रधान लीलाओं का भी प्रचार है जिनको हम रासलीला का ही एक विशेष प्रकार और परिणति मान सकते हैं । इनकी परंपरा बहुत प्राचीन है और लोकप्रियता में तो ये अद्वितीय हैं ।

प्राचीन नाटकीय आयोजनों के अवशेष—मेले

कार्तिक मास की अक्षयनवमी से दो तीन दिन पूर्व मथुरा में कृष्णचरित संबंधी कुछ मेलों का आयोजन होता है । परंतु इन मेलों के नामों में 'लीला' शब्द का प्रयोग तथा कुछ पात्रों की रूप-सज्जा आदि के रूपों में अनायास इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि कुछ समय पूर्व ये मेले खुले रंगमंच वाले लोक-नाट्य ही थे और परवर्ती काल में इनकी बढ़ती हुई सार्वजनिकता के कारण इनमें से नाटकीयता का लोप हो गया और आज इनमें से कोरसिया लीला कुवलयापीड़ वध-लीला, आदि का मेलारूप मात्र जीवित है ।

अक्षय-नवमी से एक दिन पूर्व गोपाष्टमी के दिन मथुरा में आज भी गोचारण लीला तथा दशमी के दिन कंसवध लीला बड़े उत्साह के साथ मनाई जाती है ।

कागज का एक बड़ा भारी कंस का पुतला बनाया जाता है और उसे कंस के टीले पर खड़ा किया जाता है तदुपरांत सायंकाल होने पर चतुर्वेदी लोग अपनी प्राचीन पोशाकों तथा प्राचीन शस्त्रों को लेकर उसे मारने के लिए कंस के टीले पर जाते हैं। इसी समय कृष्ण और बलदेव के स्वरूप हाथी पर सवार होकर आते हैं और दूर से ही अपनी छड़ी दिखाते हैं। फिर चतुर्वेदी लोग उस कागज के कंस को खूब पीटते हैं और बाद में कोई उसका सिर कोई उसकी खाल और कोई उसकी तलवार लेकर नाचते हुए बाजार में निकलते हैं तत्पश्चात् सब मिल कर विश्रामघाट पर कृष्ण-बलदेव की आरती करते हैं। सभी चतुर्वेदी लोग अपने अपने शस्त्रों को धोते हैं और दूसरे दिन कंसवध के प्रायश्चित्तार्थ मथुरा, वृन्दावन की परिक्रमा भी करते हैं। इस प्रकार यह मेला संपन्न होता है, जिसमें नाटकीयता के गुण आज भी देखने पर स्पष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार के मेले ब्रज के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी होते हैं। वामन द्वादशी के दिन संपन्न होने वाला बल-विहार जिसके अंतर्गत नागलीला, कुवलयापीड़-वधलीला, कंसलीला आदि होती हैं ब्रज के छोटे छोटे ग्रामों तक में अत्यंत लोकप्रिय है। अन्य प्रदेशों में भी ऐसे आयोजनों का अभाव नहीं। इस प्रकार के आयोजनों की पृष्ठभूमि पर रामलीला का प्रभाव एवं साम्य लक्षित होता है। निश्चयात्मक रूप से यह कह सकना कठिन है कि ये आयोजन रासलीला के वर्तमान रूप में प्रचलित हो जाने के बाद कृष्ण-भक्तों द्वारा उसके अनुकरण में चलाए गए हैं अथवा वे उससे भी बहुत पुराने किन्हीं नाटकीय आयोजनों के अवशेष हैं।

मूक अभिनय

मथुरा में आज भी नृसिंह चतुर्दशी (वैशाख शुक्ल पक्ष) के दिन नृसिंह लीला का मूक अभिनय होता है। इस अभिनय परंपरा का मथुरा के चतुर्वेदियों के साथ अत्यंत प्राचीन संबंध है। आज भी विशेष पात्रों का अभिनय कुछ विशिष्ट कुलों के व्यक्ति ही अपनी परंपरानुसार करते चले आ रहे हैं। इन चतुर्वेदी-कुलों के साथ उनके द्वारा प्रतिवर्ष अभिनीत होने वाले चरित्र का नाम विशेषण के रूप में जुड़ गया है। अतः कुछ चतुर्वेदी-परिवार 'नृसिंह के' और कुछ 'वाराह के' कहलाते हैं।

नृसिंह चतुर्दशी की रात्रि को इस अभिनय के प्रारंभ होने के पूर्व संध्या समय सभी अभिनय-उपकरणों का भिन्न भिन्न मुहल्लों में सार्वजनिक प्रदर्शन होता है।

इन स्वरूपों को 'चेहरा-मोहरा' कहते हैं। तदुपरांत रात्रि में लगभग बारह बजे इस अभिनय का प्रारंभ "रामरानी" के स्वाँग के आगमन के साथ होता है। बाद में भौमासुर, बाराह, हनुमान देवी सोंमड़ा आदि के स्वाँग अपने अपने विशेष चेहरे लगाकर निकलते हैं। वे प्रथम तो बिछे हुए तख्त पर जो रंगमंच का काम करता है नाचते हैं फिर सड़क पर या मैदान में उतर आते हैं। इस नृत्य-अभिनय में तबला, मृदंग तथा मरा आदि वाद्य एक विशेष ताल में बजाए जाते हैं जिससे रौद्र एवं भयानक रसों के वातावरण की सृष्टि होती है। रातभर यह क्रम चलता रहता है और प्रातः सर्वप्रथम महाकाली का स्वाँग निकलता है, फिर महादेव जी ताण्डव और अंत में श्री नृसिंह जी एक खम्भ की कोठी फाड़कर प्रकट होकर हिरण्यकश्यपु का वध करते हैं, और प्रह्लाद जी के स्थान पर उस वर्ष के नवजात शिशुओं को नृसिंह जी नचाते हैं। अंत में आरती और भोग लगता है और इस प्रकार यह लीला समाप्त होती है। इस लोकप्रिय आयोजन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संपूर्ण नृत्य-अभिनय में कहीं भी संवाद का प्रयोग नहीं होता।



(६)

मध्यकालीन धार्मिक नाट्य-परंपरा

रामलीला

(१)

आनन्द कुमार स्वामी ने रामलीला और कृष्णलीला (रासलीला) का विवेचन करते हुए लिखा है —

"... ......that the Ramayana is Pseudo historical and is designed to be a social ideal, while the Krishna Lila is symbolic and eternal, and Brindaban is not this world, but the heart of man The Rama yana tells how man by a righteous life may approach to a nearer Union with the Lord the Krishna Lila explains the very nature of union accomplished – These are different matters."

अर्थात् दोनों में तात्विक भेद है। रामायण अर्द्ध ऐतिहासिक है और उसका लक्ष्य सामाजिक आदर्शवाद है। इसके विपरीत कृष्णलीला प्रतीकात्मक और शाश्वत है। वृन्दावन भौतिक जगत् नहीं वरन् मनुष्य का हृदय है। रामायण बताती है कि किस प्रकार मनुष्य पवित्र जीवन व्यतीत करता हुआ भगवान के सामीप्य और सारूप्य का अधिकारी बनता है किंतु कृष्णलीला भगवत्प्राप्ति के सुख अथवा भगवान के सायुज्य के स्वरूप की व्याख्या करती है। विद्वान् लेखक का आशय यह प्रतीत होता है कि रामलीला साधना मार्ग का निर्देश करती है और रासलीला सिद्धावस्था के अनुभव और आनन्द का प्रतीकात्मक प्रकाशन है।[1] रासलीला के विशदस्वरूप का

१—ए० का० कु० स्वा० कृत राजपूत पेंटिंग दूसरा भाग प्रथम अध्याय पृष्ठ १७-१८

आवश्यक स्पष्टीकरण किया जा चुका है। दोनों के भेद को ठीक-ठीक समझने के लिए रासलीला के दार्शनिक आधार का संक्षिप्त विवेचन भी आवश्यक है।

वैष्णवों के अनुसार भक्तों में स्वभाव अथवा अधिकारी-भेद से रसानुभूति की पाँच भूमिकाएँ होती हैं—(१) मधुर, (२) वात्सल्य (३) सख्य (४) दास्य और (५) शांत। वैष्णवाचार्यों ने इन्हें पाँच स्वतंत्र रस ही माना है और इन पाँचों रसों की भगवद्विषयक रति के पाँच रूप (पाँच स्थायी भाव) माने हैं—मधुर की कान्ता या मधुरा, वात्सल्य की वत्सला, सख्य की प्रेय, दास्य की प्रीति और शांत की शांति। यह बात सदैव ध्यान में रखने की है कि साहित्यिकों के और भक्तों के रस में मौलिक अंतर है[1]। 'पहले भावोन्मुख होते हैं, दूसरे (भक्तों के) विष्णुमुख।' व्रजलीला अथवा रास में प्रधानतया वात्सल्य, सख्य और मधुर रसों की ही अभिव्यक्ति हुई है। यह बताया जा चुका है कि कृष्ण की अन्य भक्त की लीलाओं में मधुर रस की व्यंजना हुई है। शान्त रस की निष्पत्ति के लिए रास में (व्रजलीला भर में) अवकाश ही नहीं। कबीर आदि निर्गुण मत के भक्तों की वाणी में शांत रस की प्रधानता है। रामलीला में दास्य रस की अभिव्यंजना प्रबल है। 'दास्य भावना का प्रतिफलन दो प्रकार का होता है—गौरवमय और प्रीतिमय। भगवान् के ऐश्वर्य स्वरूप के प्रति संभ्रम और गुरुता का भाव रखने वाले भक्त इसी श्रेणी में आते हैं। दास्य-रस का विषय या आलम्बन भगवान् का वह ऐश्वर्य रूप है जिसके इशारे पर माया कोटि कोटि ब्रह्माण्ड की सृष्टि करती है, जो राजाओं के भी राजा हैं, जिनकी शक्ति का एक एक कण विश्व को संचालित करता है और जो सत्य न्याय आदि शुभ-धर्म आदि के आधार हैं। भगवान् के इसी अद्भुत सिद्धि सेवित रूप के प्रति आकृष्ट भक्त उनका दास होने का अभिमान करता है।"[2]

१—द० 'भक्ति रसामृत सिन्धु'।

२—सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

दास्य या प्रीति रति की साधना अथवा अनुभूति के लिए किसी प्रकार की गुह्य या रहस्य की धारणा की आवश्यकता नहीं। यह सब के लिए सुलभ है क्योंकि उसका मार्ग सीधा-सादा और स्वाभाविक है। दास्य-रस की प्रीति सेवक-सेव्य भाव की भक्ति द्वारा निष्पन्न होती है। उसके रसिक सूझे हुए विश्व के बीच भगवान की कृपा की भावना करते हैं। सेवक-सेव्य भाव की भक्ति का सिद्धांत बताते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—

"सो अनन्य अस, जाकर मति न टर हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप रासि भगवन्त ॥"[१]

इस प्रकार की भक्ति की भावना अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में 'सचराचर' में भगवान की ही 'रूपरासि' की भावना मिलती है। यह भी कहा गया है कि 'तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्व।' अर्थात् उस प्रजापति पुरुष (परमात्मा) में त्रिभुवन-सारे-लोक स्थित हैं। वेदों में इस आशय के अन्य अनेक मंत्र हैं। एक मंत्र में प्रजापति पुरुष से प्रार्थना की गई है कि 'हे पुरुष! श्री और लक्ष्मी आपकी पत्नियाँ हैं,[२] दिन और रात पार्श्व हैं, नक्षत्र ही रूप हैं। मेरे लिए इस लोक और उस लोक में मंगल की भावना कीजिए।'[३] वेदों में जिस पुरुष कहा गया है शतपथ में उसे ही नारायण कहा गया है —'पुरुषो ह नारायणोऽकामयत अतितिष्ठ य सर्वाणिभूतानि।' नारायण के भिन्न रूप के स्पष्ट उल्लेख इसी प्रसंग में मिलते हैं—'निपुरुतान् पुरुषान् प्रथा इत्यादि'

धरे जो विविध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता ॥
हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तेहि समेत नृप दल मद गंजा ॥
खरदूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली ॥

जाके बल लव लेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि ॥

१—देखिए सुंदरकांड
२—वे॰ ह॰ प्र॰ द्वि॰ कृत हि॰ सा॰ भू॰ पृ॰ ८१
३—श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।

पुरुषेण नारायणोऽस्मिन्नित्येति सहस्रशीर्ष पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादित्येवं तेन श्लोऽस्मर्येन[1]। महाभारत काल तक पहुँचते इन्हीं पुरुष अथवा नारायण की उपासना सात्वत धर्म, पाँचरात्र वैष्णव धर्म और भागवत धर्म आदि अनेक नामों से प्रचलित हो गये। महाभारत के अंतर्गत गीता में कृष्ण का विराट् रूप-दर्शन वस्तुतः भगवान के विश्वरूप की ही व्याख्या है। यदि इस विचार परम्परा को ध्यान से देखा जाय तो इसमें सगुण-भगवान और अद्वैत दर्शन के समन्वय का प्रयास भी स्पष्ट दिखायी पड़ेगा। यह समन्वय गीता, महाभारत के नारायणीय पर्व और विष्णु पुराण आदि सब में मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य श्री रामानुज ने इस पुरातन भावधारा को पुष्ट दार्शनिक आधार प्रदान किया और उसे शास्त्रीय स्वरूप दे डाला जो विशिष्टाद्वैत[1] दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है।

रामानुजाचार्य ने तीन प्रकार के पदार्थ माने हैं। उन्हें तत्त्व-त्रय भी कहते हैं — (१) अचित्, (२) चित् और (३) ईश्वर (प्रत्यक्ष तथा गोचर जितने भी पदार्थ हैं वे सब अचित् हैं और जीवात्मा चित् है। अचित् जड़ात्मक है, और उसके भी तीन भाग हैं —(१) अन्न जलादि भोग्य वस्तु (२) भोजन पात्रादि भोगोपकरण और (३) शरीरादि भोगायतन। ईश्वर विश्व का कर्ता और उपादान है। वह अपरिच्छिन्न ज्ञान स्वरूप है और सब जीवों का नियन्ता है। चित् और अचित् दोनों उसी प्रकार ईश्वर पर आश्रित हैं जिस प्रकार आत्मा पर शरीर। इसीलिए चित् और अचित् दोनों को ईश्वर का शरीर कहा गया है। अर्थात् चित् और अचित् शरीर हैं, ईश्वर शरीरी है, वे अंश हैं और ईश्वर अंशी है। जिस प्रकार यह हस्त-पादादि विशिष्ट भौतिक देह जीव का शरीर कहा जाता है उसी प्रकार अचित् और चित् पदार्थ अर्थात् जड़ और जीवात्मा दोनों को परमात्मा का शरीर कहा गया है। भगवान् के अनन्त गुण और दो प्रकार के रूप हैं, एक परमात्म-रूप अथवा कारणरूप और दूसरा स्थूल अर्थात् विश्वरूप। वह परमात्म-रूप अथवा कारण-रूप ईश्वर सर्वनियन्ता और सर्वान्तर्यामी है इसलिए भगवान को ईश्वर और सेव्य बतलाया गया है तथा जीव को दास और सेवक। परमात्मरूप

१—देखिए रामानुजाचार्य कृत वेदान्त-संग्रह, वेदान्त सार, वेदान्त प्रदीप गीता-भाष्य ब्रह्मसूत्र-भाष्य आदि।

और विभवरूप के अतिरिक्त भक्तवत्सल भगवान् भक्तों के लिए समय-समय पर अन्य पाँच प्रकार की मूर्तियाँ धारण किया करते हैं—अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अन्तर्यामी।[1] प्रतिमादिक को अर्चा कहते हैं, मत्स्य, वाराह, कूर्म आदि अवतारों का नाम विभव है, वासुदेव, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि व्यूह हैं, विश्व, विमोह, विमृत्यु, विजिघत्स, सत्यकाम और सत्यसंकल्प (षड्गुणशाली) परब्रह्म का नाम सूक्ष्म है और सब जीवों की नियन्ता मूर्तिविशेष का नाम अन्तर्यामी है। भगवान् की इन पाँच प्रकार की मूर्तियों की उपासना भी पाँच प्रकार की मानी गई है।

उन पाँचों विधियों के नाम हैं (१) अभिगमन (२) उपादान (३) इज्या (४) स्वाध्याय और (५) योग। देवता के गृह और मार्ग के मार्जन तथा लेपनादि को अभिगमन कहते हैं, गंधपुष्पादि पूजा की वस्तुओं का आयोजन उपादान है, भगवान् की पूजा का ही नाम इज्या है, अर्थानुसंधानपूर्वक मंत्रजाप, वैष्णव सूक्त और स्तोत्र का पाठ, नाम-संकीर्तन और शास्त्राभ्यास को स्वाध्याय कहते हैं। ध्यान, धारणा और समाधि इत्यादि भगवान की प्राप्ति के जो उपाय हैं उन्हें योग कहते हैं।[2]

आगे चलकर स्वामी रामानन्द जी हुए जिन्होंने रामानुज का उपर्युक्त तत्त्ववाद पूर्णरूप से स्वीकार करते हुए लक्ष्मीनारायण के स्थान पर सीताराम की उपासना प्रचलित की। रामानन्द ने विष्णु के सब अवतारों में लोक-लीला विस्तार करने वाले राम-रूप को संसार के लिये सर्वाधिक मंगल-विधायक समझकर पुनः मनुष्य मात्र को राम की भक्ति का अधिकारी घोषित किया और राम की उपासना के क्षेत्र में वर्ण-भेद अथवा जाति-भेद आदि सब अनुचित प्रतिबन्धों का प्रत्याख्यान किया। जोलाहा कबीर, रैदास चमार, धन्ना जाट और सेन नाई सभी उनके प्रधान शिष्यों में थे।[3] इस प्रकार उन्होंने राम-भक्ति का भारत-

१—दे० सर्वदर्शन संग्रह।

२—दे० सर्वदर्शनसंग्रहस्थ 'रामानुज दर्शन'।

३—दे० नाभादास कृत भक्तमाल।

व्यापी आन्दोलन चलाया जिसके तत्त्वावधान से हिन्दू-जाति के बहुत से शक्ति-सम्पन्न पैदा हुए। रामानन्द द्वारा प्रवर्तित राम की उपासना दास्य-भाव की है। दास्य-रस के सबसे बड़े रसिक इसके चरम परम आश्रयरूप आलम्बन श्री हनुमान जी हैं। इसीलिए सीताराम की उपासना के साथ-साथ उनकी उपासना भी लोक में चल पड़ी। रामोपासना के अन्तर्गत लक्ष्मण और भरतादि जिन भक्त-मूर्तियों की चर्चा होती है उनमें दास्य स्वभाव के प्रीति रस का ही उत्कर्ष प्रधानतया देखा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य श्री रामानुज ने लोक की दो पुरातन भक्ति-धाराओं के सामञ्जस्य-विधान द्वारा विशिष्टाद्वैत दर्शन की प्रतिष्ठा की। रामानन्द ने राघव-भक्ति के प्रचार द्वारा उसे सार्वजनिक और सर्वजन सुलभ रूप प्रदान किया था अतएव भावोत्सर्गी तथा व्यावहारिक सिद्ध हुआ।

रामानुज तथा रामानन्द के दर्शन और साधना की समस्त श्री और शक्ति गोस्वामी तुलसीदास जी के साहित्य में प्रस्फुटित हुई। गोस्वामी जी ने अनन्यता रूप से दास्य भाव की भक्ति अथवा दास्य का प्रीति रति को ही भगवत् प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन और भगवत्प्राप्ति का सुगमतम उपाय माना है, उन्होंने स्पष्ट कहा है सेवक-सेव्य भाव बिना संसार तरना असम्भव है।[1] रामचरितमानस में एक स्थल पर स्वयं भगवान् इस बात की घोषणा करते हैं[2]—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए।
सबते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह मह द्विज, द्विज महँ श्रुतिधारी।
तिन्ह मह निगम धर्म अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी।
ज्ञानिहुँ तें अति प्रिय विज्ञानी॥

१—सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।

२—रामायण—उत्तर काण्ड।

तिन्ह तें मोहि पुनि प्रिय निज दासा।
जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि-पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं।
मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

दास्य-भाव से भजन करने वाले ऐसे सेवक निरंतर भगवान् के नाम[1] का जप, रूप का ध्यान[2], लीला का स्मरण[3] और धाम का सेवन[4] करते हैं। लीला का स्मरण दो प्रकार से हो सकता है। एक है भगवान् राम की लोक-मंगल-विधायिनी ललित लीलाओं का पाठ करने वाले ग्रन्थों का स्वाध्याय और श्रवण जिससे मन पवित्र होता है और जीव क्रमशः भगवत्प्राप्ति का अधिकारी बनता है। दूसरा प्रकार है भगवान् की दिव्य जन्म और कर्म[5]-सम्बन्धी लीलाओं का अनुकरण अथवा अभिनय। रासलीला और रामलीला दोनों ही अवतार-भेद[6] से इस लीलाभिनय के दो रूप हैं। भगवान् की जो चार प्रकार की माधुरी है उसमें से क्रीड़ा-माधुरी वेणु-माधुरी और विग्रह-माधुरी की सख्य अथवा प्रेमरतिमयी गोपलीला क्रीड़ा-मूलक रासलीला में मिलती है।[7]

१—दे० रामचरित मानस के बालकाण्ड के अन्तर्गत नाम-वन्दना।

२—'लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सिन्धु सरित सर भारी।
रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी॥ (रा० अयोध्याकाण्ड)

३—रामचरित चिन्तामनि चारू।
संत सुमति तिय सुभग सिंगारू॥
× × ×
सेवक मन मानस मराल से।
पावन गंग तरंग माल से॥ (रा० बालकाण्ड)

४—बारन राम तीरथ चलि जाहीं।
राम बसहु तिन के मन माहीं॥ (रा० उत्तरकाण्ड)

५—'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गीता)

६—दे० रामलीला का शीर्षक

७—भागवत १० ३५, १४ १५

माधुरी के अंतर्गत है और शिशु-माधुरी भगवान की अनिर्वचनीय और गुप्त निकुंजलीला का अंग है। रामलीला में और समस्त राम-साहित्य में भगवान् की ऐश्वर्य-माधुरी के अनुभव और अभिव्यक्ति की ही प्रधानता है।

दास्य-भाव की भक्ति का उत्कर्ष भगवान् की ऐश्वर्य-माधुरी के अधिकाधिक बोध पर निर्भर है, इसीलिए इस श्रेणी के भक्त उसके द्वारा भगवान् के असमोर्ध्व, शरणागत-वत्सल और करुणायतन रूप का ध्यान और चिन्तन प्रतीति के अभ्यास के लिए करते हैं। भक्त अपने हृदय में दैन्य का जितना आवेगपूर्ण अनुभव करेगा भगवान् के ऐश्वर्य-रूप का बोध उतना ही उत्कट होगा और ईश्वर रस की अनुभूति भी उतनी ही तीव्र होगी। ऐसे भक्त की दृष्टि भगवान् की ऐहिक लीलाओं की ओर जा ही नहीं सकती और न इस भक्ति मार्ग में गुप्त अथवा रहस्य की प्राप्ति को प्रश्रय मिल सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम को 'अलख' से अधिक 'लख' और 'अन्तर्यामी' से अधिक 'बहिर्यामी' बतलाया है—

"अंतर्जामिहु ते बड़ बाहिरजामि हैं राम जो नाम लिए ते।
पैज परे प्रहलादहु के प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिए तें॥ [1]
अथवा
"हम लख हमहिं हमार लख, हम हमार के बीच।
"तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम जपु नीच॥ [2]

इसीलिए राम से सम्बन्ध रखने वाले श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार के काव्य में उनकी सार्वजनिक लोकसंग्रही शौर्य-लीलाओं का ही प्राधान्य रहा। प्रेम शृंगार और विलास की गाथाओं के लिए अवकाश ही न निकल सका। यही कारण है कि रामलीला में, जो राम-परक दृश्य काव्य है, कथानक-वैविध्य और नए-नए प्रसंगों की उद्भावना का अभाव है। इसके विपरीत मधुर-रसाश्रित रासलीला में ऐश्वर्य बोध का—मधुररस की परिपन्थी वृत्ति होने के कारण—अभाव है और भगवान् की ऐहिक लीलाओं का प्राधान्य है। रासलीला और रामलीला का यह भेद भक्ति-साधना के दो पन्थों की पृथकता का निर्देश करता है।

१—दे० 'कवितावली' उत्तरकाण्ड।
२—दे० 'दोहावली'।

(२)

रामलीला की व्याख्यात्मक अभिनयात्मक परम्परा का प्रवर्तन कब और किसके द्वारा हुआ इसका निर्णय करना कठिन है। प्रायः सारे देश में किसी न किसी रूप में रामलीला का प्रचार है। देश के बाहर बाली, जावा और स्याम आदि द्वीपों में भी अत्यन्त प्राचीन काल से इसका व्यापक प्रचार रहा आ रहा है।[1] स्याम में भी कठपुतलियों के द्वारा रामकथा का प्रदर्शन होता है। स्याम का 'रामकियेन' और कम्बोडिया का 'रियामकेर' ग्रंथ रामकथा के रूप में प्रसिद्ध हैं और उनमें वर्णित घटनायें वहाँ के प्राचीन मंदिरों में भी उत्कीर्ण हैं। बर्मा में भी कवि यूतो ने 'रामयागन' (रामायण) का प्रणयन किया है और रामकथा-संबंधी 'यामप्वे' नामक नाट्यरूप भी वहाँ प्रचलित है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख भी मिलते हैं, जिनसे सुदूर अतीत में भी राम-नाटकों की लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों ही परम्पराओं के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। वैदिक काल में ही हमारी नाट्य-परम्परा का सूत्रपात हो गया था, इसका उल्लेख हो चुका है। यह परम्परा मुसलमानों के आगमन के पूर्व तक चलती रही, यह भी बतलाया जा चुका है। इस नाट्य-परम्परा के विकास में वैष्णव धर्म का प्रभाव मुख्य था। वैष्णव धर्म के बीज वेदों तक में वर्तमान हैं, और उसका पूर्ण विकास महाभारत तथा गीता के काल तक हो गया था। राम-कृष्ण और महाभारत काल के बीच वैष्णव धर्म द्वारा अनुप्राणित नाट्यप्रयोगों ने लौकिक और साहित्यिक दोनों ही प्रकार के अनेक रूप धारण किए होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। विष्णु के विविध अवतार चरितों का अभिनयात्मक प्रदर्शन होता था, इसका सबसे बड़ा प्रमाण महाभाष्य में पतंजलि द्वारा 'कंसवध' और 'बलि-बंध' नामक नाटकों का उल्लेख है जिनका अभिनय शौभिक या ग्रंथिक कहलाने वाले नट सार्वजनिक स्थानों पर किया करते थे। हरिवंश में भी लिखा है कि जब प्रद्युम्न, साम्ब आदि यादव राजकुमार प्रभावती-हरण के लिए दानवराज वज्रनाभ के नगर में गए थे तब उन्होंने वहाँ राम-जन्म[2] और रंभा-अभिसार नामक नाटकों का अभिनय किया था। इन उल्लेखों से यह तो सिद्ध

१—बर्मा और जावा के राम-रावण युद्ध तथा बालि-सुग्रीव युद्ध सम्बन्धी मुख-नाटक प्रसिद्ध हैं।

ही है कि उस समय विष्णु के प्रधान अवतार राम तथा कृष्ण के चरित्रों का अभिनय व्यापक रूप से होता था। राम और कृष्ण के चरित्रों से सम्बद्ध नाटक बहुत प्राचीन काल से लिखे जा रहे हैं। कालिदास से भी प्राचीन माने जाने वाले महाकवि भास द्वारा रचित बाल-चरित नामक नाटक कृष्ण के बाल चरित से संबंध रखता है।

उनके प्रतिमा नाटक में राम-वनवास तथा सीता-हरण से लेकर रावण-वध तक की घटनाओं का समावेश है और अभिषेक का वर्णन है। इन दोनों नाटकों में बालकाण्ड के अतिरिक्त रामायण के अन्य सभी काण्डों के कथानक का समावेश है। ७०० ई० के लगभग भवभूति के 'महावीर चरित' और 'उत्तर-रामचरित' में सीता-वनवास से पुनर्मिलन तक की कथा है। भवभूति के नाटक उज्जैन में भगवान् कालप्रिय के मंदिर में अभिनीत भी हुए थे। अष्टम शती के उत्तरार्द्ध में मुरारि ने 'अनर्घ राघव' नामक नाटक लिखा था जिसमें विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए राम के वन-गमन से लेकर रावणवधोपरान्त राम के राज्याभिषेक तक की कथा है। दशम शती के पूर्वार्द्ध में राजशेखर ने बालरामायण नामक नाटक लिखा जिसका अभिनय भी कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल की आज्ञा से हुआ था। तेरहवीं शती के लगभग जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखा जिसमें राम के चरित्र का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया गया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-नाटक के इतिहास में भी राम-कथा-संबंधी अनेक नाटक लिखे जाते रहे। रामभद्र दीक्षित ने सत्रहवीं शती में 'जानकीपरिणय' नामक नाटक लिखा था और इन्हीं के समकालीन महादेव ने 'अद्भुत दर्पण' लिखा जिसमें अंगद के दौत्य से राम के राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। दशम शती के लगभग शक्तिभद्र नामक केरल देश निवासी कवि ने 'आश्चर्य चूड़ामणि' लिखा जो सात अंकों में रामकथा-सम्बन्धी आश्चर्य रस प्रधान नाटक है। ११ वीं या १२ वीं शती के आस-पास वीरनाग अथवा दिङ्नाग नामक किसी कवि ने 'कुन्दमाला' नामक नाटक लिखा। इसमें भी रामायण की ही कथा है और इस पर भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का विशेष प्रभाव है। मधुसूदन मिश्र विरचित दस अंकों का 'हनुमन्नाटक' और दामोदर मिश्र कृत चौदह अंकों का उसी नाम का महानाटक भी रामचरित-सम्बन्धी अर्द्ध नाटकीय प्रयोग है। कवि मयूरज के 'उदात्तराघव' के कथानक का आधार भी रामायण ही है। १२ वीं शती में सुभट कवि ने 'दूताङ्गद' नामक एक छाया नाटक

लिखा जिसका अभिनय १२४२ ई० में अनहिलपट्टन के चालुक्य राजा त्रिभुवन पाल की सभा में हुआ था। इसमें राम का दूत बन कर अंगद के लंका जाने की कथा है।

१५ वीं शती में रामपुर के मल्लपुरि नरेशों के राजकवि व्यास श्री रामदेव लिखित तीन नाटकों में जो छाया नाटक बतलाए गए हैं 'रामाभ्युदय' भी है जिसमें लंका-विजय सीताकी अग्नि-परीक्षा और राम के अयोध्या लौटने की कथा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार में राम नाटकों की यह साहित्यिक परंपरा ईसा के पूर्व से प्रारंभ होकर प्रायः १७ वीं शती तक अविच्छिन्न रूपसे चलती रही। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि ये राम नाटक भिन्न-भिन्न समयों में तो लिखे ही गए, अन्यच्च बिहार, बंगाल मध्यप्रदेश गुजरात केरल आदि सभी प्रान्तों के कवियों ने भी इनकी रचना में योग दिया। इससे यह सिद्ध है कि इस महादेश के विभिन्न प्रांतों में रामचरित का अभिनय अनेक रूपों में निरन्तर लोकप्रिय रहा। साधारण नाटकों से लेकर छाया नाटक तक में राम के जीवन की विविध घटनाओं का प्रदर्शन होता रहा। यहाँ तक कि कठपुतलियों के खेल के भी अधिकांश कथानक रामायण से[1] ही लिए जाते रहे हैं। ई० पी० हारविज ने लिखा है—

"Tee Hindus never seem to tire of a story told of the saintly Ramá. The Nepalese theatre in the north is known to have produced 'Rama palya as arly as the fourteenth century of our era. The Tamil theatre in the south has shown itself no less partial to the Ramayana... ....Hosts of Indian dramas are derived from the Ramayana."[2]

---

१ ई० ई० पी० हारविज रचित इण्डियन थियेटर्स पृ० १५४–१५५ — "..... As a rule the subject is taken from the traditional lore of the two national epics."

२. द० ई० पी० हारविज कृत 'इण्डियन थियेटर' पृ० १४०–४१

"हिन्दू अर्थात् साधुशील राम की कथा से कभी तृप्त ही नहीं होते उत्तर में नेपाली रंगमंच पर १४ वीं शती में ही राम नाटकों का अभिनय प्रारम्भ हो गया था। दक्षिण में तामिल रंगशाला में भी रामायण के प्रति कम अनुराग नहीं रहा ... सैकड़ों धार्मिक नाटकों का उद्गम रामायण से ही हुआ है।"

राम-नाटकों की इस चिरस्थायी-व्यापी अति प्राचीन साहित्यिक-परम्परा को देखते हुए यह मान लेना कठिन नहीं है कि राम चरित के अभिनय की लौकिक अथवा लोकधर्मी परम्परा भी देश भर में सर्वत्र सर्वसाधारण के बीच इससे बहुत पहले से नहीं तो कम से कम समानान्तर अवश्य चलती रही होगी।

रामचरित के अभिनय की यही लौकिक अथवा लोकधर्मी परम्परा देश भर में आज रामलीला के नाम से विख्यात है। रामलीला राम की ही भक्ति के समान व्यापक तथा प्राचीन है। "हिमालय के गर्भ से गंगा के उद्गम का समय बता सकना जितना कठिन है, उतना ही कठिन रामलीला के आरम्भ का काल बतलाना है।" राम के भक्त तो रामलीला की इस परम्परा को अनादि कहते हैं उनके अनुसार हिन्दू धर्म के अनादि धर्म की भाँति लीला की यह अभिनयात्मक परम्परा भी अनादि ही है।[1] इन भावुक भक्तों के बीच एक किंवदन्ती प्रचलित है कि त्रेता युग में जब राम पिता की आज्ञा से वन को चले गए थे तो अयोध्या के उनके परिजन पुरजन और प्रजाजनों ने राम के बाल-चरितों का अनुकरण और अभिनय करते हुए चौदह वर्ष के विषम वियोग के दिवस काटे थे। इन लोगों का ऐसा विश्वास है कि यहीं से रामलीला की अभिनयात्मक परम्परा का आविर्भाव और विकास हुआ। ऐसी ही कथा श्रीमद्भागवत के अंतर्गत रासपंचाध्यायी में है। गोपियों के बीच विहार करते हुए श्रीकृष्ण जब अन्तर्धान हो गये तो वे उनके दुःसह वियोग का ताप शमन करने के लिए उनके बाल और कैशोर चरितों का परस्पर अनुकरण करने लगीं। ऐसी किंवदंतियों और विश्वासों से रामलीला और रासलीला की प्रागैतिहासिक प्राचीनता की दिशा ही व्यंजित होती है।

---

१ यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

वाल्मीकि रामायण

पाठक' और धारक के माध्यम से रामकथा प्रस्तुत करने की परंपरा इस देश में बहुत प्राचीन है। 'पाठक' कथा का पाठ करने का काम करता था और 'धारक' उसकी व्याख्या। वैदिक और संभवतः पूर्व-वैदिक काल में ही गीतगाथाओं को नाटकीय ढंग से गाने और पढ़ने की परिपाटी चल पड़ी थी, उसी में से इस परंपरा का विकास होना भी संभव है।[1]

(२)

यद्यपि रामलीला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, फिर भी समय-समय पर परिस्थितियों और विशिष्ट व्यक्तियों के प्रभाव से उसके बाह्य रूप और कथावस्तु आदि में कुछ परिवर्तन होते रहे। आज हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में रामलीला जिस रूप में प्रचलित है, उसके प्रवर्तक और निर्माता गोस्वामी तुलसीदास जी माने जाते हैं। गोस्वामी जी के अनेक प्रकार के कार्यों की भूमिका रामानंद जी ने तैयार की थी इसलिए डा० श्याम परमार[2] का यह अनुमान नितान्त निराधार नहीं कहा जा सकता कि 'रामानंद ने रामभक्ति के प्रचारार्थ, बहुत संभव है, रामलीला का माध्यम अपनाया होगा। कदाचित् उस समय की लीलाओं का मंच आज की तरह सुगठित न होकर अनगढ़ अधिक होगा। इस अनगढ़पन का परिष्कार तुलसी के 'मानस' से किया जाना संभवतः विचारणीय है। तुलसी के समय या उनके आगे-पीछे प्रवास की दृष्टि से राम-संबंधी नाटक मंच के लिए लिखे गए हों, तो आश्चर्य नहीं। लोकमंच की सम्पत्ति होने के कारण उनका आज प्राप्त न होना आश्चर्य का विषय नहीं।'

गोस्वामी जी के प्रधान कार्य-क्षेत्र काशी तथा अयोध्या रहे। अयोध्या में उन्होंने रामचरित मानस का प्रारम्भ किया और काशी में उसकी समाप्ति। इन्हीं दोनों स्थानों पर गोस्वामी जी ने रामलीला भी चलाई, इस आशय की अनेक जनश्रुतियाँ प्रायः समस्त अवध और काशी क्षेत्र में प्रचलित हैं। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि गोस्वामी जी को रामलीला का प्रवर्तक मानने के सम्बन्ध में रामलीला की तरह जनश्रुतियों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। सब जनश्रुतियाँ एकमत से काशी और अयोध्या दोनों स्थानों पर गोस्वामी जी को ही रामलीला के प्रवर्तन

१—दे० प्रथम अध्याय पृ० ३, ४ ५ –
२—लोकधर्मी नाट्यपरंपरा पृ० २५

का ध्येय प्रदान करती है। काशी में गोस्वामी जी की चलाई हुई रामलीला अभी तक चली आ रही है। यह आश्विन मास में होती है और इसका भरत-मिलाप बहुत प्रसिद्ध है।

गोस्वामी जी के द्वारा प्रवर्तित होने के पश्चात् रामलीला की अभिनयात्मक प्रविधि ने दो रूप ग्रहण किए। इसका एक रूप वह है जिसमें रामलीला का अभिनय एक ही स्थान या प्रेक्षास्थल में सीमित न रह कर भिन्न भिन्न स्थानों या नगरों के भिन्न भिन्न मुहल्लों में प्रस्तुत किए जानेवाले दृश्य के अनुरूप, अधिक से अधिक यथार्थवादी दृश्य-स्थल और परिवेश में किया जाता है। गोस्वामी जी ने काशीमें जो रामलीला चलाई थी उसका रूप यही रहा। उसका दूसरा रूप वह है, जिसमें एक सुविस्तृत और चारों ओर से खुले हुए स्थान को घेर कर प्रेक्षास्थल बना लिया जाता है। इस प्रेक्षास्थल के एक ओर अयोध्या और दूसरी ओर लंका रहती है। दोनों के बीच में सब प्रकार की लीलाएँ संपन्न होती हैं, और दर्शक लोग उन्हें चारों ओर से देखते हैं।

काशी में रामायण के जिस प्रसंग का जिस स्थान-विशेष पर अभिनय होता था गोस्वामी जी ने तदनुरूप उसका नामकरण भी कर दिया था। वे सब नाम आज भी चले आ रहे हैं और उनमें से बहुत से—जैसे लंका आदि—तो काशी के मुहल्लों के नाम ही बन गए हैं। इसी प्रकार अयोध्या में उन्होंने चैत्र मास में रामलीला चलाई थी तथा काशी की तरह वहाँ भी विभिन्न अभिनय-स्थलों को घटना और प्रसंग के अनुरूप नाम प्रदान किए थे। अयोध्या की रामलीला की वह परंपरा अब लुप्त हो गई है, केवल गोस्वामी जी के दिए हुए अभिनय स्थलों के नाम अभी तक चले आ रहे हैं। अयोध्या के वृद्ध इनका परिचय अनुसंधित्सु को कराते हैं। बहुत खोज करने पर भी इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चला कि अयोध्या की गोस्वामी जी की चलाई हुई रामलीला की परंपरा कब तक चलती रही और फिर वह किस समय और किन कारणों से लुप्त हो गई। आजकल अयोध्या में अनेक रामलीलाएँ आश्विन मास में होती हैं, पर उनमें से कोई भी बहुत प्राचीन नहीं सब सौ वर्ष के इधर की ही हैं। अयोध्या की सबसे पुरानी अभिनय-परम्परा अगहन में होने वाले राम-विवाह अथवा धनुर्यज्ञ की है। यह गोस्वामी श्री रामप्रसाद जी महाराज ने जो अयोध्या के एक प्रसिद्ध सन्त हुए हैं, चलाई थी। गोस्वामी श्री रामप्रसाद जी महाराज ने सं० १७६० वि० के लगभग

एक गद्दी की स्थापना की थी जो अब बड़ी जगह के नाम से विख्यात है। अयोध्या के सब पुराने तथा जानकार लोगों ने तथा स्वयं बड़ी जगह के महन्त जी ने मुझे यह बतलाया कि उनके यहाँ राम-विवाह का अभिनय अविच्छिन्न रूप से गोस्वामी रामप्रसाद जी के समय से होता चला आ रहा है। इस प्रकार धनुषयज्ञ की यह परम्परा दो सौ वर्ष से भी कुछ पुरानी प्रतीत होती है।

गोस्वामी जी काशी की रामलीला आश्विन मास में विजया दशमी के अवसर पर करवाते थे और अयोध्या में चैत्रमास में राम के जन्म-महोत्सव के उपलक्ष्य में उसका आयोजन करते थे। अयोध्या में गोस्वामी जी प्रतिवर्ष रामनवमी के अवसर पर रामलीला की व्यवस्था के लिए पधारते थे और कहा जाता है कि उनके साथ काशी के प्रसिद्ध मेघा भगत[1] भी आया करते थे। रामलीला जिस स्थान से आरंभ होती थी उसे आजकल तुलसी चबूतरा कहते हैं। इसी स्थान पर गोस्वामी जी ने रामायण की रचना भी प्रारंभ की थी।

काशी और अयोध्या की रामलीला के समय में अंतर होने से गोस्वामी जी को दोनों में सम्मिलित होने तथा दोनों की समुचित व्यवस्था करने की सुविधा तथा अवकाश रहता होगा, परंतु इसका मुख्य उद्देश्य तो कदाचित् यह होगा कि राम के जीवन की दो महत्त्वपूर्ण घटनाओं—उनका जन्म और उनके द्वारा रावण-वध—की स्मृति सार्वजनिक रूप में सम्यक् सुरक्षित रहे। आजकल भी रामलीला के ये ही दोनों समय हैं। उत्तर प्रदेश के अधिक भागों में रामलीला आश्विन में होती है और राजपूताना मालवा आदि में वह चैत्रमास में होती है। इस प्रकार रामलीला के अभिनय-समय पर तो गोस्वामी तुलसीदास जी की व्यवस्था का प्रभाव स्पष्ट है।

यदि हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि रामलीला का समय निश्चित करने के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने कोई नई बात नहीं की वरन उन्होंने एक पुरानी चली आती हुई परम्परा को ही ग्रहण कर उसे पुनरुज्जीवित किया तो भी हिन्दी-भाषा-भाषी प्रांतों में रामलीला की प्रचलित परिपाटी पर अनेक रूपों में गोस्वामी जी का प्रभाव मान लेने में किसी प्रकार की बाधा अथवा कठिनाई का अनुभव नहीं होता। यही कारण है कि आज बहुत से लोग गोस्वामी जी को ही रामलीला का आदि

1—द० भक्तमाल सियाराम जी की टीका।

प्रवर्तक माने बैठे हैं। यह बताया जा चुका है कि रामलीला की परम्परा कितनी प्राचीन है। एक संकेत यह भी मिलता है कि गोस्वामी जी के द्वारा रामलीला प्रारम्भ होने से पूर्व काशी में मेघा[1] भगत की रामलीला होती थी। ऐसा अनुमान हो सकता है कि विपरीत परिस्थितियों से आक्रान्त होकर रामलीला की यह अभिनय-परम्परा कालान्तर में ह्रासोन्मुख और विरल हो गई हो और मेघा भगत सरीखे साधु सन्त उसे काशी जैसे स्थानों में ज्यों त्यों चलाते चले आ रहे हों। इसी का गोस्वामी जी ने उद्धार किया और नए सिरे से उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की। अतएव गोस्वामी जी यदि रामलीला के आदि प्रवर्तक नहीं तो उसके स्वरूप के नवीन निर्माता तथा उन्नायक तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हैं। गोस्वामी जी जैसा महान् कवि और परिपूर्ण कलाकार रामपरक श्रव्य काव्य को रामचरितमानस में चरम उत्कर्ष तक पहुँचा कर तत्सम्बन्धी दृश्य-काव्य रामलीला की उपेक्षा करता यह सम्भव भी नहीं था।

रामलीला में मूक-अभिनय (dumb shows) का भी भाग रहता है। ई० पी० हारविज[2] ने लिखा है—"The people of India look upon dumb shows with as much favour as the English do on Christmas Pantomimes.

अर्थात् 'भारतीय मूक अभिनय को उतना ही पसन्द करते हैं—जितना अँगरेज बड़े दिन के अवसर होने वाले स्वाँगों को।" हारविज ने विशप हेबर के विवरण का हवाला देते हुए लिखा है—

"Bishop Heber describes the "Seize of Lanka as he saw it performed at the Ram Lila festival in Allahabad Ravana's palace was constructed of bomboo reeds, and decorated with coloured papers. Doors and windows were gaily painted and a frightful paper-giant stood on the roof of the building. The ogre was fifteen feet high, and had

१—दे० ना० प्र० सभा काशी से प्रकाशित रामचरित मानस की भूमिका।

२—इण्डियन थियेटर पृ० १५८ ई० पी० हारविज।

twelve arms with some kind of weapon in each At his feet sat a little girl meant to be Sita, two green dragons made of inflated bladder were guarding the prisoners The little mite was wrapped in a gorgeous veil, and must have felt very tired for she drooped her curly head and was soon fast asleep Hanuman having a monkey's mask pulled over his ears was capering and gambolling outside the City gates He had a long bushy tale and his skin was dyed with indigo."

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि रामलीला में मूक-अभिनय का स्थान बड़ा प्रमुख रहता है, पर रासलीला में उसकी योजना के लिए अपेक्षाकृत अवकाश रहता है। रामलीला का रंगमंच जितना विराट और उन्मुक्त है, रासलीलाएं उतना ही लघु और सीमित। पर रासलीला की ही तरह रामलीला की भी विशिष्ट अभिनय प्रविधि का स्वतन्त्र विकास हुआ है और उसने भी एक सीमा तक हिन्दी-नाट्य परम्परा को प्रभावित किया है। रामलीला के प्रारम्भ में पूर्वरंग की एक निश्चित विधि का पालन किया जाता है जिसमें स्थान-भेद से प्रकार-भेद भी देखा जाता है। कहीं यह गणेश भगवान् के मुकुटों के पूजन से आरंभ होती है और कहीं इसी प्रकार के अन्य कर्मकाण्ड से। रामलीला की प्रविधि का निरूपण करने वाले जो कतिपय ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें पात्रों के चुनाव-संबंधी निर्देश दिए गए हैं। पात्रों के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वे सब चतुर और उच्च स्वर से बोलने वाले हों। राम, लक्ष्मण, भरत शत्रुघ्न सब कुमार अवस्था के और चतुर हों। सीता कुमारी और कोमल प्रकृति की हों दशानन प्रतापी लम्बे डील का चतुर और परशुराम तीक्ष्ण प्रकृति के हों। इसी प्रकार रामलीला की रंगमंचीय व्यवस्था और पात्रों की वेशभूषा के विषय में भी विस्तृत निर्देश प्राप्त होते हैं। 'आनन्द रामायण' में रामलीला के विधान का सविस्तार विवेचन प्राप्त होता है। — —

रामलीला के अभिनय का आधार रामचरितमानस है। लीलाभिनय करने वाले पात्र रामचरितमानस की चौपाइयों को कंठ कर लेते हैं और कथोपकथनों में प्राय: उन्हीं का प्रयोग करते हैं। यदि उन्हें चौपाइयाँ कंठ नहीं होतीं तो

सूत्रधार अथवा व्यास उनको पढ़ते हैं और अभिनेतागण उनका भाव अपने शब्दों में व्यक्त करते हैं। रामलीला के रंगमंच और मेघनाद का निर्माण किसी मैदान में बाग बाँध कर किया जाता है। लीलाभिनय में भाग लेने वाले पात्र इसी में घूम-घूम कर लीला करते हैं। वे थोड़ी थोड़ी दूर चलकर खड़े होकर अपना पाठ्य प्रस्तुत करते हैं।

जिस प्रकार रासलीला की प्रविधि ने हिन्दी-साहित्य पर अपना प्रभाव कायम है, उसी प्रकार रामलीला का भी प्रभाव पड़ा है। भक्ति-काल के अंतर्गत, संभवतः रामलीला की अभिनय एवं रंगमंच की परम्परा को ध्यान में रखकर ही कविवर प्राणचंद ने 'रामायण महानाटक' लिखा और हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' की रचना की। 'रामायण महानाटक' में कवि ने गोस्वामी तुलसीदास जी के 'मानस' की शैली का अवलंबन किया है, और कथानक के संघटन में वाल्मीकि की रामायण से भी सहायता ली है। रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह ने रीतिकाल के अंतर्गत हिन्दी का प्रथम माना जाने वाला नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' लिखा। यह नाटक भी रामलीला की अभिनय-परंपरा से प्रभावित है। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शती में भी कई रामलीला नाटक लिखे गए। इनमें उदय कवि-कृत 'हनुमान-नाटक' 'राम करुणा' (मकरन्द संग्राम नाटक) नाटक' और 'अहिरावण लीला' हरिराम का 'जानकी-रामचरित'; ज्वालाप्रसाद 'मधुकर' का 'रामलीला विहार' विशेष उल्लेखनीय है। आगे चल कर भारतेन्दु ने इस नाटक-परंपरा की अंतर्निहित वास्तविक शक्ति का भी साक्षात्कार किया और उन्होंने काशी की प्रसिद्ध रामलीला के लिए सरस पाठ्य का प्रणयन किया जिसमें 'पाठक' और 'नायक' दोनों के लिए उपयुक्त सामग्री मिलती है, साथ ही सूत्रधार के लिए आवश्यक रंग-निर्देश भी दिए गए हैं। उसके आरंभ के कुछ अंश यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

श्री राम-लीला

(सं० १९३६)

पद

हरि,लीला सब विधि सुखदाई।
कहत सुनत देखत जिय आनंद देति भगति अधिकाई॥
प्रेम बढ़त भय नसत पुन्य-रति जिय मैं उपजत आई।
याही सों हरिचंद करत मुनि नित हरि-चरित बड़ाई॥१॥

गद्य

वाह ! भगवान् की लीला भी कैसी दिव्य और धन्य पदार्थ है कि कलि-मलग्रसित जीवों को सहज ही प्रभु की ओर उन्मुख देती है और कैसा भी विषयी जीव क्यों न हो दो घड़ी तो परमेश्वर के रंग में रंग ही देती है। विशेष कर के धन्य हम लोगों के भाग्य कि श्रीमान् महाराज काशिराज भक्त-शिरोमणि की कृपा से सब लीला विधि-पूर्वक देखने में आती है। पहले मङ्गलाचरण होकर रावण का जन्म होता है फिर देवगण की स्तुति और वैकुंठ और क्षीरसागर की झाँकी से नेत्र कृतार्थ होते हैं। फिर तो आनंद का समुद्र भी राम-जन्म का महोत्सव है जो देखने ही से संबंध रखता है, कहने की बात नहीं है।

कवित्त

राम के जनम माँहि आनँद उछाह जौन
सोई दरसायो ऐसी लीला परकासी है।
तैसे ही भवन दसरथ राज रानी माहि
तैसो ही आनंद भयो दुख-निसि नासी है।
सोहिलो बधाई द्विज दान गान बाजे बजैं
रंग पुष्प-वृष्टि जाल तैसी ही निकासी है।
कलियुग त्रेता कियो नर भव देव कीन्हें
आजु कासीराज जू अजुध्या कीनी कासी है ॥२॥

फिर भी रामचंद्र की बाल-लीला मुण्डन कर्णवेध जनेऊ विहार खेलना आदि ज्यों का त्यों होता है जिसके देखने से मनुष्य भवदुःख मूल से खोता है। फिर विश्वामित्र आते हैं संग में श्रीराम जी को सानुज ले जाते हैं। मार्ग में ताड़िका सुबाहु का वध और फिर चरण-रेणु से अहिल्या का तारना। अहा! धन्य प्रभु के पद-पद्म जिनके स्पर्श से जहाँ मनुष्य पारस होता है देवता बनता है वहाँ पत्थर तरता है। इस प्रभु की दीन दयालुता पर भी महाराज की रुचि।

दोहा

हम जानो तुम पेर जो लावत तारन मोहिं।
पाहनहू तें कठिन गुनि मो हिय आवत नाहिं ॥३॥
तारन मैं मो दीन पै लावत प्रभु कित वार।
कुलिस रेख तुव चरनहू जो मम पाप पहार।

कवि की उक्ति

मो ऐसे को तारिबो सहज न दीन-दयाल!
आहन पाहन पवनहू सों हम कठिन कृपाल ॥५॥
परम मुक्तिहू सों कठव तुम पद-पदुम मुरारि।
यहि जतावन हेत तुम तारी गौतम-नारि ॥६॥
पहो दीनदयाल यह मति अचरज की बात।
जो पद सरस समुद्र छाँहि पाहनहू तरि जात ॥७॥
कहा पखानहुँ तें कठिन मो हियरो रघुबीर।
जो मम तारन मैं परी प्रभु पद इतनी भीर ॥८॥
प्रभु उदार पद परसि जड़ पाहनहूँ तरि जाय।
हम चैतन्य कहाइ क्यों तरत न परत लखाय ॥९॥
अति कठोर निज हिय कियो पाहन सों हम हाल।
जामैं कबहूँ मम सिरहु पद-रज दैहि दयाल ॥१०॥
हमहूँ कछु लघु सिल न जो सहजहिं दीजै तार।
लगिहै इत कछु बार प्रभु हम तौ पाप-पहार ॥११॥

फिर भी रामचन्द्र जी सहज जनक-नगर देखने जाते हैं पर नारियों के मन मैन देखते ही लुभाते हैं।

कवित्त

कोऊ कहै यहै रघुराज के कुँवर कोऊ
कोऊ खड़ी एक टक देखै रूप घर मैं।
कोऊ सिरकीस कोऊ हाट बाट धाई फिरै
बावरी ह्वै पूछै गए कौन सी डगर मैं॥
'हरीचंद', झूमि मतवारी डग मारी कोऊ
थकी सी थकी सी कोऊ खरी घरै घर मैं।
लहर चढ़ी सी कोऊ जहर मढ़ी सी भई
लहर पड़ी है आजु जनक सहर मैं॥'२॥

फिर श्रीराम जी फुलवारी में फूल लेने जाते हैं। उस समय फुलवारी की रचना कुंजों की बनावट जल के सोतों का लावण्य और चिड़ियों का चहचहाना यह सब देखने ही के योग्य है।

इतने में एक सखी जो कुंजों में गई तो वहाँ राम रूप देख कर बावली हो गई। जब वहाँ से फिर कर आई तो और सखियाँ पूछने लगीं।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली दूसरा खंड पृ० ७५० से ७५२ तक

भारतेन्दु जी के सहयोगियों ने भी रामलीला नाटकों की परम्परा का समुचित साहित्यिक उपयोग किया। इस दृष्टि से प्रेमघन का 'प्रयाग-रामागमन' नाटक का स्थान विशिष्ट है। प्रयाग की प्रसिद्ध प्रदर्शनी के अवसर पर इसका अभिनय भी प्रयाग के सांस्कृतिक इतिहास में अमर हो गया है। इस युग में रामलीला नाटकों की परंपरा को पुरस्सर करने वालों में 'जानकी मंगल' और 'रामचरितावली' के रचयिता ईश्वरी प्रसाद, 'रामलीला रूपक' के प्रणेता दामोदर शास्त्री, 'रामलीला नाटक' और 'सीता वनवास' के लेखक श्री ज्वाला प्रसाद मिश्र का नाम भी स्मरणीय है। पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने अपने 'रामलीला नाटक' को अंकों और दृश्यों में विभाजित न कर उसे दर्शनों में बाँटा है। इस नाटक में बालकाण्ड की कथा को ग्यारह दर्शनों में विभाजित किया गया है और अयोध्याकाण्ड की कथा दस दर्शनों में विभक्त है। अन्य कांडों की कथा भी इसी प्रकार के भिन्न भिन्न संख्या वाले

दर्शनों में बँटी है। अनेक परवर्ती [illegible] लेखकों ने दृश्यों के नामकरण में इसी पद्धति का अवलंबन किया है।

ज्वालाप्रसाद मिश्र का सबसे उल्लेखनीय काम यह है कि उन्होंने अपने 'रामलीला नाटक' के उपोद्घात में परंपरा से चली आती हुई रामलीला की अभिनय-प्रविधि का विस्तृत विवरण दे दिया है। उनके पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी अन्य लेखक ने इस विषय का ऐसा सांगोपांग निर्देश नहीं किया है। इस विवरण में अस्पष्ट रूप में हिंदी में रामलीला के अभिनय-शास्त्र के सब तत्त्व विद्यमान हैं। सबसे पहले इसमें उपयुक्त अभिनेताओं के चुनाव का मानदंड निरूपित हुआ है, और बड़े विस्तार से यह बताया गया है कि रामलीला के अभिनेताओं का चुनाव करते समय उनमें रामायण के पात्रों के वय, वपु, वर्ण, और शील की अनुरूपता का पूरा पूरा ध्यान रखा जाय। इसके पश्चात् उसमें दृश्य-योजना-संबंधी अत्यंत उपयोगी रंग-निर्देश दिए गए हैं, जो लोकधर्मी नाट्यपरंपरा का सहज सुगम रूप हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। उदाहरण स्वरूप उन्होंने यह बताया है कि क्षीरसागर के स्थान में एक श्वेत वस्त्र बिछा हो पर्दे के पीछे से आकाशवाणी हो। राम के बाण छोड़ते ही गुब्बारे के समान सिर हाथ वाले मारीच के पेट में धुआँ भर कर उड़ा देना चाहिए। फिर वहाँ से चल कर मार्ग में एक कपड़े से ढकी स्त्री को चरण छुआ कर राम उद्धार करें शरभंग मुनि का कागजी का ढाँचा बनाया जाय इसके पीछे एक मनुष्य बैठ कर बातचीत करे पीछे उसमें अग्नि देने से वह आदमी उठ जाय। जटायु कागज का बना हुआ किसी मनुष्य के उठाने पर युद्ध करे। जटायु की क्रिया होने पर उसके भीतर से निकला पुरुष मुकुटादि पहरे विष्णुरूप से चला जाय। ताड़ के कृत्रिम सात पेड़ बना उनमें एक तार बाँध दें जो राम के बाण मारते ही खींचने से टूट जा पड़ें कृत्रिम समुद्र श्वेत कपड़ा बिछा कर इतना चौड़ा बनाया जाय कि हनुमान उसको एक छलाँग में लाँघ जाय।" ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इसी प्रकार के सरल निर्देश स्थान-योजना के विषय में भी दिए हैं दो-चार उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

'कोपभवन—इसमें बिछौना बिछा हो एक चौकी धरी हो।
चित्रकूट—एक ऊँचा स्थान कृत्रिम वृक्षों से युक्त हो।

पंचवटी—वाम में मुनियों के आश्रम, कृत्रिम वृक्ष एक चौकी बिछी हुई।

मारीच का घर—मारीच के बैठने को चारपाई रावण को कुर्सी।

रावण सभा—बीच में कुरसी इधर-उधर तिपाइ हों।

शबरी का स्थान—चटाई बिछी हुई, कुशा के आसन पर हुए।

लंका—एक बड़ा सा स्थान कागज का चित्रित बना हुआ जिसमें चार द्वार हों ऊपर बैठक हो।

पाताल लोक—नाट्य में हो तो आली के भीतर छीका हो।

इसी प्रसंग में आगे चल कर मिश्र जी ने पात्रों के वेश-विन्यास के संबंध में भी विस्तृत निर्देश दिए हैं। उसके भी कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

ऋषि—सिर पर जटाजूट बाँधे गले में रुद्राक्षमाला जनेऊ पहरे, हाथ में कमंडलु पीताम्बर ओढ़े धोती-खड़ाऊँ पहरे, माथे पर तिलक, लंबी दाढ़ी जिसमें काले सफेद बाल।

राम—राजकुमारों का सा वेश विवाह तक सब भूषण किरीट आदि धारण किए, बहुमूल्य वस्त्र पहरे, वन जाने के समय जटा मुकुट पीताम्बर पहरे हाथ में धनुषबाण।

निषाद—हरे रंग का अँगरखा लाल चौंपिया पगड़ी में गोटा लगा हाथ में धनुष-बाण।

राक्षसियाँ—काला लहँगा काली छींट का दुपट्टा।

मंदोदरी सुलोचना—राजकीय वस्त्राभूषण और गहने।

मंत्री—अँगरखा दुपट्टा पगड़ी जूता हाथ में दुशाला माला कंठी पहरे हुए।'

ज्वाला प्रसाद मिश्र ने अपनी 'रामलीला रामायण' में गोस्वामी जी के 'रामचरितमानस' को ही नाटकीय रूप प्रदान किया है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है प्रत्येक काण्ड दृश्यों में बँटा है। प्रारंभ में नांदी है, जिसमें बालकाण्ड के प्रारंभ के मंगलाचरणात्मक श्लोक और सोरठा संकलित हैं। पाद-टिप्पणियों में उनका अर्थ भी दिया गया है। प्रस्तावना में शिव-पार्वती संवाद का कुछ अंश रामायण से रखा है। पर्याप्त समाप्त होने पर शिव जी पार्वती से कहते हैं— यह क्यो

सनकादि से मत पाए देवता क्षीरसागर में भगवान् के पास जाते हैं, हम भी चलें। इसके पश्चात् क्षीरसागर के तट पर लीला आरंभ हो जाती है।

इस परंपरा के अन्य उल्लेखनीय नाटक हैं सच्चिदानन्द सरस्वती के अनन्तर अग्रवाली का लिखा हुआ 'रामलीला नाटक (बालकाण्ड)' गोस्वामी नारायण सहाय का 'रामलीला नाटक रामायण' रघुवरदयाल 'मिश्र' का 'रामलीला महानाटक' स्वामी जगन्नाथदास का 'बृहद्रामचरितदर्पण नाटक' मंगली प्रसाद का 'रामचरित नाटक अर्थात् रामलीला' रसिकबिहारी जी की 'कुंजबारी लीला' काशी के बलदेवदास की 'रामलीला कौमुदी' कानपुर के लक्ष्मीन कवि का 'रामचन्द्र दर्पण नाटक' तीन भाग। इन सब रचनाओं में प्रायः आधार ग्रंथ के रूप में रामचरितमानस का ही उपयोग किया गया है, किसी किसी में प्रचलित सामयिक प्रवृत्तियों का भी समावेश किया गया है। गोस्वामी नारायण सहाय के 'रामलीला नाटक रामायण' में पारसी नाटकों की शैली का भी आग्रहपूर्वक ग्रहण किया गया है। उन्होंने भूमिका में स्वयं लिखा है कि इसमें 'नाटकी धुन पर हर तरह के दिलचस्प गाने सरल ब्रजभाषा में पूरित हैं। रामलीला किसी किसी नगरों में तो अभिनय (नाटक) रीतिपर आरंभ हो गई है, जिनमें साधारण रामलीलाओं की अपेक्षा विशेष आनंद तथा रामचरित का प्रभाव दर्शकों के चित्त पर पूर्णरूप से पड़ता है। इसमें 'नाटकी धुन' और 'अभिनय (नाटक) रीति' का स्पष्ट अर्थ पारसी शैली है। उसके उपर्युक्त कथन में विशेष आनंद की यह व्यंजना सर्वथा स्पष्ट है कि केवल पारसी नाटकों के आडंबर और तड़क-भड़क के सामने रामलीला की आडंबर-शून्य सात्त्विकता को हीन दृष्टि से देखने लगा था। पारसी नाटकों द्वारा उत्पन्न की गई यह विकृति अन्य दिशाओं में भी लक्षित होती है। मंगली प्रसाद ने भी अपने 'रामचरित नाटक' में नाटक-पात्र-सूचना के अंतर्गत पात्रों की वेशभूषा का जो विस्तृत विवरण दिया है उसमें भी यही प्रभाव दिखाई पड़ता है।

रामलीला-नाटकों की इस परंपरा का अनुशीलन करने के पश्चात् यह प्रश्न मन में स्वाभाविक रूप से उठता है कि इस परंपरा में रासलीला की शैली की परम शुद्ध मानी जाने वाली निकुंज-लीलाओं का प्रणयन हुआ अथवा नहीं ? अब तो यह भी सिद्ध हो गया है कि रामभक्ति में भी रसिक-संप्रदाय उतना ही पुराना है जितना कि कृष्ण-भक्ति के अंतर्गत। रामभक्ति के क्षेत्र में रसिक-साधना की

रा का विस्तार भी कृष्ण भक्ति-क्षेत्र की अपेक्षा कम नहीं है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने लिखा है—"अति प्राचीन काल से ही श्रीराम की उपासना चली आ रही थी किन्तु उसका विशेष विकास आठवीं शताब्दी ईसवी के पश्चात् हुआ। सत्योपाख्यानकार से लेकर श्रीकृष्णदास पयहारी पर्यंत श्रीरामचन्द्र जी की उपासना के विषय में जिस साहित्य की रचना हुई थी उसमें रसिक भावना की स्पष्ट छाप विभिन्न स्थलों में दिखाई देती है।) इतस्ततः बिखरे रहने पर भी यह समस्त वाङ्मय एक अप्रकाशित गुप्त साधना का अंगीभूत है।"[1] कुछ विद्वानों का कहना है कि स्वयं गोस्वामी तुलसीदास जी भी मधुर भाव के साधक थे। 'गीतावली' में शृंगार के कई ऐसे पद हैं जो सिद्ध करते हैं कि गोस्वामी जी का बाह्य (साधक) रूप मर्यादावादी दास भाव का था परंतु आंतरिक गुप्त (सिद्ध) रूप लीला विलासी सखी भाव का था।[2] ऐसी स्थिति में राम की रागमयी भक्ति का साहित्य के भव्य और दृश्य दोनों ही रूपों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। डा॰ भगवती प्रसाद सिंह[2] का कहना है कि "रसिक रामभक्तों की एक अन्य उल्लेखनीय देन है राम की शृंगारी लीलाओं का प्रदर्शन का विकास। तुलसी के समकालीन नाभादास के 'भक्तमाल' से ज्ञात होता है कि उस समय अथवा उसके कुछ पहले से 'समाज' में रामचरित का प्रदर्शन भिन्न-भिन्न रूपों में चला आ रहा था। नाभादास ने नाटक के रूप में तथा मुरारिदास और प्रयागदास ने रासक के रूप में रामचरित मानस दिखाया था। स्वयं तुलसीदासजी ने 'रामचरित मानस' के आधार पर काशी में सम्पूर्ण रामलीला और सीतापुर (सीतापुर) में रामविवाह लीला का प्रदर्शन कराया था ऐसी किंवदंती प्रसिद्ध है। इन लीलाओं के आयोजन में उन्हें रसिक रामभक्तों से प्रेरणा मिली हो तो कोई आश्चर्य नहीं।" कम से कम मार्गशीर्ष मास में होने वाली रामविवाह लीला की परंपरा निश्चय ही रसिक संप्रदाय की देन है।

फिर रामभक्ति में शृंगारी लीलाओं के प्रदर्शन ने कभी भी वह अमर्यादित रूप नहीं ग्रहण किया जो कृष्ण भक्ति की मधुर उपासनात्मक निकुंज लीलाओं में देखा गया। इसका प्रमुख कारण गोस्वामी तुलसीदास जी के कठोर मर्यादावादी व्यक्तित्व की परम सात्विक प्रेरणा ही है। इसके अतिरिक्त मधुर उपासना के आचार्यों

1—भुवनेश्वर माधव कृत 'राम भक्ति साधना में मधुर उपासना' पृ॰ ११७।

2—डॉ॰ भगवती प्रसादसिंह कृत 'राम भक्ति में रसिक संप्रदाय'—पृ॰ ८५११।

ने भी रामभक्ति को 'परम गोपनीय' घोषित किया—'गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं च सर्वदा।' इन आचार्यों ने इस साधना-सिद्धान्त और साहित्य का लोक में प्रचार भी सर्वथा वर्जित कर दिया। इसलिए इस उपासना का समाज पर अपेक्षाकृत कम अहितकर प्रभाव पड़ा।

(४)

पहले लिखा जा चुका है कि पयहारी कृष्णदास जी ने अयोध्या में रामलीला की जो परंपरा चलाई थी वह अवध और उत्तर प्रदेश के अन्य अंचलों में प्रायः लुप्त हो गई है। वहाँ रामलीला अब आश्विन मास में ही होती है। पर राजस्थान में चैत्र मास में संपन्न होने वाली रामलीला की परंपरा अब भी चल रही है। वहाँ आश्विन मास में जब विजया दशमी के दिन बाँस और कागज के बने हुए रावण के पुतले को मार कर और जला कर केवल रावण-वध की परंपरा का पालन किया जाता है। जन्म से आरंभ कर भगवान् राम के जीवन की सब लीलाओं का अभिनय वहाँ प्रायः रामनवमी के अवसर पर चैत्र के शुक्ल पक्ष में ही होता है। ब्रज में जिस प्रकार रासलीला की मंडलियाँ हैं, जो स्थान-स्थान पर घूम घूम कर भगवान् कृष्ण की लीलाओं का अभिनय करती हैं, वैसी ही व्यावसायिक और अव्यावसायिक दोनों ही प्रकार की रामलीला की मंडलियाँ राजस्थान में हैं जो घूम-घूम कर रामलीला का अभिनयात्मक प्रदर्शन करती हैं। कदाचित् इसी को लक्ष्य कर देवीलाल सामर ने लिखा है—'राजस्थान में भी अपनी रामलीला की पार्टियाँ हैं जो दशहरे पर ही नहीं किन्तु वर्ष में कभी भी अपने प्रदर्शन करती हैं।'[1]

रामलीला की अव्यावसायिक एवं विशुद्ध धार्मिक परंपरा का एक ही रूप लेखक को यहाँ दिखाई पड़ा। उत्तर प्रदेश के विभिन्न सांस्कृतिक केन्द्रों में रामलीला में जो स्थानगत विभेद या वैशिष्ट्य मिलता है, वह यहाँ देखने में नहीं आया। पीसांगन, मौंमटोक, कमास और पाँटोदा की रामलीला बहुत लोकप्रिय है। यहाँ यह भी सुनने में आया कि लगभग पचास वर्ष पूर्व पाटोदा-निवासी मल्हार बक्स ने रामलीला के उत्थान में बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया था।

१ राजस्थानी लोकनाट्य पृ० १५.

राजस्थान में रामलीला का रंगमंच चारों ओर से खुला हुआ रहता है। रंगमंच के काम के लिए एक चबूतरा रहता है, जिसके ऊपर एक चंदोवा तान दिया जाता है। रंगमंच के पास ही एक कुई रहती है, जहाँ नगारे बैठा दिए जाते हैं। सब स्वरूप आकर उस रंगमंच पर पहले से ही यथास्थान बैठ जाते हैं, और लीला के अनुक्रम से वाद्य के साथ साथ संगीतात्मक संवाद चलते रहते हैं, गद्य का प्रयोग प्रायः नहीं ही किया जाता है। भगवान् राम के जीवन की जन्म से लगा कर अभिषेक तक की सब लीलाएँ होती हैं, सीता-वनवास की घटना से संबंधित उत्तर राम चरित का समावेश उसमें नहीं किया जाता। बीच बीच में अहल्या, गंगावतरण आदि की जो प्रासंगिक कथाएँ आती हैं, उनका भी सांगोपांग अभिनय किया जाता है।

अभिनेताओं के आहार्य में भी औचित्य का पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है। ऋषियों और साधुओं की वेषभूषा में पीतांबर रहता है, ऊपर गेरुआ तथा अंगरखा सफेद दाढ़ी सफेद मूँछ और तिलक माला जनेऊ आदि रहते हैं। स्त्रियों की वेषभूषा साधारण स्त्री की जैसी ही रहती है, विशेषता यह है कि राक्षसियों की वेषभूषा भी शिष्ट महिलाओं जैसी रखी जाती है, केवल ताड़का और शूर्पणखा इसका अपवाद होती हैं जो राक्षसियों के चेहरे लगाती हैं। समुद्र ब्राह्मण के रूप में प्रकट होता है, और जामवंत आदि के उनकी जाति के सूचक चेहरे लगाए जाते हैं। राम और उनके अनुज पीतांबर पहनते हैं, मुकुट कुंडल किरीट धारण करते हैं, तथा धनुष-बाण और निषंग से सज्जित रहते हैं। बंदर लाल जाँघिया पहनते हैं जिसमें सफेद किनारी लगी रहती है, कुर्ता भी लाल ही रहता है, उनका मुँह भी कुंकुम से लाल कर दिया जाता है।

दृश्य-विधान के लिए बड़ी सुगम प्रविधि का अवलंबन किया जाता है। दो आदमी एक सफेद चादर को पकड़ कर खड़े हो जाते हैं और उससे गंगा का दृश्य प्रस्तुत हो जाता है। सिंधु का दृश्य भी इसी प्रकार दिखा दिया जाता है। लंका रामलीला के अखाड़े से अलग बनाई जाती है। चारों किनारों पर कच्चे खड्डे खोद कर दिए जाते हैं, ऊपर तख्ते बिछा कर उन पर रावण का दरबार लगाया जाता है—मचान जैसा। लंका के चार तरफ चार द्वार रहते हैं, जिन पर योधे रहते हैं और उन्हीं को तोड़ कर हनुमानजी द्वार-भंग की सूचना देते हैं।

रामलीला आरंभ होने के पूर्व नाटकों के नांदी की तरह विभिन्न देवताओं की स्तुति द्वारा मंगलाचरण किया जाता है। उसके पहले आयोजन की निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्राम-देवताओं की पूजा होती है, और प्रथम दिन अखाड़े के एक किनारे पर ध्वजा की स्थापना की जाती है जो भरत के नाट्यशास्त्र के जर्जर की स्थापना का अवशेष प्रतीत होता है।

राजस्थान में जिस रामायण के आधार पर रामलीला होती है, वह हाड़ौती भाषा में लिखी हुई है। यह रामायण जिन ग्रंथों का आधार लेकर लिखी गई है वे हैं—(१) वाल्मीकि रामायण (२) अध्यात्म रामायण (३) प्रसन्न राघव, और (४) तुलसीकृत रामायण। लगभग दस वर्ष पूर्व जब लेखक राजस्थान में इस विषय की खोज करने के लिए गया था तब तक यह छपी नहीं थी। यह दोहा छंद में है और संवादात्मक है, और प्रायः इसी से पूरी रामलीला होती है। यह यद्यपि आध्यात्मिक धर्मात्मक अर्थप्रधान नहीं है, पर इसमें भगवान् राम के जीवन की घटनाओं का क्रमबद्ध संवादात्मक उल्लेख है। उसका स्वरूप संवादों से परिपूर्ण एक संगीतात्मक नाटक जैसा है। कोटा के वकील श्री अमर सिंह राजस्थान के लोक नाटकों के अच्छे जानकार हैं; उन्हीं से मुझे हाड़ौती भाषा की इस रामायण के विषय में जानकारी प्राप्त हुई थी। इसके कुछ अंश भी मैंने उनसे सुने थे। उनसे यह भी ज्ञात हुआ था कि कम से कम ८०-९० वर्ष से यह रामायण इसी रूप में चली आ रही है और वास्तव में यह बहुत दिनों से चली आती हुई कथात्मक संवादों की परंपरा का विकास या संचयन सी प्रतीत होती है। इस रामायण के चुने हुए प्रसंग का एक किंचित् अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

अशोक-वाटिका

राग

सीताजी — मुद्रिका किसन पट की खोल
जिन्हों का मुझे पता नहीं तोल,

हनुमानजी—मात हनुमंत राम को दूत
मात अंजनी को जीजे पूत।

७८

सीता — कसी घड़ी को जनम तुम्हारो
कसी घड़ी को पूत
आज धारी उत्पत्त देय बताय
सुणा हूँतो तू पता होयो पूरा स समाचार ॥ मुद्रिका

हनुमान — उसी घड़ी को जनम हमारो गंगा नवाई शिवनाथ
हरि मा पड़ी अंजनी प आर
सदाशिव जी सूं उत्पन म्हारी ये म्हारा
समचार ॥ मास ॥

सीताजी — म देखो मन पुरी अयोध्या न सरजू की तीर
राम की फन्द सूं होयो र हार
जल्दी बताद मन पवनसुत पूछूं बारम्बार ॥ मुद्रिका ॥

हनुमानजी—म रहूँ माजी पुरी अयोध्या न सरजू की तीर
मल्यो यूँ ऋष्यमुक पर्वत जार
सेवा करूँ सुग्रीव कीस री ये म्हारा समचार।

सीताजी — जनम जनम की बातों सुणता आयो म्हार विसवास
एक लक्ष्मण का कह समचार
गोद भार म्हार पवनसुत पूछूँ लंका माँहि ॥ मुद्रिका ॥

हनुमान — ऋष्यमुक प महाराज विराजे भरतार
पदम दस सार
मार दीनो छ राजा बाल
बाल मार कर अंगद थाप्यो
सुग्रीव को मेल्यो माल ॥

(७)

मध्यकाल की नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ और ब्रज भाषा के साहित्यिक नाटक

(१)

पूर्ववर्ती अध्यायों में जो कुछ कहा जा चुका है उससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नाट्य-परंपरा मध्यकाल में भी अविच्छिन्न रूप से चलती रही है। हम देख चुके हैं कि संस्कृत-नाटक की जो समृद्ध-परंपरा विदेशी आक्रमणकारियों के आघात से सहसा लुप्त-विलुप्त हो गई-थी वह ह्रास को प्राप्त होकर भी विभिन्न प्रकार की नाटकीय प्रवृत्तियों में जड़ जमाती हुई और जनता का पथ-प्रदर्शन तथा मनोरंजन करती हुई आगे बढ़ती गई। हम पहले ही बता चुके हैं कि इस प्रकार ये हिन्दी के नाटक वस्तुतः उस धारा के अंतर्गत हैं, जिसका प्रारंभ ऋग्वेद के संवाद-सूक्त पुरुरवा उर्वशी आदि संवाद-सूक्तों में हुआ और जो हरगोध्याय जैसे रूपों को प्राप्त होती हुई संस्कृत-नाटक के विकास और ह्रास के बीच से अविच्छिन्न प्रवाहित हो रही है।

परंतु कुछ लोगों के मतानुसार भारतवर्ष की प्राचीन नाट्य-परंपरा एक बार समाप्त हो गई थी, और हिन्दी-नाटक की उत्पत्ति एक नए सिरे से हुई। इन लोगों का यह भी मत है कि रामलीला रासलीला तथा पुरानी कीर्तनिया की परंपरा ने हिन्दी-नाटक के उद्भव और विकास में कोई योग नहीं दिया। ऐसे मत इस भ्रमात्मक धारणा पर अवलंबित हैं कि जो नाटक पाश्चात्य नाटकों की शैली पर न लिखा जाय वह नाटक ही नहीं है। पहले के प्रकरणों में लिखा जा चुका है कि भारतीय नाट्य-परंपरा ने वैष्णव धर्म की प्रेरणा और शक्ति प्राप्त कर मध्यकाल में एक नया ही रूप ग्रहण किया। इस काल में अभिनय और संगीत की अतिशय विविध शैलियों एवं परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ जो थोड़े ही दिनों में सामाजिक जीवन में बद्धमूल हो गईं। डॉक्टर दशरथ ओझा ने १५ वीं शताब्दी में नाटक के नवोत्थान का विवरण प्रस्तुत करते हुए ठीक ही लिखा है कि

उद्भट विद्वान् महात्मा संस्कृत और लोक प्रचलित मानव-प्रकृतियों के मिश्रण से एक अभिनव नाट्य-शैली का प्रयोग कर रहे थे और उन्होंने देवालयों को केन्द्र बनाकर संस्कृत-मिश्रित हिन्दी के माध्यम से वैष्णव धर्म का परिज्ञान कराया। इस युग में वैष्णव धर्म का सर्वत्र प्रचार हो रहा था। समस्त उत्तर और दक्षिण भारत वैष्णव-भक्तों के मधुर गीतों से गुंजरित हो रहा था। इन गेय पदों को गा कर तथा रंगशाला में इन्हें अभिनय बनाकर दाक्षिणात्य वैष्णव धर्म का प्रचार करते। ये संत महात्मा रामकृष्ण ध्रुव प्रह्लाद आदि विविध अवतारों की लीलाएँ नाटक के रूप में जनता के सम्मुख प्रदर्शित करते।" परन्तु जो लोग भरत नाटक के इस नाट्योत्थान का ज्ञान नहीं रखते उनकी दृष्टि में वह विशाल नाट्य-साहित्य जो लीलाओं और चरितों के रूप में हमारे अभिनय और रंगमंच की तत्कालीन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता चला आया है, नाटक नहीं रह जाता। मध्यकालीन हिंदी नाटक के कतिपय समीक्षकों ने ऐसी हास्यास्पद धारणा भी बना ली है कि जिस ग्रंथ के नाम में 'नाटक' शब्द न हो, वह नाटक ही नहीं और जिसमें 'नाटक' शब्द हो वह वस्तुतः 'नाटक' न होने पर भी नाटक ही है। ऐसे ही विद्वानों ने 'नाटक समयसार' जैसे शुद्ध दर्शन के ग्रंथ को जिसके नाम में नाटक शब्द एक उपलक्षण मात्र है, एक उल्लेखनीय नाटक या 'नाटकीय-काव्य' माना है।[1]

रासकों के प्रसंग में बताया गया है कि आदि काल में पुनः अनेक दृश्यकाव्यों और नाट्य-प्रयोगों में प्रबंधात्मकता आ गई थी। ठीक इसके विपरीत हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में श्रव्यकाव्यों में व्यापक रूप से नाट्य प्रवृत्तियों के उत्पन्न होने के प्रमाण मिलते हैं। रामचरितमानस और रामचंद्रिका आदि में नाट्य-विधान के जो अनेक उदाहरण पाए जाते हैं, वे इसके प्रमाण हैं। भक्तिकालीन साहित्य ने विशेष रूप से बहुमुखी नाट्य प्रवृत्तियों को आत्मसात् करने का मार्ग प्रशस्त किया था। यह इस युग की एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि है कि 'रामचरितमानस' जनता के लिए जितना महान् श्रव्यकाव्य है, उतना ही सफल दृश्यकाव्य भी। फिर भी यह बड़े दुःख की बात है कि कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि संतों की मुक्तक रचना और भक्त-कवियों के 'भक्ति के आत्म-समर्पण वाले सिद्धांत' के कारण मध्यकाल में नाट्य-प्रगति

1 डॉ. सोमनाथ गुप्त का 'हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास' पृ० ७।

को बनाया गया।[1] इस कटु सत्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मध्यकाल में भारतीय नाटक की नाट्यधर्मी परंपरा के क्षतिग्रस्त होने के दो मुख्य कारण थे—एक तो राजप्रासादों और देवालयों में संलग्न हमारे रंगमंचों का सामूहिक ध्वंस और दूसरे मुसलमानी युग में मुसलमानी शासन में नाट्य-प्रवृत्ति इसलिए नहीं पनप पाई कि उनके धर्म के भीतर नाटक खेलना वर्जित था। उनके सम्पर्क में भी नाटकीय प्रवृत्तियाँ नहीं थीं। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी का यह कथन यथार्थ है कि 'भारतीय नाट्य इस प्रकार छिन्न-भिन्न होकर साहित्य और जीवन में पड़ा हुआ था। पुराने नाटकों के लिखने की प्रवृत्ति जगाने के लिए प्रेरणा मिलती ही न थी। रंगमंच भी न थे जिन पर वे खेले जाते।'[2]

इसीलिए मध्यकाल में साहित्य-रचना के क्षेत्र में एक विचित्र असंगति के दर्शन होते हैं। यह यह कि भारतीय परंपरा में निष्णात कवियों के श्रव्यकाव्य में नाटकीय विधान की अनेक विशेषताएँ मिलती हैं, पर 'नाटक' नाम से जिन रचनाओं का प्रणयन हुआ है उनमें नाटकीय तत्त्वों का अभाव-ही-अभाव पाया जाता है। उनमें से अधिकांश में नाटकीयता की अपेक्षा प्रबंधात्मकता ही अधिक है। इसके मुख्य कारण का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसका दूसरा कारण यह है कि जब ८०० ई० के लगभग हिंदी ने साहित्यिक रूप ग्रहण किया उस समय संस्कृत-नाटक की उदात्त परंपरा भी ह्रासोन्मुख हो चली थी। इस काल के कई शताब्दियों बाद तक संस्कृत-नाटकों की रचना तो बहुत बड़ी संख्या में होती रही पर उनका क्षेत्र संकुचित हो गया था और उनमें भी नाटकीयता की अपेक्षा प्रबंधात्मकता और काव्यात्मकता ही अधिक होने लगी थी। इसीलिए हिन्दी के जिन लेखकों ने लीला और चरित्रों की सीमा के बाहर सीधे-सीधे साहित्यिक नाटक लिखने का उपक्रम किया उन्होंने उक्त ह्रासकालीन संस्कृत-नाटकों की परंपरा के ही कुछ गुण विरासत में पाए। इस काल की 'नाटक' नामधारी कृतियों के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है।

समयसार नाटक

ऊपर कहा जा चुका है कि इस काल में 'नाटक समयसार' जैसी कृतियों की रचना भी हुई जो शुद्ध दर्शन का ग्रंथ है और जिसमें 'नाटक' शब्द एक उप-

१ दे० डा० सोमनाथ गुप्त कृत 'हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास' पृ० ११।
२. आचार्य विश्वनाथ मिश्र कृत हिंदी का सामयिक साहित्य पृ० १२

केवल नाम है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है 'नाटक में संवाद मुख्य होता है। उसका सारा ढाँचा संवाद में होता है। मध्यकाल में संवाद नाटक का स्थानापन्न हो गया।' किन्तु 'नाटक समयसार' में यह संवाद वाली विशेषता भी नहीं मिलती। उसके नाटक नाम से अभिहित होने का कारण है 'इस हृदय में अनादिकाल से मिथ्यात्व रूप महाअज्ञान की विस्तृत नाट्यशाला में पुद्गल के बड़े भारी नाच' का वर्णन। यह भी देखा!

या घट में भ्रम रूप अनादि,
विशाल महा अविवेक अखारी।
तामहि और स्वरूप न दीसत,
पुग्गल नृत्य करै अति भारी।
फेरत भेख दिखावत कौतुक,
सौंजि लिये बरनादि पसारी।
मोह सौं भिन्न, जुदौ जड़ सौं,
चिनमूरति नाटक देखनहारी।

कवि बनारसी दास ने कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थसार के आधार पर 'समयसार' में अनादिकालीन महाअज्ञान की विस्तृत नाट्यशाला में पुद्गल (matter अर्थात् प्रकृति) के उस नृत्य का वर्णन किया है जिसका एक मात्र देखने वाला (प्रेक्षक) सम्यक्-दृष्टि आत्मा है। इसमें चैतन्य जड़ के नाटक का वर्णन है इसीलिए यह नाटक है—

ज्यों नट एक धरै बहु भेख
कला प्रगटै बहु कौतुक देखै।
आपु लखै अपनी करतूति,
वहै नट भिन्न विलोकति पेखै।
त्यों घट मैं नट चेतन राव,
विभाव दशा धरि रूप विसेखै।
खोलि सुदृष्टि लखै अपनौ पद,
दुंद विचारि दशा नहि लेखै।

अपनी इस विषय-वस्तु के कारण ही समय सार को कभी ने नाटक कह दिया अन्यथा इसमें मध्ययुग के नाटकों के संवाद और उपक्रम का भी अभाव ही है। फिर भी नाटक के कुछ प्रोत्साहकों ने संभवतः इसे लिख पढ़े हुए ही प्रबंधकाव्य की कोटि का नाटक मान लिया है।[१] 'समयसार नाटक' में न संवाद योजना ही है और न प्रबंधात्मकता।

समासार नाटक

अहमदाबाद निवासी रघुराम नागर के लिखे हुए समासार नाटक में भी इसी प्रकार संवाद-योजना और कथा-तत्त्व दोनों का अभाव है। फिर भी इसे नाटक मान लिया गया है। कारण इस में 'राजाओं की सभा में उपस्थित रहने वाले कपटी बेवकूफ सभाविगार, सभाचतुर, सूम वाचाली मुकवि कुकवि ठग गुरु नास्तिक आस्तिक विविध प्रकार के मानव-चरित्रों का चित्रण है। भरत ने नाटक को नानाभावसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् कहा है और शारदातनय का कहना है कि नानाशीला प्रकृतयः शीले नाट्यंप्रतिष्ठितम् अर्थात् नाटक में अनेक प्रकार के चतुर्वर्गक चरित्रों का चित्रण करना उसकी एक प्रमुख विशेषता मानी जाती थी। समासार में भी अनेक प्रकार के चरित्रों का परिचय कैवल न दिया है, यद्यपि उस में कथा का कोई एक नाटकीय सूत्र नहीं। जिस प्रकार मध्यकाल में कुछ लेखकों की दृष्टि में संवाद नाटक का स्थानापन्न था उसी तरह रघुराम नागर जैसे कतिपय लेखकों की दृष्टि में संभवतः एक सुसंबद्ध कथानक-विहीन नानारसात्मक नानाचरित्र का विश्लेषणात्मक विवरण भी किसी कृति को नाटक बना देने के लिए पर्याप्त था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्य काल में केवल संवाद-प्रधान रचनायें नाटक नहीं कहलाईं, अध्यात्म-चिन्तन में नाटकीयता होने के कारण 'समयसार' जैसी शुद्ध दार्शनिक कृतियाँ भी नाटक कही गईं और अनेक मानव चरित्रों का कथानक-विहीन विवरण भी 'समासार' जैसी कृतियों में नाटक कहलाया। तात्पर्य यह कि यदि किसी कृति में नाटक का कोई एक तत्त्व भी लक्षित हो गया तो उसे नाटक कहा गया।

विचित्र नाटक——

गुरु गोविंद सिंह का 'विचित्र नाटक' भी ऐसी ही एक रचना है जिसमें नाटक के किसी तत्त्व की परवा भी नहीं की गई है, पर साम्य-समीक्षकों द्वारा यह नाटक

१ दे० डॉ० दशरथ ओझा कृत 'हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास पृ० ७-८

समझा और कहा गया है। डा० दशरथ ओझा जैसे विद्वान् भी उसे नाटक समझ बैठे हैं, और 'विचित्र नाटक' तथा 'चंडी चरित्र' को दो नामों वाली एक ही कृति मानते हैं। उन्होंने लिखा है— समय सार के उपरान्त हमें गुरु गोविंद सिंह विरचित 'विचित्र नाटक' या 'चंडी चरित्र' उपलब्ध होता है। अतएव उन्हें वीर रस का नाटक लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई।"[1] इस संबंध में दो बातें स्मरणीय हैं। एक तो 'विचित्र नाटक' और 'चंडी चरित्र' दो भिन्न भिन्न कृतियाँ हैं, और दूसरे 'विचित्र नाटक' किसी भी रस का नाटक नहीं है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी अमृतसर द्वारा प्रकाशित 'विचित्र नाटक' की प्रस्तावना में अमरसिंह 'चातक' ने लिखा है, 'वास्तव में यह नाटक ग्रंथ नहीं जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है, वरन् साहित्यिक दृष्टिकोण से इसे 'महाकाव्य' कहना चाहिए। तो भी इसे नाटक का नाम दिया गया है, तो केवल इसलिए कि इसमें अपनी आत्मकथा का वर्णन करते हुए गुरु जी ने कतिपय पारलौकिक घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार से किया है जिससे अगम्य एवं आध्यात्मिक प्रतिपादित विषय लौकिक-बुद्धि-गोचर हो गया है। मानव बुद्धि तो लौकिक उपकरणों को लेकर संगठित हुई है वह पारलौकिक विषय उसके लिए सर्वथा अगम्य होता किंतु गुरुजी ने इस ग्रंथ द्वारा हमें उस अगम्य के वह चित्र दिखाए हैं जिन्हें यथार्थ घटनाओं का अभिनय ही कहा जा सकता है। यह अभिनय अद्भुत और विचित्र होने से ग्रंथ का नाम दिया गया है 'विचित्र नाटक'।

वास्तव में इस रचना में आद्यन्त प्रबंधात्मक शैली में गुरु गोविंद सिंहजी ने अपनी आत्मकथा लिखी है। इसमें त्रिभंगी, भुजंग प्रयात, रसावल, मराल, सवैया, चौपाई, दोहरा आदि अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है। रचना नाटकों की तरह अंकों या दृश्यों में व्यवस्थित न होकर प्रबंध काव्यों की तरह चौदह अध्यायों में विभाजित है। पहले अध्याय में अकाल जी की स्तुति का बखान है। दूसरे अध्याय में [illegible] तथा उससे उत्पन्न होने वाले 'सोढ़ी' और 'बेदी' वंशों का वर्णन है। इतने विवरण से ही रचना की प्रबंधात्मकता सिद्ध हो जाती है। मध्यकाल में नाटक कही जानेवाली रचनाएँ संवादप्रधान होती थीं। यह गुण भी 'विचित्र नाटक' में नहीं है। कहीं कहीं इसमें एक परम अध्यात्म सत्ता को इसरी

१ हिंदी नाटक : उद्भव और विकास पृ० १४४

अध्यात्म सत्ता के साथ वार्तालाप करते हुए दिखाया जाना' अवश्य मिलता है। इसी को भले ही कोई 'विचित्र अभिनय' मान ले और इसे यथार्थतः विचित्र नाटक कहने लगे। पर इस कृति में जहाँ ऐसे संवाद मिलते भी हैं वहाँ भी उनमें नाटकीयता की अपेक्षा प्रबंधात्मकता अधिक है। उदाहरण के लिए गुरु गोविंद सिंह जी ने अकाल पुरुष के साथ अपनी वार्ता इस रूप में प्रस्तुत की है[1] —

" अकाल पुरुष बाच इस कीट प्रति—
चौपाई
मैं अपना सुत तोहि निवाजा।
पंथ प्रचुर करिबे कहु साजा।
जाहि तहा तै धर्म चलाइ।
कबुधि करन ते लोक हटाइ।"

अकाल पुरुष के इस आदेश का उत्तर गुरुजी संवादात्मक शैली में न देकर प्रबंधकाव्यों की वर्णनात्मक शैली में देते हैं —

" चित न भयो हमरो आवन कहि
चुभी रही स्रुति प्रभु चरनन महि।
× × ×
ठाढ़ भयो मैं जोर कर बचन कहा सिर न्याय।
पंथ चले तब जगत मैं जब तुम करो सहाय॥

गुरु जी ने आगे लिखा है कि उनकी यह प्रार्थना सुन कर अकाल पुरुष ने उनको सर्वत्र सहायता का वचन दिया तो उन्होंने कलियुग में जन्म ग्रहण किया और इस प्रकार प्रतिज्ञा की :—

"कहियो प्रभु सु भाखि हौं।
किसू न कान राखि हौं।
किसू न भेख भीज हौं।
अलेख बीज बीज हौं।

१ विचित्र नाटक अ० ६ पृ० ५९

उपर्युक्त उद्धरण 'विचित्र-नाटक' के छठे अध्याय से लिये गये हैं। इस ग्रंथ का यह सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसमें गुरुजी ने देश की धार्मिक अवस्था का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है, आडंबर और कर्मकाण्ड की जटिलता से आक्रान्त विविध हिन्दू-धार्मिक संप्रदायों की भर्त्सना की है और इस्लाम की संकीर्णता पर भी करारी चोट की है—

प्रभु तब महादीन उपराजा। अरब देश को कीनो राजा ॥२६॥
तिन भी एक पंथ उपराजा। लिंग बिना कीने सब राजा ॥२७॥
सब ते अपना नाम जपायो। सतिनाम काहूँ न दृढ़ायो ॥२८॥

इसी अध्याय में गुरुजी ने अपने अनुयायियों को यह असंदिग्ध आदेश दिया है कि अवतार के रूप में परमेश्वर मानकर उनकी पूजा कदापि न की जाय—

जो हमको परमेसर उचरिहैं। ते सब नरककुंड महि परिहैं ॥
मोको दास तवन को जानो। या मैं भेद न रंच पछानो ॥३२॥
मैं हों परमपुरख को दासा। देखन आयो जगत तमाशा ॥
जो प्रभु जगति कहा सो कहिहौं। मृत्युलोक ते मौन न रहिहौं ॥३३॥

छठे के पश्चात् शेष आठ अध्यायों में गुरुजी के जन्म और जीवन व्यापी संघर्ष की कथा है। इस जीवनगाथा में नाटकीयता अवश्य है पर ग्रंथ की शैली पूर्णरूपेण प्रबन्धात्मक है। 'गुरु गोविन्दसिंह की शिक्षा का बाह्य रूप सत्य धर्म के पालन का उपदेश था, किन्तु आंतरिक रूप से वह सत्य कर्तव्य को पूर्ण करने की प्रेरणा थी। धर्म के इस नवीन रूप में श्रद्धा रखना, उसे अनुभव करने की भावना का सृजन करना तथा लक्ष्य को प्राप्त करने का उत्साह उत्पन्न करना ये सब बातें थोड़े समय में ही कैसे और किस प्रकार दशम गुरु गोविन्द ने अपने समाज में प्रचलित कीं यह एक अनुपम चमत्कार और आश्चर्य है। इस चमत्कार के स्वरूप को जिस ग्रंथ में वर्णित किया गया है, उसका नाम स्वयं गुरु गोविन्द ने 'विचित्र-नाटक' रखा है।'[1] इससे सिद्ध है, इस ग्रंथ में नाटकत्व केवल विषय-वस्तु में है शैली में नहीं।

१ डॉ० नागर्वती रामकृष्ण 'विचित्र-नाटक' का परिचय पृ० १२।

गोविंद हुलास नाटक

नाटक-विषयक प्रस्तुत शोध कार्य के बीच जब प्रस्तुत प्रबंध छपना आरम्भ हो चुका था और उसका काफी अंश छप भी चुका था मुझे 'गोविंद हुलास नाटक' की हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई। यह ग्रंथ अब मेरे द्वारा संपादित होकर प्रकाशित भी हो चुका है। इस ग्रंथ की भूमिका में मैंने इसके रचनाकार और रचनाकाल की समस्याओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इस हस्तलिखित प्रति में लिखावट की कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं जिनसे इसके लेखक के पछाँहीभाषी होने का अनुमान होता है। इस नाटक की अब तक एक ही प्रति उपलब्ध हुई है, उसमें न तो रचनाकार या प्रतिलिपिकार का नाम दिया गया है और न आदि अथवा अन्त में इसका रचनाकाल या प्रतिलिपिकाल ही सूचित किया गया है। इस हस्तलिखित प्रति में कुल छिहत्तर पन्ने हैं। प्रारम्भ के बारह पन्नों पर श्री व्यासजी तथा राधावल्लभी संप्रदाय के भक्तों के लगभग ७० ७१ पद हैं। तेरहवें पन्ने से 'गोविंद हुलास नाटक' प्रारम्भ होता है और पचहत्तरवें पन्ने तक चलता है। अन्त के तीन पन्नों में गोस्वामी तुलसीदास जी की 'गीतावली' के सोलह पद अंकित हैं। यह तीन प्रकार की सामग्री भिन्न-भिन्न लिपियों की लिखी हुई प्रतीत होती है। अंतिम छिहत्तरवें पन्ने पर 'गीतावली' के पदों के बाद 'श्रीराधा वल्लभो जयति श्री राधा राधा' लिखा है और उसके बाद संभवतः हस्तलिखित प्रति के स्वामी या उसके किसी कुटुम्बी ने घर का हिसाब-किताब लिखा है और उसका संवत् मास एवं तिथि भी लिख दी है—

संवत् १७०० का बरस जेठ सुद १० माह मासव की १) गहुं रुपैया १)। १) चौथा रु० १) ५) ०० चावर १ तथा बड़ो १ बमले सेर।

संवत् की लिखावट ऐसी है जिससे इसे सं० १७ ० तथा १७७० दोनों ही पढ़ा जा सकता है। इससे कम से कम इतना तो सिद्ध ही है कि यह हस्तलिखित प्रति कम से कम ढाई सौ वर्ष पुरानी है।

जिस प्रकार पाण्डुलिपि में उक्त हिसाब किताब की तिथि के अतिरिक्त रचना या लिपि के काल का अन्य कोई संकेत नहीं है उसी प्रकार रचना के आदि मध्य अथवा अन्त में लेखक ने अपने नाम का स्पष्ट निर्देश नहीं किया

है। साधारणतया ग्रंथ के आदि अथवा अन्त में लेखकगण अपने संबंध में कुछ न कुछ लिखते रहे हैं पर यह लेखक अपने विषय में सर्वथा मौन है। कई बार ग्रंथ का पारायण करने के बाद मुझे केवल दो ही स्थल ऐसे मिले जिनके आधार पर कवि के विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है। ये दोनों ही स्थल नाटक के आरंभ में प्रस्तावना के अन्तर्गत सूत्रधार की उक्तियों के बीच में आते हैं। सूत्रधार अपने सहयोगी नट को अपने एक दिव्य स्वप्न की सूचना देता है, जिसमें चक्रवर्ती ने उसे वृन्दावन में समागत रसिकों की तुष्टि के लिए 'गोविन्द हुलास नाटक' का अभिनय करने की आज्ञा दी है—

'ताते माधव माधुरी चरित मधुर रस प्याइ।
विरह अटपटो चटपटो लीनो जीउ जीवाइ॥
यह आज्ञा मोको दई प्रभाकर भगवंत।
रिद्धि सिद्धि सबजगत गुरु पूरनकरन समंत॥'

सूत्रधार की इस उक्ति में 'जीउ' शब्द विचारणीय है। कवियों में श्लेष द्वारा अपनी बात कहते हुए अपना अपने गुरु का तथा अपने इष्टदेव का नाम व्यंजित कर देने की परंपरा मिलती है। उस दृष्टि से 'जीउ' के यहाँ दो अर्थ संभव हैं—(१) प्राण (२) जीव नाम के कवि। पहले के अनुसार दोहे का अर्थ होगा मधुर रस पिलाकर विरह से बेठिकाने और व्याकुल बने हुए प्राणों को जिला लिया और दूसरे के अनुसार अर्थ होगा जीव नाम के कवि को जिला लिया। अब प्रश्न यह रह जाता है कि यदि 'जीउ' का अर्थ जीव नामक कवि है तो ये जीव कवि कौन है?

दूसरा स्थल वह है जहाँ सूत्रधार मंगलात्मक छप्पय का पाठ करता है। इस छप्पय में श्लेष की शक्ति से भगवान कृष्ण और गोस्वामिपाद सनातन की एक साथ वंदना की गई है—

'मुदित सकलगुन उदित मधुर रससिंधु-सुधाकर
वृन्दावन निज धाम काम अभिराम कृपाकर।
गोपी गाइ गुवाल प्रीति व्यवहार बिहारी
सरस तरंगिनी तीर धीर रुचि आनंदकारी।

रुचिर समासन सत्रु विमल क्त्य लीन कोविद सरस।
बसहु सदा <u>नायक</u> हिये श्रीकृष्ण नाम पारस परस॥

छप्पय के अंतिम चरण का 'नायक' शब्द भी श्लिष्ट प्रतीत होता है और दो अर्थ व्यंजित करता है। एक अर्थ है स्पर्शमणि के प्रभाववाला नायक श्रीकृष्ण का नाम मेरे हृदय में निवास करे। दूसरा अर्थ हो सकता है—'स्पर्शमणि के प्रभाववाला श्रीकृष्ण का नाम मुझ नायक नाम के कवि के हृदय में निवास करे। यदि दूसरा अर्थ भी रचनाकार का अभिप्रेत है, तो ये 'नायक' नाम के कवि कौन हैं?

'मिश्रबन्धु विनोद' के दूसरे भाग में पृ० १६६ पर क्रमसंख्या १६९ में जीव कवि का और पृ १६० पर क्रमसंख्या १७० में 'नायक' नाम के कवि का उल्लेख है। इन दोनों के कविता काल के विषय में केवल इतना बताया गया है कि ये १७२४ के पूर्व के हैं और विवरण में कहा गया है कि 'इनका नाम सूदन जी के 'सुजानचरित' में लिखा है।" जीव की कविता के विषय में मिश्रबन्धुओं ने कुछ भी नहीं लिखा है, पर नायक के विषय में उन्होंने लिखा है कि ये निम्न श्रेणी के कवि हैं। 'जीव' की कोई रचना शायद उनके देखने में नहीं आई इसलिए उसके संबंध में वे मौन रहे। सम्भवतः 'नायक' की किसी रचना या रचनाओं के आधार पर ही उन्होंने उल्लिखित मत व्यक्त किया होगा। पर वे रचनायें कौन-सी थीं इसका कोई संकेत मिश्रबंधुओं ने नहीं किया है। उन्होंने 'सूदन' के 'सुजान चरित' में दोनों कवियों के नामोल्लेख का हवाला दिया है। 'सुजान चरित' के जिस छंद में सूदन ने यह नामोल्लेख किया है वह इस प्रकार है—

'घन घनस्याम प्रानीराम नरहर भीन
<u>नायक</u> नवल नव निपट निहारे हैं।
नित्यानंद मदन नरोत्तम निहाल मैही
माथुर निवास नंद नाम मनवारे हैं।
चंदनरवाई चंद चिन्तामनि चेतन हैं
चतुर चतुर चिरजीव चतुरारे हैं।

संगीत विशारद दाहयाभाई शिवरामने 'नायक' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'वह व्यक्ति जिसका संगीत कला की प्रत्येक शाखा पर पूर्ण अधिकार हो जो अधिकारपूर्वक दूसरों को उसे सिखाता हो पिंगलशास्त्र का पूरा-पूरा जानकार तथा उसके अनुसार रचना में समर्थ हो समस्त प्राचीन परम्परा तथा नवीन परम्पराओं में निष्णात हो वारवानियों से पूर्णतया परिचित हो नये प्रकार से तान ले सकता हो और उसका प्रस्तार भी कर सकता हो साथ ही लय का पक्का और स्वर का सच्चा हो अनेक तालें जानता हो और उनके अनुसार बजा सकता हो इस प्रकार के संगीतशास्त्र के सिद्धान्त और अभ्यास के प्रकाण्ड पंडित को नायक कहते हैं।'[1] ऐसे महान् संगीतज्ञों की अनेक मौलिक कृतियाँ ध्रुपदों के रूप में प्राप्त होती हैं जिनमें उनके नाम के साथ-साथ नायक अभिधान का भी प्रयोग हुआ है। संगीत के परमाचार्य स्वामी हरिदास तानसेन बैजूबावरे आदि को छोड़ दें तो भी अनेक ऐसे नाम मिलते हैं जिनके साथ नायक विशेषण जुड़ा हुआ है। स्वामी हरिदास के पट्टशिष्य संगीत कलाधर रामदासजी और उनके दूसरे शिष्य मदन नायक ने अपने ध्रुपदों में प्रायः सर्वत्र अपने नाम के साथ 'नायक' जोड़ा है। दोनों का एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

(१)

ध्रुपद-शंकरा करन

स्थायी—शंकर पूत की विमल चपल प्रबल होत।

आभोग—नायक रामदास सुमन हरे काल की हलचल सलाहत।

(२)

(क) मदन नायक विनति करत नायक दे दे तारी मानो घन इन्द्र चढ़े चन्द्र घटा करे।

(ख) मदन नायक हाये घनत कहूँ।

(३)

इसी प्रकार का धवि नायक का भी खण्डिता नायिका-विषयक एक बड़ा सरस ध्रुपद है—

---

१ दाहयाभाई शिवराम 'संगीत कलाधर', सन् १६३८ ई०, दूसरी आवृत्ति पृष्ठ २७।

राग विजय कान्हरा

स्थायी—कान्ह किन संग जागे।

आभोग—विधु गुन नाग बसत कवि नायक तापर गुनता नाम।

इस परम्परा पर ध्यान रखते हुए यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि 'गोविन्द हुलास' की प्रस्तावना में 'नायक' शब्द 'जीवन' के नाम का ही एक अंग हो, और इस कृति के लेखक का पूरा नाम 'नायक जीवन' या 'जीवन नायक' हो। 'जीवन' पर विचार कर लेने के बाद हम पुनः इसका रहस्य उद्घाटित करने का प्रयास करेंगे।

'जीवन' कवि 'नायक' से भी बड़ी पहेली है। 'जीवन' किसी कवि का असली नाम भी हो सकता है और उसका उपनाम भी। जीवन मस्ताने, जीवन, जीवन सिंह, जीवनाथ भाट और जीवनराम नाम के पाँच कवियों का उल्लेख 'मिश्रबन्धु विनोद' में है, जिनका उपनाम 'जीवन' हो सकता है। 'सरोज' और 'ग्रियर्सन' में भी जीवन नाम के दो कवियों और जीवनाथ भाट का उल्लेख किया है।[2] 'मिश्रबंधु विनोद' के उल्लिखित पाँचों कवियों का काल इतना परवर्ती है कि वे 'गोविन्द हुलास नाटक' के कर्ता नहीं माने जा सकते हैं। जब मिश्रबन्धु स्वयं 'जीवन' को इन पाँचों से भिन्न मानते हैं, तो इस अनुमान पर अधिक बल देना उचित नहीं प्रतीत होता। ग्रियर्सन ने अपने इतिहास के ७७ वें क्रम में जिस जीवन कवि (जन्म १६११ ई०) का उल्लेख किया है, काल की दृष्टि से उनके 'गोविन्द हुलास' के रचयिता होने में कोई कठिनाई संभव है न हो पर वे 'जीवन' उपनाम से रचना करते थे अथवा उन्होंने कोई ग्रन्थ भी लिखा था ऐसा कोई प्रमाण या उल्लेख कहीं नहीं मिलता। उनकी कुछ फुटकल रचनाएँ ही 'हजारा' और 'रागकल्पद्रुम' में मिलती हैं। स्वयं मिश्रबन्धु भी उनको और 'जीवन' को एक नहीं मानते हैं। अतएव 'गोविन्द हुलास' के प्रणेता यदि कोई 'जीवन' नाम के ही कवि हैं तो वे इन सबसे भिन्न होने चाहिए।

ऊपर सूत्रधार के जिस मंगलवाची छप्पय का उल्लेख हुआ है उसकी पंक्ति 'रुचिर सनातन तनु विमल बय पीन जीवित सरद' ध्यान देने के योग्य है,

---

१ मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ५६५, ७०४ ८१५, ७७७ ५६६।

२ ग्रियर्सन ७७/म, ४३०/म, सरोज १६१/१६०८ २८५/१८०३।

इसमें सनातन के साथ-साथ 'रूप' नाम भी आया है। ये दोनों शब्द जहाँ एक ओर भगवान कृष्ण के चिन्मयविग्रहत्व और दीप्तसंपन्न दिव्य रूप का निर्देश करते हैं वहीं दूसरी ओर ये सनातन गोस्वामी के साथ रूप गोस्वामी को भी श्लेष से सूचित कराते हुए प्रतीत होते हैं जिससे भगवान् कृष्ण के साथ-साथ सनातन और रूप की वंदना भी ध्वनित होती है। जीव गोस्वामी के संस्कृत ग्रन्थों में इस प्रकार की चमत्कारक श्लिष्ट वंदना मिलती है।[1] ऐसी स्थिति में 'जीव' शब्द जीव गोस्वामी का बोधक हो सकता है। जीव गोस्वामी की गणना चैतन्य—संप्रदाय के प्रवर्तक महान् गोस्वामियों में है और उनमें भी ये अन्यतम माने जाते हैं।[2] ये सनातन और रूप के कनिष्ठ सहोदर अनुपम (वल्लभ) के पुत्र थे और प्रतिभा पांडित्य कवित्व भक्ति साधना तपस्या आदि सभी दृष्टियों से ये अपने पूज्य पितृव्यों के समकक्ष थे। इन्होंने अपने कवित्व और तत्त्वज्ञान दोनों से भारतीय वाङ्मय को गौरवशाली बनाया है। इनका प्रारम्भिक जीवन काशी में बीता था और बाद को ये अपने पितृव्यों के साथ आकर वृन्दावन में रहे थे। जिसने कम से कम पचास महान् ग्रन्थ लिखकर गीर्वाण-वाणी पर अपने एकच्छत्र अधिकार का अन्यतम प्रमाण दिया हो उसने इतने दीर्घ प्रवास के पश्चात् हिन्दी और उसकी विभाषाओं, विशेषतः अपने प्रियतम कृष्ण की लाड़ली ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त कर लिया हो, इसे आश्चर्यजनक या अनहोनी घटना नहीं माना जाना चाहिए। तो क्या 'गोविन्द हुलास' नाटक उन्हीं गोस्वामिपाद जीव महानुभाव का लिखा हुआ है?

इस अनुमान को बल देनेवाला एक और तथ्य सामने आता है। 'गोविन्द हुलास नाटक' रूप गोस्वामी के सुप्रसिद्ध नाटक 'विदग्ध माधव' के आधार पर लिखा गया है। उसका एक-एक विवरण 'विदग्धमाधव' नाटक का अनुगमन करता है। दोनों में सात-सात अंक हैं, और दोनों में अंकों का नामकरण भी प्रायः एक ही है जो नीचे के विवरण से स्पष्ट किया जा सकता है—

---

१ सनातनसमो यस्य ज्यायान्श्रीमान्सनातन । श्रीवल्लभोऽनुज सोऽसौ श्रीरूपो जीवसद्गति ।—लोचनरोचिनी।

२ गौडसंप्रदायस्य प्रवर्तकेषु षट्सु गोस्वामिष्वन्यतमो श्रीजीवगोस्वामी। —उज्ज्वल नीलमणि की भूमिका।

विदग्ध माधव नाटक	गोविन्द हुलास नाटक
वेणुनादविलासो नाम प्रथमोऽङ्कः	वेनुनाद विलास नाम प्रथम अंक ।
मन्मथ लेखो नाम द्वितीयोऽङ्कः	कामलेषा नाम द्वितीयो अंक ।
राधासंगो नाम तृतीयोऽङ्कः	राधासमर्गो नाम तृतीय अंक ।
वेणुहरणो नाम चतुर्थोऽङ्कः	वेनु हरनो नाम चतुर्थो अंक ।
राधाप्रसादनो नाम पंचमोऽङ्कः	राधाप्रसादनो नाम पंचमो अंक ।
शरद्विहारो नाम षष्ठोऽङ्कः	सरद विहार षष्टमो अंक ।
गौरीविहारो नाम सप्तमोऽङ्कः	गोपीतिर्थ विहारो नाम सप्तमो अंक ।

इसके अतिरिक्त कथावस्तु का उद्भव तथा विकास पात्रों का चरित्र चित्रण एवं कथोपकथन आदि तत्त्व भी दोनों नाटकों में प्रायः एक ही हैं। इसको देखते हुए यह संभावना हो सकती है कि चौथ गोस्वामी ने ही स्वयं रूप गोस्वामी के 'विदग्धमाधव नाटक' के कथानक को ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया हो। उन्होंने रूप गोस्वामी के भक्तिरसामृत सिंधु' और 'उज्ज्वलनील मणि' आदि ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी हैं। क्या उन्होंने ही इनके इस नितरां उज्ज्वल मधुररसमयी नाटक के वस्तुतत्व और रस को सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाने के निमित्त उसे ब्रजभाषा में रूपान्तरित किया है? दोनों नाटकों की प्रस्तावना के अंतर्गत आनेवाले सूत्रधार के मंगलपाठ की तुलना भी इस संभावना को पुष्ट करती है। 'गोविन्द हुलास' के मंगलवाची छप्पय की काफी चर्चा ऊपर हो चुकी है, उसी आशय का सूत्रधार का कथन 'विदग्ध माधव' की प्रस्तावना में है—

> प्रपन्नमपुरोत्तम स्फुरदमन्दवृन्दाटवी
> निकुंजमयमन्यप्रकरमध्यमध्यस्थिति ।
> निरंकुशकृतमामभुवित्रजविहाररत्नामता
> सनातनतनुः सदा मति सनोतु तुष्टिं प्रभु ।।

इस छंद में रूप गोस्वामी ने सनातन तनु वाले भगवान कृष्ण और अपने अग्रज सनातन गोस्वामी की एक साथ वंदना की है। इसमें 'रूप' शब्द नहीं आया है, पर छप्पय में 'सरस शील गोविंद' 'रूप' का नाम भी है। इसके पहले के दोहे में यह कहा गया है कि 'माधव (की) चरित्र माधुरी का मधुर रस प्याइ और

सिखाइ सीखो।[1] ठीक इसी प्रकार की बात जीव गोस्वामीजी ने 'उज्ज्वल नील मणि' की 'लोचनरोचनी' टीका में और 'ब्रह्मसंहितोपनिषद्' की टीका में कही है जिसका आशय है कि सनातन और रूप ही जीव की सद्गति हैं।[2] इस प्रकार के पारिस्थितिक साक्ष्य की दृष्टि से गोविन्द हुलास नाटक के जीव का जीव गोस्वामी होना असंभव नहीं। सूदन के 'सुजान चरित' के 'जीव' भी यदि जीव गोस्वामी ही हों तो यह भी किसी प्रकार अयुक्त नहीं माना जा सकता। पर इस धारणा के विपक्ष में सबसे बड़ा तर्क यही हो सकता है कि जीव गोस्वामी की कोई हिन्दी रचना नहीं मिलती और न हिन्दी के कवि या लेखक के रूप में उनका किसी ने कहीं उल्लेख किया है।

इस प्रसंग के स्पष्टीकरण के लिए उपर्युक्त मंगलवाची छप्पय में 'सनातन' के साथ-साथ 'रूप' नाम का प्रयोग विशेष रूप से विचारणीय है। रूप गोस्वामी जी ने अपने कतिपय ग्रंथों के मंगलाचरण में श्लिष्ट शब्दावली में सनातन गोस्वामीजी के प्रति प्रणति अर्पित करते हुए अपने नाम का भी उल्लेख किया है—

नामाकृष्टरसज्ञः शीलेनोद्दीपयन्सदानन्दम्
निजरूपोत्सवदायी सनातनात्मा प्रभुर्जयति।
उज्ज्वलनीलमणि ॥१॥

यदि उपर्युक्त छप्पय में भी 'रूप' शब्द का प्रयोग इसी न्याय से हुआ है, तो स्वयं रूप गोस्वामी ही 'गोविन्द हुलास नाटक' के प्रणेता हो सकते हैं। संस्कृत में मधुर रस की जो नाटकीय व्याख्या उन्होंने 'विदग्धमाधव नाटक' के माध्यम से प्रस्तुत की उसी के लिए 'गोविन्द हुलास नाटक' में उन्होंने ब्रजभाषा का प्रयोग किया। ऐसा होना न किसी प्रकार असंभव है और न आश्चर्यजनक। जीव गोस्वामी के विषय में भले ही अभी यह कहा जा सके कि उनकी कोई हिन्दी रचना नहीं मिलती पर सनातन और रूप ने हिन्दी में लिखा था, इसके प्रमाण मिलने लगे हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की १९०६-८ की खोज रिपोर्ट में रूप-सनातन के 'शृंगार-सुख' नामक हिन्दी ग्रंथ की सूचना प्रकाशित हुई थी। इसके अतिरिक्त श्री अगरचन्द नाहटा ने सं० २०११ के फाल्गुन मास की

१ दे० पाद टिप्पणी पृ० १८।
२ दे० पाद टिप्पणी पृ० २१।

'ब्रजभारती' में 'ब्रजभाषा का एक महत्वपूर्ण प्राचीन गद्य ग्रंथ' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया था, जिसमें 'रूप सनातन कृत ग्रन्थ नाम विदग्ध माधो' की विस्तृत चर्चा है। नाहटा जी ने लिखा है कि इसकी प्रतियाँ काफी संख्या में प्राप्त हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ का अच्छा प्रचार रहा होगा। बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में ही उनको इसकी सात-आठ प्रतियाँ मिली हैं जिनमें 'राधा मिलन' 'श्री माधो राधा विलास' और 'राधा माधो लीला विलास' नाम पाया जाता है। उनको मिली हुई इस ग्रंथ की प्रतियों में सबसे प्राचीन सं० १७५४ की लिखी हुई है। नाहटा जी को पहले जो प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं उनमें लेखक का नाम नहीं था पर बाद को मिली हुई प्रतियों में उन्हें लेखक का नाम भी मिल गया है। नाहटाजी ने बताया है कि लेखक के नाम वाली प्रति में चार अंक हैं। उन्होंने ग्रंथ का प्रारम्भ अपने लेख में उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

प्रारम्भ

"अब श्री पूर्णमासी जी की कथा लिख्यते। ग्रन्थ नाम विदग्ध माधो। रूप सनातन कृत।

नाहटाजी ने यह भी लिखा है कि "अभी प्राप्त प्रतियों से इस ग्रन्थ के नये नाम 'पूर्णमासी जी की कथा' और 'विदग्ध माधव' ये दो और ज्ञात हुए हैं।"

मुझे भी अपनी खोजों में काँकरोली के विद्याविभाग में नाहटाजी के उल्लिखित गद्य ग्रन्थ की दो प्रतियाँ देखने को मिलीं। संभवत: इसकी दो प्रतियाँ वहाँ और हैं पर वे अभी तक मेरे देखने में नहीं आ सकी हैं। इसकी पहली प्रति जो वहाँ बस्ता सं० ८७/१ में देखने में आई अपूर्ण है और उसका प्रारम्भ इस प्रकार किया गया है—

"विदग्ध-माधव रूप सनातन कृत

प्रारम्भ

"श्री गणेशायनम ॥ ग्रन्थ नाम विदग्ध माधव रूप सनातन कृत। श्री वृन्दावन नित्य विहार जानि कै उज्जैनि नगरी को वास छाड़ि करि संदीपन ऋषीश्वर की माता ताको नाम पूर्णमासी कहावै। ..."

इन सब प्रतियों में रूप नाम सनातन के पहले आया है इससे किसी प्रकार

की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। कारण यद्यपि सनातन रूप से बड़े थे ज्येष्ठ थे फिर भी चैतन्य संप्रदाय में रूप गोस्वामी सनातन गोस्वामी के पूर्व प्रविष्ट हुए थे, इसलिए वैष्णव समाज में वे अपने अग्रज से ज्येष्ठ माने जाते थे। इसीलिए वैष्णव साहित्य में उनका नाम प्रायः सनातन के पहले प्रयुक्त हुआ है।

इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि नाहटा जी ने जिस महत्त्वपूर्ण प्राचीन गद्य ग्रन्थ की अनेक प्रतियाँ देखी और पाई हैं वह वही है जो कांकरोली के विद्याविभाग में मेरे देखने में आया है। इस ग्रन्थ का मुख्य नाम 'विदग्ध माधव' 'विदग्ध माधो' या 'माधो विदग्ध' ही है। इसी के अन्य नाम 'पूर्णमासी जी की कथा' 'पूर्णमासी जी की वार्ता' 'राधाविलास' 'श्री माधो राधा विलास' और 'राधा माधोलीला विलास' भी मिलते हैं जो इसकी कथावस्तु के सूचक हैं। इस ग्रन्थ की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें से कुछ अपूर्ण हैं और कुछ में लेखक का नाम नहीं हैं। जिन प्रतियों में लेखक का नाम है वहाँ वह निरपवाद रूप से 'रूप सनातन' का ही है। इससे रूप और सनातन का हिन्दी लेखक होना प्रमाणित होता है। उन्होंने हिन्दी में लिखा था इसके अन्य प्रमाण भी हैं। कृष्णानन्द व्यासदेव ने १८४३ ई० के आसपास 'रागसागरोद्भव राग कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ संपादित किया था जिसमें लगभग २०० कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं का संग्रह है। हिन्दी कर्नाटी मराठी तैलगु गुजराती बंगाली उड़िया अंग्रेजी अरबी पैगम्बर फारसी आदि अनेक भाषाओं की रचनाएँ इसमें संकलित हैं और जिन कवियों के संपादक परिचित हैं उनका विवरण भी उसने अपनी भूमिका में दिया है। ग्रियर्सन ने इसे देखा था उन्होंने इसे दुर्लभ ग्रन्थ कहा है। उन्होंने लिखा है— "जिन कवियों की रचनाएँ इस विशालकाय ग्रन्थ में संकलित हैं उन सबका नाम एकत्र करना स्वयं बड़े परिश्रम का काम है। मैंने इस भूमिका से हिन्दी कवियों और हिन्दी ग्रन्थों का नाम ले लिया है। कवियों को तो मैं पहचानने में असमर्थ रहा और कई ग्रन्थ जो इस सूची में हैं, मेरे इस ग्रन्थ में अन्यत्र कहीं नहीं उल्लिखित हैं।"[१] इसी सिलसिले में ग्रियर्सन ने उक्त ग्रन्थ के आधार पर दो सूचियाँ दी हैं—

(क) हिन्दुस्तानी लेखक और (ख) हिन्दुस्तानी ग्रन्थ।

---

१ ग्रियर्सन—'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' पृ० २७२।

(ग) सूची में उन्होंने १२५ हिन्दी लेखकों के नाम दिए हैं जिनमें एक सौ अट्ठाईसें नम्बर पर रूप सनातन का नाम है।[1] इस ग्रन्थ के केवल दो खण्ड ही मुझे देखने को मिले हैं, दूसरे खण्ड के प्रारम्भ में 'रागसागर की सूचना' के अन्तर्गत पृ० २ पर रूप सनातन गुसाईं का नाम है।

रूप सनातन के हिन्दी कवि होने का एक अन्य प्रमाण भी मुझे उनके द्वारा रचित एक पद के रूप में मिला है जो मुझे बड़ौदा विश्वविद्यालय के संगीत महाविद्यालय के संगीताचार्य श्री भरत व्यास जी से प्राप्त हुआ है। उन्होंने सारे भारत में घूम-घूमकर एक हजार से भी अधिक पुराने ध्रुपदों का संग्रह किया है। उनका कहना है कि उन्होंने रूप सनातन के लिखे हुए पाँच ध्रुपद देखे हैं। उन्हीं में से एक यहाँ दिया जा रहा है—

ध्रुपद—सिंधु राग

स्थायी—बगरे बगान द्रुम सगरे बिटप बर
सुमन सुगंधिमय समीर मयन की।
अंतरा—चातक चकोर चक्रवाक बाक पिहु पुकार
ध्वनि विविध चायक सुखमय चयन की।
संचारी—पुलिन कालिंदी की सुदेस बेस युवति यूथ
मध्य राधिका सु स्याम राग गाइ टेरि मुरलि
बाढ़िय बर रास रति गहन की।
आभोग—ऐसी न देखि न छबि, कहत सनातन रूप
जीव नायक सोभा सरद रयन की।

यदि यह ध्रुपद प्रामाणिक है तो इस ध्रुपद में रूप सनातन जीव और नायक का एक साथ प्रयोग 'गोविंद बुलाल' नाटक की प्रस्तावना में इन्हीं नामों के अलग अलग प्रयोग को एक सूत्र में समेटकर उसकी गुत्थी खोलता हुआ प्रतीत होता है। संभवत प्रस्तावना में भी 'नायक' शब्द जीव गोस्वामी अथवा दोनों गोस्वामियों के सूचित एवं कद विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। संगीत की भावना में भी रसिक सम्प्रदाय का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कारण, प्रिया—प्रियतम के निज विहार के अलौकिक दिव्यानंद को उनके सम्मुख गान करके अभिव्यक्ति प्रदान करना रसिक सम्प्रदाय के भक्त की एक मुख्य चर्या रही होगी। संगीत के क्षेत्र में सनातन रूप और जीव का क्या स्थान है इसका मुझे ठीक-ठीक ज्ञान नहीं। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि काव्य नाटक,

१ ग्रियर्सन—'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास', पृ० २७४।

साहित्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र की ही तरह उन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रभाव से संगीतकला को भी संभवतः अवश्य अवश्य किया होगा। उक्त ध्रुपद उसका प्रमाण है। बड़े से बड़े संगीतज्ञों की रचनाओं के साथ इस ध्रुपद की तुलना करने पर एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि इसकी भाषा-शैली की विचरता और विशिष्टता उस काल के अन्य ध्रुपदों में साधारणतया नहीं मिलती। इस प्रकार की कुछ अधिक रचनायें मिल जाने पर उनका यह वैशिष्ट्य स्वतंत्र अध्ययन की विपुल सामग्री प्रस्तुत करेगा।

ऊपर जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं उनसे रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी का हिंदी का भी कवि होना सिद्ध हो जाता है। अतएव उन्होंने अथवा उनमें से किसी एक ने ही यदि 'गोविन्द हुलास' नाटक की रचना की हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक माना जाना चाहिए। कम से कम इसे असंभव मानने का कोई कारण अब नहीं रह गया है। विचारणीय है कि 'विदग्ध माधव' अथवा 'पूर्णमासी की कथा या वार्ता' नाम के जिस ग्रन्थ की चर्चा ऊपर की गई उसकी कथा वस्तु भी ठीक वही है जो संस्कृत के 'विदग्ध माधव नाटक' और हिन्दी के 'गोविन्द हुलास नाटक' की है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि 'मधुर रस के ग्रन्थ का सार' अथवा 'सिद्धान्त की खानि' माने जाने वाले विदग्ध माधव के कथानक को ब्रजभाषा में भी अनेक रूपों में लोककल्याण के निमित्त सुलभ बनाने का कार्य स्वयं इन महान् गोस्वामियों ने ही संपन्न किया था। 'यदि 'गोविन्द हुलास नाटक' स्वयं रूप गोस्वामी की रचना है तो यह हिन्दी की पूर्ण मौलिक कृति सिद्ध होती है और हिन्दी के महान् लेखकों की सूची में एक बड़े गौरवशाली नाम की वृद्धि होती है। यदि इसके रचयिता जीव गोस्वामी जी हैं, तो इसे अधिक से अधिक रूपान्तर भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी रचना 'विदग्ध माधव' के आधार पर की गई है। प्रायः अनूदित नाटकों में अनुवादकों ने मूल लेखक के प्रति किसी न किसी रूप में आभार प्रकट करते हुए अपना नाम भी दिया है। 'गोविन्द हुलास नाटक' में यह बात नहीं मिलती, इससे इसके मौलिक ग्रन्थ होने की संभावना बढ़ जाती है। सारांश यह है कि अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर रूप गोस्वामी अथवा जीव गोस्वामी ही नाटक के प्रणेता कहे जा सकते हैं। श्री अगरचन्द नाहटा जी ने बहुत पहले इन महान् गोस्वामियों के संबंध में इस संभावना को सामने रखा था कि वृन्दावन में निवास करने के कारण अवश्य ही उन्होंने ब्रज-भाषा में रचनायें की होंगी।'[1] संभव है, नाटक की अन्य प्रति या प्रतियाँ मिल

१ ब्रज भारती, सं० २०११ फाल्गुन पृ० ४१।

जाने पर इस समस्या का कुछ अधिक निश्चित समाधान प्राप्त किया जा सके।

गद्य कथा या वार्ता के रूप में हिन्दी 'विदग्ध माधव' की जो प्रतियाँ मुझे कांकरोली में प्राप्त हुई हैं उनका विवरण दिया जा चुका है। विचारणीय यह है कि कांकरोली का विद्याविभाग वल्लभ-सम्प्रदाय का एक भारत-प्रसिद्ध संस्थान है। नाहटाजी ने भी अपने उल्लिखित निबंध में लिखा है कि इस ग्रन्थ का प्रचार वल्लभ-सम्प्रदाय में रहा होगा। मेरा विचार है चैतन्य सम्प्रदाय की मधुरोपासना का प्रभाव जिन अनेक साहित्यिक कृतियों के माध्यम से अन्य भक्ति संप्रदायों पर पड़ रहा था उसमें 'विदग्ध माधव' नाटक प्रमुख है।

इस नाटक का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि इसके द्वारा हिन्दी नाटक साहित्य की रचना-परंपरा की प्राचीनता और अखंडता की पुष्टि होती है। नवीन शोधों से हिन्दी नाट्य-परम्परा उत्तरोत्तर प्राचीन प्रमाणित होती जा रही है। एक अहिन्दीभाषी के आलोच्य रचना के कर्त्ता होने की संभावना से उस समय भी हिन्दी के राष्ट्रव्यापी प्रसार और प्रभाव का प्रमाण मिलता है। इसके अन्य अनेक प्रमाण भी मिल रहे हैं। पन्द्रहवीं शती के मध्य में आसाम के महाकवि शंकरदेव ने हिन्दी में ही अपना 'कालिय दमन' नाटक लिखा था और उड़ीसा के महाराज कपिलेन्द्र देव ने 'परशुराम विजय' नामक संस्कृत व्यायोग की रचना की थी जिसमें हिन्दी का भी एक गीत सन्निविष्ट है।[1]

हिन्दी नाटक रचना की परंपरा की प्राचीनता के नये-नये प्रमाण मिलते जाते हैं, पर अभी तक 'गोविंद हुलास' जैसा सर्वांगपूर्ण और साथ ही साथ इतना पुराना कोई दूसरा हिन्दी नाटक उपलब्ध नहीं हो पाया है। हिन्दी नाटक का उद्भव पन्द्रहवीं और सोलहवीं शती में लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के अभ्युत्थान का सहारा पाकर रासलीला और नौटंकी जैसे अभिनय-रूपों के उत्सव में लीला नाटक आदि के रूप में हुआ था। उसी अवधि में 'गोविंद हुलास' जैसे नाटक का लिखा जाना जो नाट्यशास्त्र की दृष्टि से सर्वांगसम्पन्न है एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है। इसके अतिरिक्त इस नाटक की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि यह गौडीय वैष्णव आचार्यों के रसशास्त्र और नाट्यशास्त्र दोनों के सिद्धान्तों का समन्वित रूप हिन्दी में प्रस्तुत करता है। उक्त वैष्णव आचार्यों ने यह प्रयत्न भी किया था कि उनके सिद्धान्तों के अनुकूल नाटक लिखे और अभिनीत किये जाँय और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए मार्गदर्शन के निमित्त रूपगोस्वामीजी ने

१ दे० डॉ० दशरथ ओझा—'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास,' पृ० ६६।

'नाटकचन्द्रिका' नामक नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ भी लिखा था। संस्कृत में 'नाटक चन्द्रिका' में निरूपित सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाले 'विदग्ध माधव', 'ललित माधव' 'दानकेलि कौमुदी' 'चैतन्य चन्द्रोदय' जैसे कई नाटक हैं। 'गोविन्द हुलास' हिन्दी में नाट्यशास्त्र की उसी परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है।

आनन्द रघुनन्दन नाटक

'आनन्द रघुनन्दन नाटक' को प्रायः सभी विद्वानों ने संस्कृत शैली का हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। 'गोविन्द हुलास नाटक' की उपलब्धि और प्रकाशन से उसके सम्बन्ध का यह दावा अब असिद्ध हो जाता है। फिर भी 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। विद्वद्वर डा० दशरथ ओझा ने ठीक ही लिखा है— 'विश्वनाथ जी ने वैदिककाल से चली आती हुई धार्मिक परम्परा को रामभक्ति धारा में जोड़कर दीर्घकालीन इतिहास का दिग्दर्शन करा दिया है। वस्तुतः इस नाटक में रामलीला की परम्परा को साहित्यिक रूप प्रदान करने का बड़ा विराट् उद्योग किया गया है। यद्यपि यह सात अंकों का नाटक है और इसमें पात्रों की संख्या भी बहुत अधिक है फिर भी इसमें रामलीला की परम्परा के समसामयिक रंगमंच का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। यदि हम यह ध्यान में रखें कि रामलीला नाटक पूरे पक्ष भर धारावाहिक रूप में चलते हैं तो 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' के सात अंक और बहुसंख्यक पात्र अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होंगे। परम्परा से विच्छिन्न करके देखने पर इस नाटक के साथ न्याय नहीं किया जा सकेगा। महाराज विश्वनाथसिंह रससिद्ध कवि और नाटककार थे। ओझा जी का यह कथन यथार्थ है कि उनके इस नाटक में 'नाटकत्व काव्यत्व से बाजी ले गया है।'[1] आगे चलकर भारतेन्दु जी ने भी महाराज विश्वनाथसिंह के मार्ग का अनुसरण किया और लीला-नाटकों एवं लोकनाट्य परम्पराओं को साहित्यिक स्वरूप प्रदान करने का सफल उपक्रम किया।

नहुष

'आनन्द रघुनन्दन' के बाद दूसरा उल्लेखनीय नाटक भारतेन्दु जी के पिता गिरिधरदास जी का लिखा हुआ 'नहुष' नाटक है। यह नाटक पूरा प्राप्त नहीं हुआ है। उसका प्रथम अंक 'कविवचनसुधा' में छपा था। उतना ही अंश उपलब्ध है। यह नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' की प्रविधि का अनुसरण करता है।

---

१ डा० दशरथ ओझा—'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास', पृ० १४२-१४०।

भारतेन्दु - युग

८ नाटककार भारतेन्दु

(१)

पृष्ठभूमि

रीतिकाल के अंत एवं पूर्व-भारतेन्दु काल तक हिन्दी में आधुनिक शैली के साहित्यिक नाटक का स्वतंत्र विकास न हो सका था। नाटक और अभिनय की धार्मिक और साहित्यिक परंपरा जिस रूप में थी, उसका सविस्तर विवेचन किया जा चुका है। वस्तुतः हिन्दी में संस्कृत के अनुवाद या अनुकरण की प्रवृत्ति से स्वतंत्र साहित्यिक नाटक का अभ्युदय भारतेन्दु की कला के प्रकाश में ही हुआ। हिंदी में अभिनय और रंगमंच की नाट्यधर्मी-परंपरा का अभ्युदय भारतेंदु के उदय की प्रतीक्षा कर रहा था। 'भारतेन्दु' ने नाटक लिखने की नई परंपरा को जन्म दिया उन्होंने नाटक खेलने की परिपाटी आरंभ की और स्वयं अभिनय करके लोगों के सामने एक आदर्श भी स्थापित किया। अतएव इस नाट्य-परंपरा के प्रवर्तन की दृष्टि से ही भारतेन्दु का उदय हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है।

भारतेन्दु को नाटक-रचना की प्रेरणा अपने समय और समाज से मिली। अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो जाने तथा अंगरेजी शिक्षा के प्रचार के परिणाम स्वरूप पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान से जो संपर्क हुआ था, उससे देश में एक नवीन चेतना ने जन्म लिया। यह चेतना भारतीय साहित्य में क्रमशः उद्वेग और विश्वास के बीज भी बोने लगी। स्वयं महारानी विक्टोरिया का घोषणापत्र, जिसने भारतीय हृदयों में अनेक शुभाशाओं का सृजन किया था खोखला सिद्ध हो चुका था। शासन की शोषण-नीति प्रकाश में आने लगी थी। अकाल महामारी टैक्स तथा बेकारी के रूप में जनता को उसके अमंगल स्वरूप का परिचय मिलने लगा था। अंगरेजों के शासन-प्रबंध तथा आर्थिक नीति और भारत के अकालों का घनिष्ठ संबंध है। उन्नीसवीं शताब्दी में अंगरेजों के राज्य के फैलने के साथ भारतवर्ष में अकालों का वेग बढ़ता गया। जब कभी अकाल पड़ा देश के लाखों आदमी काल के ग्रास बन गए। गाय, भैंस आदि पशुओं का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। सन् १८५८ ई

में कंपनी के अत्याचार पूर्ण शासन का अंत हुआ। विक्टोरिया ने भारत को इंग्लैण्ड के राज्य के आधीन घोषित करते हुए अनेक मधुर आश्वासनों से परिपूर्ण घोषणापत्र प्रकाशित किया। दुर्भाग्यवश इस घोषणापत्र के बाद से ही देश में अकालों का तांता लग गया। सन् १८६६ ई० में मरी और अकाल दोनों का साथसाथ प्रकोप हुआ जिसमें १ से २ लाख तक मनुष्यों ने प्राण गँवाए।[1] इसके दो ही वर्ष बाद ६८-६९ ई० में फिर भयानक अकाल पड़ा। सन् १८७७ ई० में इंग्लैण्ड के युवराज के भारतवर्ष में आने के उपलक्ष में दिल्ली में एक बड़ा भारी दरबार हुआ जिसमें भारत के राजा-महाराजाओं ने विक्टोरिया को सम्राज्ञी स्वीकार किया। ठीक इसी वर्ष दक्षिण भारत घोर अकाल से पीड़ित हुआ जिसका परिणाम लाखों की भूख, और बचे खुचों की मौत मरे। सन् १८६४ ई० से १८६६ ई० तक युक्तप्रान्त मध्यप्रदेश पंजाब और बिहार सब भयानक दुर्भिक्ष से पीड़ित रहे, और १९०० ई० में गुजरात अकाल-ग्रसित हुआ। निर्धन मनुष्यों के प्राण लेने में इस समय भुखमरी और महामारी दोनों में होड़-सी लगी थी। ऊपर से देश के विभिन्न भागों में जो बन्दोबस्त हो रहे थे उनमें लगान इतना बढ़ा दिया गया था कि अब कुछ किसान के पास कुछ रह ही नहीं जाता था। ये बन्दोबस्त दुर्भिक्ष को स्थायी बना देने के साधनमात्र थे। 'टैक्स पर टैक्स अकाल पर अकाल और मरी पर मरी देखी जाती है। नित्य नये नये कानूनों से बाँधा जाता है और नित्य नई रीतियों से मोल लिया जाता है।' 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित एक पत्र के इस अंश में परिस्थिति का मर्म भरा है। इस परिस्थिति में अंग्रेजी साम्राज्यवाद का असली रूप घोषणाओं के पर्दे में छिपाया नहीं जा सकता था। निजाम राज्य का उपजाऊ प्रदेश बरार, बर्मा को जीत कर और अफगानिस्तान को व्यापारिक संधि के लिए विवश करके अंग्रेजों ने अपनी साम्राज्यलिप्सा का वास्तविक स्वरूप और भी स्पष्ट कर दिया था। अंग्रेजों के साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़ा हुआ यह मुमूर्षु देश ही भारतेन्दु के साहित्य की मूल प्रेरणा है।

गोस्वामी तुलसीदास जी की तरह भारतेन्दु ने भी लोकहित-साधना और साहित्य-साधना को एकरूप कर दिया था। 'कीरति भनिति भूति भलि सोई, *सुरसरि सम सब कहँ हित होई*' साहित्य-साधना का यही उदात्त आदर्श भारतेन्दु

१—पी० ई० राबर्ट्स

ने भी अपनाया था। जन साहित्य द्वारा जन-जागरण के लिए वह एक विशाल आन्दोलन चलाना चाहते थे। परन्तु जन साहित्य द्वारा जिस समाज को उन्हें प्रबुद्ध करना था, वह दो प्रकार का था। एक ओर सर्वथा अशिक्षित जनता थी जिसको अक्षर-ज्ञान भी नहीं था। ऐसे लोगों के लिए नाटक, उपन्यास और काव्य आदि की रचना व्यर्थ ही थी। इन लोगों के कल्याण को दृष्टि में रख कर ही भारतेन्दु जी ने मई १८७९ ई० की 'कवि-वचन-सुधा' में लिखा था—

'भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं, उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किन्तु वे जन-साधारण के दृष्टि गोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश गाँव-गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जाँय। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है, उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने का इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है। इसी हेतु मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे ऐसे गीतों का संग्रह करूँ और उनको छोटी छोटी पुस्तकों में मुद्रित करूँ। इस विषय में मैं, जिनको कुछ भी रचनाशक्ति है उनसे सहायता चाहता हूँ कि वे लोग भी इस विषय पर गीत या छंद बनाकर स्वतंत्र प्रचार करें या मेरे पास भेज दें मैं उनका प्रकाश करूँगा और सब लोग अपनी मंडली में गानेवालों को यह पुस्तकें दें। जो लोग धनिक हैं, वह नियम करें कि जो गुनी इन गीतों को गावेगा उसी का वे लोग गाना सुनेंगे। ऐसे गीत बहुत छोटे छोटे छंदों में और साधारण भाषा में बनें वरंच गवाँरी भाषाओं और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। कजली ठुमरी खेमटा कहरवा अद्धा चैती होली, साँझी, लंबे, लावनी जाँते के गीत, बिरहा चनैनी गजल इत्यादि ग्रामगीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो अर्थात् पंजाब में पंजाबी बुंदेलखंड में बुंदेलखंडी, बिहार में बिहारी ऐसे देशों में जिस भाषा का प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें।" जन-जागृति के लिए जनपदीय भाषाओं में किस प्रकार के लोकगीत अथवा जन-साहित्य की रचना का

आन्दोलन चल रहा है उसकी कैसी प्रशस्त योजना भारतेन्दुजी ने बनाई । हिन्दी में जब यह जन-साहित्य की मांग हो रही थी तब रस और दर्शन में प्रतिक्रियावादी साहित्य का बोलबाला था ।'[1]

भारतेन्दु-कालीन समाज का दूसरा वर्ग वह था जो संख्या में अल्प होते भी शिक्षित था। प्राचीन काल से भारत में जब शिक्षा की जो प्रणाली चली थी वह विघटित कर दी गई थी। अंग्रेजी शासन के सूत्रधारों ने अपने साम्र के हित के लिए ही इस प्राचीन शिक्षा-विधि को बदल कर उसके स्थान अंग्रेजी की शिक्षा के प्रचार और प्रसार का व्यापक उद्योग किया था। माध्य से लगा कर उच्चशिक्षा तक सबका माध्यम अंग्रेजी भाषा ही या जिसका उद्देश्य हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का उन्मूलन और उसके स्थान पर में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की प्रतिष्ठा करना था। अतएव इस समय शिक्षित समाज अंग्रेजी शिक्षा की परंपरा में पड़ने के कारण धीरे धीरे रतीय सभ्यता और संस्कृति से विमुख होता जा रहा था। इस शिक्षित की आवश्यकताओं को तत्कालीन हिन्दी साहित्य पूरा नहीं कर पा रहा था, इस नों के बीच एक गहरी खाई बन गई थी। इस खाई को पार कर इस वर्ग हिन्दी हिन्दू और हिन्दुस्तान की ज्योतिर्मयी परम्पराओं से दीक्षित कर वर्तमान की विषम समस्याओं और देश के कर्तव्यों का उन्हें परिचय और अनु कराना और भविष्य के नव-निर्माण के लिए उन्हें अग्रसर करना भारतेन्दु साहित्य के सामने जातीय जीवन की इन आवश्यकताओं की पूर्ति की समस्या भारतेन्दु जी ने अपनी भावनाओं के बीच अनुभव किया कि बंगाल में नाटक रंगमंच सफलतापूर्वक यह काम सम्पादन कर रहे हैं। अतएव उन्होंने बड़े उत्साह से हिन्दी में नाटक-प्रणयन का श्रीगणेश किया। भारतेन्दु जी ने अपने 'नाटक' नामक निबंध में समाज-संस्कार और देश-वत्सलता को नाटक-रचना मुख्य उद्देश्यों में गिनाया है जो भरतोक्त-नाट्यादर्श—लोक-व्यवहार की शिक्षा बताना—के अनुकूल ही है। समाज-संस्कार और देश-वत्सलता का यह संदेश ज तक नाटक द्वारा जितनी सरलता से पहुँचाया जा सकता है उतना अन्य साहित्यिक माध्यम द्वारा नहीं और नाटक शिक्षित ही नहीं अशिक्षित जन को

१—डॉ० रामविलास शर्मा कृत 'भारतेन्दुयुग' पृ० ९।

प्रभावित कर सकता है, दृश्यकाव्य की इस बहुमुखता का अनुभव भी भारतेंदु जी ने किया। संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटककार कालिदास की तरह भारतेंदु जी भी यह अच्छी तरह से समझते थे कि नाटक ही एक ऐसा साधन है जो विभिन्न रुचि रखने वाले व्यक्तियों का समान रूप से मनोरंजन कर सकता है—'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकसमाराधनम्।

देश और समाज के हित के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के नव-निर्माण की भी समस्या थी। हिन्दी साहित्य इस समय रीतिकाल की रूढ़ियों में जकड़ा होने के कारण एकांगी और निर्जीव था। उसमें और सब कुछ होते हुए भी नई शैली के साहित्यिक नाटक नहीं थे और गद्य फोर्ट विलियम कालेज में पल कर तथा राजा लक्ष्मणसिंह और शिव प्रसाद सितारे-हिंद की लेखनी का अवलम्ब पाकर भी अभी तक अर्द्ध-विकसित और अनिश्चित दशा में था। नाटक-रचना द्वारा भारतेन्दु ने अपनी प्यारी हिंदी के इन सब अभावों की एक साथ पूर्ति की। नाट्य-साहित्य की नवीन परंपरा का प्रवर्तन कर साथ ही साथ गद्य-साहित्य की परंपरा का भी धूमधाम से अबाध प्रवाह बह चला और हिंदी नई चाल में ढली। भूषण के प्रायः दो सौ वर्ष पश्चात् हिंदी साहित्य पुन राष्ट्रीय चेतना के जीवन-स्वप्नों से पुलकित और जाग्रत हो उठा। हिंदी के स्थान पर उर्दू को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का जो षड्यंत्र चल रहा था, भारतेंदु और उनके सहयोगियों के नाटकों के प्रचार से वह भी विफल हो गया और भारत की प्रकृत राष्ट्रभाषा हिन्दी की विश्वविजयिनी प्रतिमा का प्रदीप पुन जनजीवन का अंधकार दूर करने में समर्थ हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु की साहित्य-साधना के मूल में राष्ट्र के सर्वोदय की कामना निहित थी। अतएव उनके नाटकों से ही भाषा साहित्य समाज और राष्ट्र सब का बहुमुखी हित साधित हुआ।

(२)

भारतेन्दु का नाट्यादर्श और उनके मौलिक तथा अनूदित नाटक

भारतेन्दु एक नवीन नाट्यादर्श की प्रतिष्ठा भी करना चाहते थे जिसमें प्राचीन और नवीन अर्थात् पूर्वी और पश्चिमी नाट्यधर्म का समन्वय हो। उन्होंने अपने नाटक नामक निबन्ध में लिखा है—'प्राचीन काल के अभिनयादि के संबंध

में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक-मंडली की जिस प्रकार रुचि थी वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्यकाव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गए हैं। किंतु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत का अवलंबन करके नाटक आदि दृश्यकाव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता। जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है। नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब रीति या पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी। नाट्यकला-कौशल दिखलाने को देश काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी चाहिए। (भारतेन्दु नाटकावली भाग २ पृ० ४११ से ब्रजरत्नदास बी० ए० एल-एल० बी०) इस अवतरण में सब से पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि भारतेन्दु नवीनता के लिये नवीन का आग्रह नहीं कर रहे थे। उनकी दृष्टि अपने समय के समाज और उसकी बदली हुई विलक्षण रुचि पर थी। साथ ही वे अपने नाटकों में प्राचीन समस्त रीति को परित्याग करने के पक्ष में नहीं थे। देश काल और, पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखते हुए एक मध्यम मार्ग की खोज में थे। भारतीय साहित्य में पहले-पहल भारतेन्दु के द्वारा ही भारतीय और यूरोपीय नाट्यकलाओं के समन्वय का यह सफल उद्योग हुआ था। इस समय का बंगला नाटक अपनी प्राचीन नाट्य-परंपरा से सर्वथा विच्छिन्न हो गया था और उसमें अंगरेजी का अन्धानुकरण चल रहा था।

इस नवीन नाट्यपद्धति की स्थापना के लिए भारतेन्दु ने जिस कौशल्य का प्रयोग किया वह उनके नाटकों के विषय भेद और स्वरूप पर दृष्टि डालने से प्रकट हो जाता है। उनके नाटक अनूदित और मौलिक दोनों प्रकार के हैं, जिन की सूची यह है —

अनुवाद

	भेद	रचनाकाल	विशेष
१ विद्यासुन्दर	नाटिका	सं० १९२५	संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि चौर की 'चौर-पंचाशिका' के आधार पर बंगला में महाराज यतीन्द्र मोहन ठाकुर ने 'विद्यासुंदर' नाटक की रचना की। यह उसी का छायानुवाद है।
२ रत्नावली	नाटिका	सं० १९२५	मूल ग्रंथ संस्कृत में है जिसके रचयिता संस्कृत के सुप्रसिद्ध महाकवि सम्राट् हर्ष हैं। इस की प्रस्तावना तथा विष्कंभक मात्र का अनुवाद मिलता है। मूल का रचना काल ईसा की सातवीं शती है।
३ पाखंड विडंबन	नाटक (एकांकी)	सं० १९२६	कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोध-चंद्रोदय' नामक प्रतीक नाटक के पाखंड-विडम्बन नामक तृतीय अंक का यह अनुवाद है। मूल का रचना काल विक्रम की ११ वीं शती है।
४ धनंजय विजय	व्यायोग	सं० १९३०	मूल कृति संस्कृत में है, जिस के रचयिता कांचन पंडित हैं। मूल का रचना-काल १६ वीं शती का पूर्वार्द्ध अथवा इससे पहले हो सकता है।

५ मुद्राराक्षस	नाटक	सं० १९३१-३२	यह विशाखदत्त कृत संस्कृत के संसार प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद है। मूल का रचना-काल ईसवी छठी शती का उत्तरार्द्ध है।
६ कर्पूर मंजरी	सट्टक	सं० १९३६	मूल नाटिका प्राकृत में है जिसके रचयिता महाराष्ट्र देश के कवि राजशेखर हैं। इनका रचना-काल विक्रम की १० वीं शती है।
७ दुर्लभबंधु	नाटक	सं० १९३७	यह अंग्रेजी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार विश्व-विख्यात शेक्सपियर के 'मर्चेंट आफ वेनिस' का रूपान्तर है।

मौलिक

८ प्रवास	नाटक		
९ वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति	प्रहसन	सं० १९३५ सं० १९३	अप्राप्य
१० सत्य हरिश्चंद्र	नाटक		
११ प्रेमजोगिनी	नाटिका	सं० १९३२	
१२ विषस्य विषमौषधम्	भाण	सं० १९३३	अपूर्ण
१३ चन्द्रावली	नाटिका	सं० १९३३	
१४ भारत दुर्दशा	नाट्यरासक वा लास्यरूपक	सं० १९३३ सं० १९३३	
१५ भारत जननी	औपेरा		
१६ नीलदेवी	गीतिरूपक	सं० १९३४	
१७ अंधेर नगरी	प्रहसन	सं० १९३४	
१८ सतीप्रताप	गीतिरूपक	सं० १९३५ सं० १९४१	इसके अंतिम तीन दृश्य बा० राधाकृष्णदास ने लिखे हैं।

नाटककार भारतेंदु

महापण्डित स्वर्गीय आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में भारतेन्दु के नाटकों की जो सूची दी है उसमें 'सत्य हरिश्चन्द्र' को अनुवाद ग्रंथ माना गया है और 'दुर्लभबंधु' तथा 'भारत जननी' का उसमें उल्लेख ही नहीं है। शुक्लजी ने लिखा है— 'सत्य हरिश्चन्द्र' मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बँगला नाटक देखा है जिसका यह अनुवाद कहा जा सकता है।[1] किन्तु शुक्ल जी ने उस बँगला-नाटक के संबंध में कुछ नहीं लिखा है न तो उसका नाम दिया है और न उसके लेखक का। ऐसी स्थिति में शुक्ल जी के व्यक्तित्व की गुरुता स्वीकार करते हुए भी जब तक वह बँगला नाटक प्रकाश में नहीं आता, हम सहसा इसको शत प्रतिशत अनूदित मान लेने के पक्ष में नहीं। कारण 'सत्य हरिश्चन्द्र' के कुछ दृश्य और कथांश तो सर्वथा भारतेन्दु जी की मौलिक कृति हैं। उनको किसी अन्य लेखक का अनुवाद क्या छायानुवाद भी नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह भी है कि भारतेंदु ने अपने सब अनुवाद ग्रंथों में मूल कृति का विवरण दिया है, इसी एक नाटक में उसे छिपा रखने की प्रवृत्ति उनमें क्यों आ जाती? नि संदेह उन्होंने 'सत्य हरिश्चंद्र' के उपक्रम में आर्य क्षेमीश्वर कृत संस्कृत 'चंड कौशिक' का उल्लेख किया है जिससे उन्हें प्रेरणा मिली। इस संबंध में ब्रजरत्नदास जी का कथन महत्वपूर्ण है— 'संस्कृत साहित्य में आर्य क्षेमीश्वर कृत 'चंड कौशिक' और रामचंद्र कृत 'सत्य हरिश्चंद्र नाटकम्' नाम के दो रूपक मिलते हैं जो राजा हरिश्चंद्र की आख्यायिका लेकर निर्मित हुए हैं। यद्यपि भारतेंदु जी का 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक इन दोनों में से किसी का पूरा अनुवाद नहीं है, पर प्रथम का कुछ भाग इस में अनूदित करके लिया गया है इन सभी नाटकों का आधार एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान है और उसमें कुछ हेर फेर कर सभी नाटकों की रचना हुई है।'[2] यह संभव है कि जिस बँगला नाटक को शुक्ल जी ने देखा था उसके लेखक को भी क्षेमीश्वर कृत 'चंड कौशिक' से प्रेरणा मिली हो। इसीलिए उसमें और भारतेंदु कृत 'सत्य हरिश्चंद्र' में शुक्ल जी को साम्य दिखाई पड़ा। तात्पर्य यह कि उस अज्ञात बँगला नाटक को महत्व देने से पहले इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि भारतेंदु जी ने 'चंड कौशिक' का तो उल्लेख किया है, पर किसी बँगला नाटक का नहीं। 'भारत जननी' के संबंध में शुक्ल जी

१—दे० रा० च० शु० कृत 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पृ० ५५८

२—दे० ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित 'भारतेंदु नाटकावली' भूमिका पृ० १८

लिखते हैं—"कहते हैं कि 'भारत-जननी' उनके एक मित्र का लिखा हुआ बंग भाषा में लिखित 'भारतमाता' का अनुवाद था जिसे उन्होंने सुधारते सुधारते सारा फिर से लिख डाला।" इसीलिए शुक्ल जी ने इसे भारतेंदुजी के मौलिक अथवा अनूदित किसी भी प्रकार के नाटकों में स्थान नहीं दिया। 'भारत जननी' के विषय में भी ब्रजरत्नदास जी के विचार उद्धृत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पाता। उन्होंने लिखा है—'यह रूपक बँगला भाषा की 'भारतमाता' के आधार पर लिखा गया है। यह सन् १८७७ ई० के दिसम्बर मास की 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' की संख्या में प्रकाशित हुआ था। सन् १८७८ ई० के 'कविवचन सुधा' में यह विज्ञापन निकला था जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि यह भारतेंदु जी के किसी मित्र की कृति है पर उन्होंने इसे संशोधित कर प्रकाशित किया था। इनके किसी मित्र ने इन्हीं की देखा-देखी बँगला की 'भारतमाता' का किसी प्रकार हिंदी अनुवाद कर डाला होगा और मित्र की इच्छा पूरी करने के लिए भारतेंदु जी ने इसमें पद आदि बनाकर तथा संशोधन कर इसे प्रकाशित कर दिया होगा। यदि इनके मित्र साहित्यिक होते तो उनका नाम अज्ञात न रह जाता और यदि 'भारत जननी' उन मित्र की संपूर्ण कृति होती तब भी उनका नाम न छिपा रहता। वास्तव में साहित्यिक क्षेत्र में आने का उनका यह प्रथम प्रयास था और जब उन्होंने इसमें अपने को इतना असफल देखा तब अपना नाम तक देना अनुचित समझा। भारतेंदु जी ने दूसरी ओर अपनी सहज उदारता के कारण यह बात छिपा न रखी। स्यात् मित्र के अनुरोध के कारण ही उनका नाम नहीं दिया गया नहीं तो क्या वे अपने मित्र का नाम तक न जानते रहे होंगे। तात्पर्य यह कि नाममात्र को दूसरे की होते हुए भी 'भारत-जननी' भारतेंदु की है।"[1] जब स्वयं शुक्ल जी भी यह मानते हैं कि भारतेंदु जी ने 'भारत-जननी' को सुधारते सुधारते सभी फिर से लिख डाला तो मुझे भी यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि 'भारत-जननी' भारतेंदु की ही है। इसीलिए मैंने भी इसे एक मौलिक ग्रंथ माना है। 'दुर्लभ बन्धु' के संबंध में शुक्ल जी मौन हैं। कदाचित् इसके भी भारतेंदु द्वारा अनूदित होने में शुक्ल जी को संदेह है। संदेह का कारण वह टिप्पणी हो सकती है, जो इसके प्रथम दृश्य के साथ छपी थी जब यह ज्येष्ठ शु० सं० १९३७ की 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' और 'मोहन

१ दे० ना० सा० कृत हि० ना० पृ० ५५।

२ दे० ब्र० र० दा० कृत भा० ना० भूमिका पृ० १४-१५।

पंडित' में प्रकाशित हुआ था। टिप्पणी इस प्रकार थी— मिश्रबंधु बा० काशीप्रसाद
प्रसाद बी ए की सहायता से और बँगला पुस्तक 'सुरलता' की छाया से
हरिश्चन्द्र ने लिखा।' दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि यह अनुवाद अधूरा
रह गया था जिसे आगे चल कर पं० रामशंकर व्यास तथा बाबू राधाकृष्णदास ने
पूरा किया। इन कारणों से इस रचना को शुक्ल जी के अतिरिक्त अन्य लोग भी
भारतेंदु की असंदिग्ध रचना नहीं मानते होंगे जिसका प्रतिवाद करते हुए बा०
ब्रजरत्नदास जी ने लिखा है— 'यह कथन कि यह अनुवाद भारतेंदु जी का न हो
कर बा० काशीश्वर प्रसाद का है भ्रम मात्र है, क्योंकि उक्त सज्जन ने जो
फारसी के अच्छे ज्ञाता थे इसका अनुवाद 'वनिस के सौदागर' नाम से किया था।
यह अनुवाद काशी पत्रिका में छपा था। भारतेंदु जी ने स्वयं इसका अपने नाटक
निबंध में उल्लेख किया है।'' १ शेक्सपियर ने इस नाटक में मैत्री के जिस उदात्त
आदर्श की अवतारणा की है वह भारतेंदु जी की मित्र-वत्सलता से पूर्णतया मेल
खाता है। इसीलिए भारतेंदु इस नाटक के प्रति अनुरक्त हुए होंगे।

अनुवाद के लिए नाटक-ग्रंथों के चुनाव में भी भारतेंदु जी ने नवीन मान्य-
ताओं की स्थापना का ध्यान रखा है। जिन संस्कृत नाटकों का उन्होंने अनुवाद किया है,
वे संस्कृत नाट्य-साहित्य के इतिहास के विभिन्न युगों की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं।
संस्कृत के सर्वप्रसिद्ध नाटक कालिदास की शकुन्तला का अनुवाद हो ही चुका था।
'रत्नावली' की भूमिका में भारतेंदु जी ने लिखा है— 'शकुंतला के सिवाय और
सब नाटकों में 'रत्नावली नाटिका' बहुत अच्छी और पढ़नेवालों को आनंद देनेवाली
है, इस हेतु मैंने पहले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है और जो ईश्वरेच्छा
अनुकूल है और आप गुणग्राहकों की अनुग्रह दृष्टि है तो धीरे धीरे कुछ नाटकों का
तर्जुमा कर प्रकाशित हो जायगा।'' निःसंदेह 'रत्नावली' का स्थान संस्कृत-साहित्य
में बहुत ऊँचा माना गया है, वह संस्कृत में अपनी कोटि की प्रथम कृतियों
में है। 'रत्नावली' और 'मुद्राराक्षस' संस्कृत नाटक के अभ्युदयकाल की रचनाएँ हैं।
'मुद्राराक्षस' का रचनाकाल अनुमानतः ईसा की छठी शती है। उसके रचयिता
विशाखदत्त दर्शनशास्त्र न्याय ज्योतिष, राजनीति विज्ञान कौटिल्य अर्थशास्त्र
तथा शुक्रनीति के प्रकाण्ड पंडित थे। उनका यह असाधारण पाण्डित्य उनकी

१ ह ना प्र० र ना इ० भा० ना २ भाग पृ० १८।

रचना में सफलता से प्रतिफलित हुआ है। 'मुद्राराक्षस' की प्रसिद्धि विदेशों में शाकुन्तल के ही समान है। विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' संस्कृत नाटकों में अपनी महत्ता तथा गौरव में अद्वितीय है। इसका विषय राजनीति या कूटनीति है। यह इतनी पेचीदी है जितनी मानवबुद्धि कल्पना कर सकती है।"[1] इसकी शैली 'रत्नावली' और 'शकुन्तला' की तरह कोमल और सुकुमार नहीं अपितु ओज तथा और पौरुष से युक्त है। 'कर्पूर मंजरी' भी अनेक दृष्टियों से विशिष्ट कृति है। यह अपने को वाल्मीकि भवभूति और भर्तृमेण्ठ का अवतार मानने वाले राजशेखर की कृति है।[2] इनका समय नवम् का अन्त तथा दशम् शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है, जो संस्कृत नाटक के अनुरूप और हास का संमिश्रण कहा जा सकता है। 'कर्पूर मंजरी' एक सट्टक है। प्राकृत भाषा में लिखी गई नाटिका ही जिसमें प्रवेशक और विष्कम्भक न हों सट्टक कहलाती है। सट्टकों में 'कर्पूर मंजरी' सर्वश्रेष्ठ है। 'धनंजय विजय' कांचनाचार्य कृत व्यायोग है जिसकी रचना १०वीं–११वीं की शती में हुई थी जो संस्कृत नाटक का ह्रास-काल है। व्यायोग स्त्री-पात्र रहित एकांकी रूपक होता है, जिसमें एक ही दिन की कथा में युद्ध का चित्रण रहता है। 'धनंजय विजय' की कथा महाभारत के विराट पर्व से ली गई है और इसमें बृहन्नला बने अर्जुन द्वारा राजा विराट की गायों का कौरवों के पंजे से छुड़ाने का वर्णन है। ठीक यही कथानक लेकर कुछ वर्ष पहले श्री प्रह्लादन देव ने संस्कृत में 'पार्थ पराक्रम' नामक एक सुन्दर व्यायोग लिखा था जो बहुत लोकप्रिय हुआ था। 'पाखण्ड-विडम्बन' कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के तीसरे अंक का अनुवाद है। अनुवाद इतना सुन्दर हुआ है कि यह अपने में पूर्ण एक स्वतंत्र एकांकी नाटक प्रतीत होता है। कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय' संस्कृत में प्रतीक नाटकों की परम्परा का प्रवर्तक है। बौद्धकाल में भी यह प्रतीक नाटकों की परम्परा विद्यमान थी किन्तु वह कालान्तर में टूट गई थी जिसको कृष्ण मिश्र ने पुनरुज्जीवित किया। प्रतीक नाटकों में पात्र अमूर्त पदार्थों के प्रतीक होते हैं इन में शान्ति करुणा श्रद्धा भक्ति आदि मानवीय वृत्तियों और भावनाओं का नाटकीय पात्र बना दिया जाता है। कृष्ण मिश्र का यह नाटक प्राचीन हिंदी कवियों में भी

---

१ बलदेव उपाध्याय कृत 'सं॰ सा॰ इ॰' पृ॰ ३५।

२. बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

बहुत लोकप्रिय हुआ था और उसके अनेक अनुवाद अथवा छायानुवाद भक्तिकाल और रीतिकाल में हुए थे जिनकी समीक्षा की जा चुकी है। 'प्रबोध चंद्रोदय' की रचना ईसा की ११ वीं शती में हुई थी।

संस्कृत से अनुवाद के लिए चुने गए ग्रंथों की शैली और भाषा में भी विविधता है। इनके द्वारा जहाँ संस्कृत-साहित्य के विभिन्न युगों की प्रतिनिधि रचनाओं को भारतेंदु हिंदी को भेंट करना चाहते थे वहाँ वे रूपकाव्य के अनेक भेदोपभेदों का प्रतिनिधित्व करनेवाली रचनाएँ भी हिंदी में लाना चाहते थे। संस्कृत में नाट्यकाव्य की संज्ञा रूपकाव्य है। रूपकाव्य के दो भेद हैं— (१) रूपक और (२) उपरूपक। पुनश्च रूपक के दस और उपरूपक के अट्ठारह भेद हैं। रूपक के दस भेदों में प्रधान और सर्वाधिक लोकप्रिय नाटक प्रकरण भाण व्यायोग और प्रहसन हैं, और उपरूपकों में नाटिका और सट्टक ही अधिक लोकप्रिय रहे हैं। मुद्राराक्षस और धनंजय-विजय के रूप में रूपक के दो प्रधान भेद नाटक और व्यायोग हिंदी में आ गए, और रत्नावली तथा कर्पूर मंजरी के रूप में उपरूपकों के प्रधान नाटिका और सट्टक भी। संस्कृत नाटक के प्रधान रस वीर और शृंगार हैं, अन्य रस गौण माने गए हैं।[1] 'मुद्राराक्षस' और 'धनंजय विजय' सात्वती और आरभटी वृत्तिवाली वीर रस की रचनाएँ हैं, जिनके नायक चाणक्य, चन्द्रगुप्त, और अर्जुन धीरोदात्त तथा धीरोद्धत हैं। रत्नावली और 'कर्पूरमंजरी' कैशिकी-वृत्ति-बहुला शृंगार-रस की कृतियाँ हैं, जिनके नायक उदयन और कुमार चंद्रपाल दोनों धीरललित हैं। 'धनंजय विजय' रूपक का एक अंकवाला सब से छोटा भेद है, और 'मुद्राराक्षस' उसका एक सबसे बड़ा भेद सात अंकवाला नाटक है। 'प्रबोध चंद्रोदय' (पाखंड-विडंबन) में शांत रस प्रधान है। साथ ही यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि 'मुद्राराक्षस' 'धनंजय विजय' और 'प्रबोध चंद्रोदय' के अनुवाद संस्कृत से हुए हैं, और 'कर्पूर मंजरी' का प्राकृत से जिससे संस्कृत और प्राकृत दोनों की नाट्यकला के आदर्श-रूप का परिचय हिंदी जनता को हो सका। इनके अतिरिक्त 'विद्यासुंदर' का अनुवाद उन्होंने महाराज यतींद्रमोहन ठाकुर की इसी नाम की कृति की छाया ग्रहण करके प्रस्तुत किया। 'विद्यासुंदर' के कथानक का आधार चौर कवि की सरस रचना चौरपंचाशिका है। यह कथा बंगाल में

---

[1] दे० साहित्य दर्पण— एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा। (परि० ६ श्लोक १०)

जो एकाध ही पात्र रंगमंच पर कभी दर्शन सी देते हैं वो केवल विषम राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतली बन कर। इन अनूदित नाटकों से जीवन के विविध स्वरूपों के प्रति भारतेंदु के अनुराग और व्यापक रुचि का पता चलता है। विभिन्न प्रेमाख्यानों से लगाकर राजनीतिप्रधान ऐतिहासिक और पौराणिक सभी प्रकार के नाटकों पर उनका समान अनुराग रहा है। उनके सर्वप्रिय रस शृंगार और वीर हैं। इन नाटकों में यद्यपि धीरोदात्त धीरप्रशांत धीरललित और धीरोद्धत सभी प्रकार के पात्र हैं परन्तु भारतेंदु जी का प्रधानतया धीरोदात्त और धीरललित पर ही विशेष अनुराग लक्षित होता है। इनके स्त्री पात्र प्रायः सभी स्वकीया कोटि के हैं। एक बात और ध्यान में रखने की है कि अनुवाद के लिए चुने गए इन नाटकों में कोई दिव्य नायक नहीं है सब अदिव्य (मौलिक महापुरुष चारुदत्त चन्द्रगुप्त आदि) और दिव्यादिव्य (अर्जुन) ही हैं। अनूदित नाटकों में लक्षित भारतेंदु की इन प्रवृत्तियों का प्रतिफलन हम उनके मौलिक नाटकों में देखेंगे।

इन नाटकों के अनुवाद में दो प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है। गद्यांशों का अनुवाद खड़ी बोली में किया गया है जिसके रूप की चर्चा आगे होगी। पद्यांश का अनुवाद भारतेंदुजी ने ब्रजभाषा में किया है, जो उस समय तक कविता की सर्वमान्य भाषा थी। उनके अनुवाद के लिए अत्यंत प्रौढ़ कवि-प्रतिभा अपेक्षित है। सौभाग्य से भारतेंदु को उच्चकोटि की कवित्व-शक्ति प्राप्त थी। फल स्वरूप उनके द्वारा किए गए पद्यांशों के अनुवाद में मौलिक रचनाओं का सा आनंद आता है। संस्कृत रचनाओं के इतने सफल अनुवाद हिंदी में राजा लक्ष्मणसिंह और कविरत्न सत्यनारायणजी के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सका। गद्यांशों के अनुवाद में भी भारतेंदु जी सफल हैं। गद्य चाहे तथ्य निरूपण प्रधान हो और चाहे वस्तु-वर्णनात्मक उनके अनुवाद में भारतेंदु की लेखनी में कहीं भी जड़ता के दर्शन नहीं होते। अन्य बहुत से लेखकों ने भी संस्कृत नाटकों के अनुवाद किए हैं। उनका गद्य भले ही भारतेंदु के गद्य से कुछ प्रौढ़ हो पर पद्यानुवाद नीरस और फीके हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेंदु में बिहारी रत्नाकर और देव की कोटि की कवि-प्रतिभा थी तभी उनके सब अनुवादों में मूल की सी सरसता है।

शेक्सपियर के 'मर्चेंट आफ वेनिस' में मित्र के प्रति उदात्त आदर्श की अभिव्यंजना की गई है, इसलिए भारतेंदु जी ने दुर्लभबंधु नाम से उसका हिंदी

अनुवाद किया। इसका दूसरा नाम उन्होंने 'वंशपुर का महाजन' भी रखा। इस अनुवाद की मुख्य विशेषता यह है कि इस में भारतेंदु ने शेक्सपियर के नाटक के कथानक और वातावरण के भारतीयकरण की चेष्टा की है। इस में वेनिस तो वंशपुर हो ही गया है नाटक के पात्रों के नामों का भारतीयकरण बड़ी सफलता से हुआ है। एन्टोनियो को अनन्त बैसानियो को बसन्त शाइलाक को शैलाक्ष पोर्शिया को पुरश्री अभिधा को मधोरा आदि कर दिया गया है। नामकरण-संस्कार द्वारा वातावरण को भारतीय बनाने में अवश्य सहायता मिली है पर उस नाटक में चित्रित यूरप के धार्मिक और सामाजिक जीवन की समस्याओं का ठीक ठीक भारतीय रूप उपस्थित नहीं किया जा सका है। मूल नाटक के ईसाई और यहूदियों के पारस्परिक विद्वेष को अनुवाद में आर्यों और जैनियों के धार्मिक द्वेष और घृणा का रूप दिया गया है। यहूदी महाजन मारवाड़ का बनिया बना दिया गया है। पर यह रूपान्तर सब दृष्टियों से सदोष है। हमारे देश में जैन धर्म भी उदार आर्यधर्म का ही एक सुन्दर विकास मात्र है। आर्यों और जैनों में यहां सौहार्द और सौभ्रात्र का ही भाव सदा रहा है। उनके बीच यूरोप के ईसाई और यहूदियों के पारस्परिक द्वेष और घृणा जो पश्चिमी सभ्यता साहित्य और इतिहास के कलंक हैं का आरोप बड़ी भारी ऐतिहासिक असंगति है। पता नहीं किस असावधानी के वश में भारतेंदु ने यह भयानक भूल की। शेक्सपियर आदि यूरप के साहित्यकारों ने यहूदियों के प्रति अपने साहित्य में जिस घृणा का प्रचार किया है, उसी का परिणाम वहाँ के इतिहास में समय समय पर ईसाइयों द्वारा यहूदियों पर किये गए अमानुषिक अत्याचारों के रूप में प्रकट हुआ है। आर्य और जैनधर्म के बीच भेद और घृणा के भाव को प्रश्रय देना समन्वयमूलक भारतीय साहित्य के लिए एक परिपन्थी कृति है। यहूदी शायलाक शैलाक्ष नाम धारण करने से ही मारवाड़ का महाजन नहीं बन सका। शायलाक अथवा शैलाक्ष में जिस लोक और धर्म-विरोधी अमानुषिक वृत्तियों की विवृति की गई है वे मारवाड़ के धर्मभीरु बनियों के चरित्र और व्यवहार का अंग कभी नहीं रहीं। मारवाड़ी बनियों के बीच कोई शायलाक यदि हुआ हो तो इतिहास और साहित्य उस से परिचित नहीं पर उनमें भामाशाह अवश्य हुए हैं जिनका नाम इतिहास की विभूति है। इसके अतिरिक्त शेक्सपियर के नाटक के अन्तर्गत यूरोप के समाज की जिन वैवाहिक रस्मों और अन्य रीति-नीतियों का वर्णन किया गया है, अनुवाद में भी उनका उसी रूप में

रहने दिया गया है। इससे नाटक का वातावरण भारतीय नहीं बन पाया है, और उस दिशा में किया गया प्रयत्न अधूरा ही रह गया है। इस अनुवाद की भाषा भी कहीं कहीं कुछ शिथिल और अपरिमार्जित है। इन दोषों का कारण संभव है यह हो कि पूरा अनुवाद भारतेंदु जी ने नहीं किया है।

इन दोषों के होते हुए भी अनुवाद की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। मूल नाटक के नाम 'मर्चेंट आफ वेनिस' से स्पष्ट है कि शेक्सपियर व्यापारी के चरित्र को प्रमुखता देना चाहता है। पर भारतेंदु ने अनुवाद का 'दुर्लभ बन्धु' नाम देकर अनन्त के चरित्र को प्रधान बनाने का सफल उद्योग किया है। पुस्तक के आमुख-स्वरूप जो दो पद उन्होंने उद्धृत किये हैं, उनसे एन्टोनियो अथवा अनन्त के चरित्र के प्रति उनका अनुराग प्रकट होता है —

दुर्लभा गुणिनो शूरा दातारश्चापि दुर्लभाः।
मित्रार्थे त्यक्तसर्वस्वो बन्धुस्सर्वस्सुदुर्लभः।
खुदा मिले तो मिले आशना नहीं मिलता
किसी का कोई नहीं दोस्त सब कहाते हैं।

भारतेंदु स्वयं जिस धन-दुर्लभ मैत्रीके आदर्श के मूर्त रूप थे उसी की छाया उन्होंने अनन्त के चरित्र में देखी थी। तात्पर्य यह कि जहाँ मूल नाटककार का दृष्टिकोण व्यापारिक वातावरण की ओर है वहाँ भारतेंदु मैत्रीप्रधान भावुक के सब गुणों से विशिष्ट पात्र अनन्त को ही प्रमुख बना देते हैं। इस प्रकार वे विदेशी साहित्य और उसके भावों और आदर्शों को आत्मसात करनेका ऐसा मार्ग निकालते हुए दिखाई पड़ते हैं जो उनके अजनबीपन को दूर कर दे और भारतीय साहित्यादर्श के सर्वथा अनुकूल हो। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि 'साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए नए या बाहरी भावों को इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामंजस्य भारतेंदु की कला का विशेष माधुर्य है। प्राचीन और नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेंदु का उदय हुआ इसमें संदेह नहीं।'[1]

१ रा० च० शु० : हि० सा० का इ०, पृ० ४६–५०५ (१९९९ सं०)

मौलिक नाटक

कथावस्तु—उसका स्वरूप और आधार

महर्षि भरत ने नाटक की कथावस्तु के विषय और स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है —

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥[1]
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥[2]

अर्थात् नाटक नाना प्रकार के भावों और अनेक अवस्थाओं के विवरण से सम्पन्न लोकवृत्त का अनुकरण है। कोई भी ऐसा ज्ञान शिल्प विद्या कला योग अथवा कर्म नहीं है जो इस नाट्य में प्रदर्शित न हो सके। तीनों लोकों के सब प्रकार के भावों का अनुकीर्तन इसमें रहता है। 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्'- भरत के इस कथन का तात्पर्य यह है कि नाटक का क्षेत्र अत्यंत विशाल व्यापक और नानारसात्मक है, क्योंकि उसका विषय सीमित नहीं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के प्रभाव से जो अनेक प्रकार का लोकचरित और अनेक रस-समूह समुद्भूत होते हैं,[3] उन सबका प्रदर्शन नाटक में हो सकता है। वस्तुतः नाटक और उसका रंगमंच इस सृष्टि के महानाटक और उसके अनन्त और असीम संसाररूपी महारंगमंच की पूर्ण प्रतिकृति हैं। इसलिए संस्कृत नाट्यसाहित्य में रूपक और उपरूपक के अनेक भेदों में कथावस्तु का चयन और ग्रहण जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से होता रहा है। भारतेंदु भारतीय नाटक की परंपरा उसके असली स्वरूप और मर्म से पूर्ण परिचित थे। पाश्चात्य नाटकों का ज्ञान प्राप्त करने से उनकी दृष्टि व्यापक और भाव सुस्पष्ट हो गया था। उनमें अनेकरूपात्मक जीवन के अनुशीलन और अभिव्यंजन की सतत रुचि थी यह उनके अनुवाद ग्रंथों की चर्चा करते हुए लिखा जा चुका

१ हि० ना० शा० १।११२ ।
२ ह० ना० शा० १।११४ ।
३ वही :—त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते ।—कालिदास ।

है। उनकी उसी रुचि और व्यापक सहानुभूति का विकसित रूप हमें उनके मौलिक नाटकों में मिलता है।

पुराण और इतिहास

अध्यात्म और प्रेम, इतिहास और पुराण, धर्म और राजनीति, समाज और शासन की बहुमुखी दुरवस्था से लगा कर देशी राज्यों की कुव्यवस्था तक सबका चित्रण भारतेंदु जी ने अपने नाटकों में किया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'सती प्रताप' पौराणिक नाटक हैं जिनमें अयोध्या के सत्यव्रती महाराजा हरिश्चन्द्र और पतिव्रता-शिरोमणि देवी सावित्री के प्रख्यात आख्यानों को नाटकीय रूप दिया गया है। सत्य और पतिव्रत दोनों ही भारत की नैतिक और सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त हैं। सत्यपरायणता के लिए यह देश सदा प्रसिद्ध रहा है। पौराणिक काल को छोड़ दिया जाय तो भी ऐतिहासिक काल में अनेक विदेशी यात्रियों ने भारतीयों की सत्यवादिता की प्रशंसा की है। अपने समय में भारतीय जीवन में इसी सत्य के आदर्श का ह्रास देख कर ही भारतेंदु जी ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की रचना की। वह लिखते हैं–'इस भारतवर्ष में उत्पन्न और इन्हीं हम लोगों के पूर्व पुरुष महाराज हरिश्चन्द्र भी थे। यह समझकर इस नाटक के पढ़नेवाले कुछ भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सुफल होगा ('सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का 'उपक्रम') इसी प्रकार पातिव्रत का महत्व प्रतिपादन करने के लिए 'सती प्रताप' नाटक लिखा गया है। वास्तव में वर्णाश्रम-व्यवस्था का विशाल भवन सतीत्व की नींव पर ही टिका है। यही भारतीय संस्कृति की आधार-शिला है।[1] भारतीय संस्कृति मुसलिम आक्रमणों की बर्बरता और धर्मोन्माद का सफल प्रतिरोध कर सकी थी। अब पाश्चात्य संस्कृति की ओर से नया संकट उपस्थित था। यह संकट दिन प्रतिदिन स्पष्ट होता जाता था। यह लिखा जा चुका है कि अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से लोग अपने धर्म, साहित्य और संस्कृति से विमुख होते जा रहे थे और इस परिस्थिति से पूरा लाभ उठाने का उद्योग ईसाई मिशनरी कर रहे थे। ये मिशनरी हिंदू धर्म की तीव्र आलोचना करके अँगरेजी के नव शिक्षितों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न करते थे और दूसरी

1—सतीत्वं मूलं धर्म। शुचि [illegible]। भूषणं [illegible]।
पुण्यमनुत्तमम्। विश्वं धाम्न् ।——धर्ममीमांसा।

और पुष्कल द्रव्य व्यय करके दीन-दुखियों को अपने धर्म में लाते थे। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज इस संकट के निवारण के लिए प्रयत्नशील थे। भारतेंदुजी ने अपने साहित्य के द्वारा यही काम किया। उन्होंने देखा कि समाज में उच्च सांस्कृतिक आदर्शों की पुनःप्रतिष्ठा और नैतिक पुनरुत्थान की बलवती भावना के व्यापक प्रसार से ही यह महाव्याधि—पराजयता—दूर की जा सकती है। अतः उन्होंने हरिश्चन्द्र और सावित्री के आदर्शों का अनुशीलन किया। 'हरिश्चन्द्र' नाटक में दिखाया गया है कि 'सत्यपथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं।'[1] हरिश्चन्द्र की रचना में भारतेंदु अपने धर्म और सभ्यता तथा संस्कृति से पराङ्मुख होनेवाली जनता के लिए एक आदर्श निर्माण कर रहे थे और सावित्री की दृष्टि में भारतीय नारीत्व के मंगलमय जागरण के उपयुक्त वातावरण तैयार कर रहे थे।

भारतीय नारीत्व का यह आदर्श एकांगी नहीं था। पातिव्रत की दृष्टि का विकास आवश्यकता पड़ने पर कर्तव्य जीवन के अनेक क्षेत्रों और रूपों में होता था। लज्जाशीला भारतीय गृहलक्ष्मियाँ समय पड़ने पर कराला काली और दुष्टदलिनी दुर्गा का रूप भी धारण करती थीं और सेवा ज्ञान तथा क्रिया तीनों ही क्षेत्रों में उनका सर्वांगीण विकास हुआ था यही प्रदर्शित करने के लिए 'नीलदेवी' नामक नाटक लिखा गया है। इस नाटक में पंजाब के एक हिंदू राजा सूर्यदेव पर मुसलमानों के आक्रमण की कथा है, जिसका आधार ऐतिहासिक कहा गया है। अब्दुस् शरीफ नामक एक मुसलमान अमीर पंजाब-नरेश सूर्यदेव पर चढ़ाई करता है। पराजित होने पर रात्रि में सोते समय धोखे से उनके शिविर पर छापा मार कर उन्हें बन्दी बनाता है। बन्दी राजा यवनों से लड़ते हुए मारे जाते हैं। राजकुमार सोमदेव और राजपूत सैनिक सम्मुख युद्ध में अब्दुस् शरीफ को इस विश्वासघात का दंड देने का प्रस्ताव करते हैं। पर रानी नीलदेवी उसे अस्वीकार करती है और स्वयं गायिका का रूप धारण कर अमीर के शिविर में जाती है और मद्य द्वारा उस कामातुर यवन का वध करती है। अपने पति-घातक से इस प्रकार प्रतिशोध ले कर रानी सती होने का उपक्रम करती है। किसी इतिहास-ग्रंथ से भारतेंदु जी ने इस नाटक का कथानक लिया हो इसका कुछ पता नहीं चलता। ग्रंथारंभ में उन्होंने किसी अंगरेजी काव्य की कुछ पंक्तियां उद्धृत की हैं लोगों का अनुमान है

१—द 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का समर्पण।

कदाचित् इस नाटक के कथानक का आधार यही अंगरेजी काव्य है। पर यह अंगरेजी काव्य भी इन पंक्तियों के अतिरिक्त अधिक नहीं मिलता और न यही ज्ञात है कि उसका लेखक कौन था अतएव उसके मूल स्रोत का भी कुछ अनुमान नहीं हो पाता। मुसलमानों के आक्रमण-काल में स्थान स्थान पर भारतीय शौर्य का जो असाधारण विस्फोट हुआ था उसकी कथा का अपने अंतर्गत में छिपाये न मालूम कितनी हल्दीघाटियाँ और थर्मापोलियाँ हमारे देश के असंख्य गाँवों अरण्यपथों और उपत्यकाओं में अज्ञातावस्था में प्रसुप्त हैं। वे सब कथाएँ दीर्घकाल तक प्राचीन गौरव के विलुप्त रहने के कारण इतिहास में स्थान नहीं पा सकीं केवल जनश्रुतियों अथवा लोकगीतों में अवश्य उनमें से कुछ घटनाओं की स्मृति जीवित है। संभव है यह कथानक भारतेंदु जी का अथवा अंग्रेजी की उन पंक्तियों के कवि को किसी जनश्रुति से प्राप्त हुआ हो जिसको उन्होंने अभिनयात्मक रूप दिया। कुछ भी हो सांस्कृतिक पुनरुत्थान की बड़ी व्यापक प्रेरणा से भारतेंदु जी ने इस ऐतिहासिक गीतिरूपक की रचना की है। शासक अंग्रेजों की स्त्रियों की सम्पन्नावस्था देख कर उन्होंने अपने देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीनावस्था का स्मरण और अनुभव किया। फिर उन्होंने भारतीय नारी के पूर्व गौरव का स्मरण करते हुए लिखा—'आज जनमात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सदा स्त्रीगण इसी अवस्था में थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने ही के हेतु यह ग्रंथ विरचित होकर आप लोगों के कोमल कर-कमलों में समर्पित होता है।' वस्तुतः हमारे साहित्य में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का जो आन्दोलन प्रसाद के नाटकों में चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ उसका श्रीगणेश भारतेंदुजी की इन पौराणिक कृतियों द्वारा हुआ था।

धर्म और समाज

भारतेंदु जी को अपने देश के विगत ऐश्वर्य पर जितना गर्व था उसकी वर्तमान अधोगति पर उतनी ही वेदना और ग्लानि भी। धर्म समाज और राजनीति तीनों क्षेत्रों में राष्ट्र का पतन चरम सीमा को पहुँचा हुआ था। धर्म और समाज की जो अराजक अवस्था मुसलमानों के आने के पूर्व थी जिसके कारण देश निर्बल और मुसलमानों से पराजित हुआ था उसके निवारण का कुछ प्रयत्न भक्ति-आन्दोलन द्वारा हुआ था। पर कालान्तर में भक्ति-आंदोलन की वह शक्ति भी क्षीण हो गई थी और उसका स्वरूप पाखंड से आच्छन्न हो गया था। भक्ति के

केन्द्र जो प्राचीन-जीवन में शक्ति-संचार के लिए निर्मित हुए थे अब दुराचार और अनाचार के अड्डे बन गए थे। रूढ़ियों और कुरीतियों से ग्रस्त दुर्बल समाज में इस परिस्थिति के प्रतिकार की भावना की संभावना ही कैसे होती वह दिन दिन और गहरे पतन के गर्त में गिरता जा रहा था। अंग्रेज़ों की राजनीति ने इन समस्याओं को और जटिल बना दिया था और राष्ट्र-शरीर में भयंकर दरिद्रता भुखमरी महामारी टैक्स, आर्थिक शोषण आदि अनेक नवीन व्याधियाँ प्रभृत राजरोग लग गए थे। भीतर और बाहर सब ओर से बन्दी अनेक वेदनाओं से छटपटाते हुए मृतप्राय देश की दुर्दशा देखकर भारतेंदु का हृदय गहरी वेदना से भर गया था। हम पहले ही लिख चुके हैं कि देश की यह दुरवस्था ही भारतेंदु के साहित्य की प्रेरक शक्ति है। देश के आत्मसम्मान को जगाने के लिए ही उन्होंने उसके प्राचीन गौरव का गान और उज्ज्वलताओं का अनुकीर्तन किया। पर यह आशा दुराशा थी इसका अनुभव भी भारतेंदु जी को हुआ होगा। कारण, राष्ट्र के मरणोन्मुख प्राणों में वे गौरव-गान मात्र चेतना का संचार करने को पर्याप्त नहीं थे। अतः उन्हें गहरी निराशा का अनुभव हुआ और उस निराशापूर्ण वेदना की अभिव्यक्ति 'भारत दुर्दशा' और 'भारतजननी' नाटकों में हुई।

'भारतदुर्दशा' छः छोटे छोटे अंकोंवाला एक अत्यन्त प्रभावशाली दुःखान्त नाटक है। इसके पहले अंक में एक योगी आता है, जो एक अत्यन्त मार्मिक गीत भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अधःपतन का वर्णन करता हुआ कहता है —

रोअहु सब मिलि कै, आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

दूसरे अंक में जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों में निराशा की मूर्ति बना हुआ भारत स्वयं आता है, और अपने अतीत की स्मृति में आँसू बहाता है। इसी बीच नेपथ्य से 'भारतदुर्दैव' का गर्जन सुन कर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। इस स्थिति में निर्लज्जता और आशा आकर उसे आश्रय देती हैं। तीसरे अंक में 'भारतदुर्दैव' के शिविर का दृश्य है। 'भारतदुर्दैव' कौन है, यह समझने में किसी को किसी प्रकार का भ्रम नहीं हो सकता। उसका वेष आधा क्रिस्तानी और आधा मुसलमानी है, और उसने दल-बल से भारत पर आक्रमण किया है। वह कहता है —

उपजा ईश्वर कोप से, औ आया भारत बीच।
छार खार सब हिंद करूँ मैं, तो उत्तम नहिं नीच॥

इस प्रकार भारत के सर्वनाश का दृढ़ संकल्प करके वह अपनी विनाशकारी योजना का परिचय देता है —

काल भी लाऊँ महँगी लाऊँ, और बुलाऊँ रोग।
पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ जग में सोग॥
फूट बैर औ कलह बुलाऊँ, ल्याऊँ सुस्ती जोर।
घर घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर॥
मरी बुलाऊँ देस उजाड़ूँ, महँगा करके अन्न।
सब के ऊपर टिक्कस लगाऊँ, धन है मुझको धन्न॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।

वास्तव में 'भारतदुर्दैव' की यह विनाशकारी योजना अँगरेजों की शासन नीति और उसके कुपरिणामों की ही व्याजनिन्दा है। यह बात 'भारतदुर्दैव' के इस कथन से और भी स्पष्ट हो जाती है—"हा हा हा! कुछ पढ़े-लिखे मिल कर देश सुधारा चाहते हैं! हा हा हा हा! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों का दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो। हैं! हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं, मूर्ख! यह योजना कार्यान्वित करने के लिए वह 'सत्यानाश फौजदार' को बुलाता है। 'सत्यानाश फौजदार' संक्षेप में भारत के सर्वनाश के लिए कर्मपद के समय से अब तक किए हुए भारत कार्यों का गर्व के साथ उल्लेख करता है और कहता है कि वह भविष्य में शराब के द्वारा देश की अब प्रतिष्ठा को भी मटियामेट कर देगा —

पिलावेंगे हम खूब शराब। करेंगे सब को आज खराब।

भारत के सर्वनाश का काम किस उत्साह से चल रहा है, इसकी सूचना यह 'भारतदुर्दैव' को देता है। वह बताता है कि उसे इस कार्य में सबसे अधिक

उदासीनता धन से मिली। धर्म के नाम पर मत-मतान्तरों की वृद्धि, जाति-प्रथा बाल-वृद्धविवाह, बहुविवाह, विधवा-विवाह-निषेध, समुद्र-यात्रा-निषेध आदि ने जाति की जीवनी-शक्ति को नष्ट कर दिया है। हिन्दू अनेक देवी-देवताओं और भूतप्रेतों की पूजा करते हैं, और छुआछूत तथा चौके-चूल्हे को ही धर्म मानते हैं। वेदान्त के नाम पर वे निष्क्रिय स्नेहशून्य और अभिमानी हो गए हैं, तथा संतोष की आड़ में आलसी तथा उद्यमहीन बन बैठे हैं। अँगरेजी शासन के सम्पर्क से उनमें अपव्यय अदालत फैशन और सिफारिश का व्यसन पैदा हो गया है, जिससे धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची समुद्र के पार ही शरण मिली।' इसके पूर्व और धन के बमगोलों से इस प्रकार भारत की सम्पत्ति शक्ति का दुर्ग सर्वथा भूमिसात् करके उसने अपने अतिवृष्टि अनावृष्टि नाही कीड़े टिड्डे पाला इत्यादि सिपाहियों की सहायता से भारत की कृषि-शक्ति को भी छिन्न-भिन्न कर दिया है, नील ने नील बन कर संहार किया है। ऐक्य अथवा संघटन शक्ति से पुनः उसके उत्थान की संभावना ही न रहे, इसलिए उसने फूट, डाह, लोभ भय उपेक्षा स्वार्थपरता, पक्षपात हठ शोक, अश्रुमार्जन, निर्बलता आदि एक दर्जन दूती-दूतों को भेजकर भारत की भाषा धर्म व्यवहार, चाल-चलन सब को धूर की तरह फाड़ दिया है। अपने प्रधान सेनापति से भारत के सर्वनाश का यह समाचार पाकर भारतदुर्दैव सुख और संतोष की साँस लेता है—"अब उसको कहीं शरण न मिलेगी। धन बल और विद्या तीनों गई। अब किसके बल कूदेगा!

चौथे अंक में एक अंग्रेजी ढंग से सजे हुए कमरे में भारत-दुर्दैव बैठा हुआ दिखाई पड़ता है। उसी समय रोग गाता हुआ प्रवेश करता है :—

मृत्यु कलंक मिटावत मैं ही मो सम और न आन।
परम पिता हम हीं वैद्यन के अत्तारन के प्रान ॥

इस प्रकार आत्मप्रशंसा के बहाने वैद्यों और हकीमों का उपहास करता हुआ वह अपने प्रकृत रूप का परिचय देता है। वह बताता है कि 'ज्वर, शाप भूत प्रेत टोना टम्मन देवी-देवता सब उसी के नामान्तर हैं, और उसी की बदौलत ओझा दरसनिये स्याने पंडित सिद्ध आदि लोगों को ठगते और अपनी जीविका चलाते हैं। म्युनिसिपैलिटी के रोग-निवारण के अधकचरे प्रयत्नों की हँसी उड़ाता हुआ

वह कहता है—'ह ह ! मुंशी की कमेटी सफाई करके मेरा निवारण करना चाहती है, यह नहीं जानती कि जितनी सड़क चौड़ी होगी उतने ही हम भी 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा तासु दुगुन कपि रूप दिखावा' ।' भारतदुर्दैव की आज्ञा से भारत का मारन के लिए वह विस्फोटक, हैजा, डेंगू, अपाप्लेक्सी आदि अँगरेजों के साथ आई हुई नई व्याधियों को आक्रमण करने की आज्ञा देता है जिनका हिन्दुओं ने कभी नाम भी नहीं सुना। उसको सफलता का पूर्ण विश्वास है क्योंकि वह जानता है कि धन्वन्तरि दिवोदास सुश्रुत-वाग्भट्ट-चरक का युग तो बीत ही गया है और उदरंभरि वैद्यों के हाथों में वैद्य-विद्या भी मर गई है। दूसरी ओर मूर्ख जनता डाक्टरों के बताए हुए टीका आदि रोग-निवारण के उपायों की उपेक्षा करती है। रोग के चले जाने पर आलस्य आता है, उसे भी भारतदुर्दैव अपनी योगनिद्रा से भारतवर्ष को अपने वश में करने की आज्ञा देता है। तत्पश्चात् मदिरा आती है, जो अपने उद्भव और प्रभाव का वर्णन कुछ मदिरासेवी व्यक्तियों की दार्शनिक और साहित्यिक शब्दावली में और कुछ अशिक्षित पियक्कड़ों की प्रलाप-शैली में करती है। मदिरा के वक्तव्यों में जहाँ एक ओर पियक्कड़ों पर कठोर व्यंग्य है, तो दूसरी ओर अँगरेजी शासन की मादक-द्रव्य सम्बन्धी नीति की पोल भी खोल दी गई है :—

सरकारहिं मंजूर जो मेरो होत उपाय।
तो सब सौं बढ़ि मद पै देती कर बैठाय।
हम ही कौं या राज की परम निसानी जान।
कीर्ति खंभ सी जग गड़ी, जब लौं थिर ससि भान।
राजमहल के चिह्न नहिं, मिलिहैं जग इत कोय।
तबहू बोतल टूक बहु मिलिहैं कीरति होय।

वस्तुतः भारतेन्दु अँगरेजी सरकार की कूटनीति का भंडाफोड़ करने का कोई भी अवसर नहीं चूकते हैं। उनकी पैनी दृष्टि से अँगरेजों की कपट-नीति का कोई भी पहलू छिपा नहीं था, भले ही वे शासन के शिकंजे से बचने के लिए कभी कभी महारानी विक्टोरिया के नाम की दुहाई भी दे दें। मदिरा तथा उस के पूर्व के सब वक्ताओं के कथन में यह विशेषता पाई जाती है। मदिरा को हिंदुस्तान में आकर हिन्दुओं से सम्मान की आशा मिलती है। उसके चले जाने पर अंधकार आता है,

जिसका जन्म सृष्टि-संहार-कारक तमोगुण से हुआ है। अंधकार अज्ञान का ही दूसरा नाम है। भारतदुर्दैव उस भारत की अवशिष्ट विवेक-बुद्धि का भी नाश करने की आज्ञा देता है। उसके बाद आने पर वैतालिकों के गान और गीत के साथ चौथा अंक समाप्त होता है। पाँचवें अंक में एक पुस्तकालय का दृश्य है, जिसमें सात सभ्यों की समिति में 'भारतदुर्दैव' का आक्रमण रोकने के उपायों पर विचार-विमर्श हो रहा है। समिति में सभापति के अतिरिक्त एक बंगाली एक महाराष्ट्र, दो देशी एक कवि तथा एक संपादक हैं। समिति उस समय के शिक्षित भारत की प्रतिनिधि है, जिसके विचारों में प्रत्येक प्रान्त के अँगरेजी शिक्षितों की अकर्मण्य राजनीतिक चेतना का उपहास किया गया है।

भारत की दशा के सुधार के सम्बन्ध में सब के मत भिन्न भिन्न हैं। दोनों देशी सज्जन विवाद में खुल कर भाग नहीं लेते हैं, क्योंकि उन्हें हाकिमों की अप्रसन्नता का डर है। महाराष्ट्र सज्जन सार्वजनिक सभाओं की स्थापना कपड़े की मिलें खोलने तथा स्वदेशी के व्यवहार का आन्दोलन चलाने की सलाह देते हैं। सम्पादक जी की राय है एड्रेसों की एक तोप कमेटी की फौज, अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मार मार कर 'भारतदुर्दैव' के आक्रमण को विफल किया जाय। ये सम्पादक महोदय उस वर्ग के प्रतिनिधि हैं, जो आगे चलकर विचारवादी सुधारक दल में परिणत हो गया। कवि जी की राय है— 'अमुक किनारे कनात खड़ी कर दी जावें कुछ लोग चूड़ी पहन कनात के पीछे खड़े रहें। जब फौज इस पार उतरने लगे कनात के बाहर हाथ निकाल कर उँगली चमका कर कहें "मुए इधर न आइयो इधर जनाने हैं।" ये कवि जी उस समय की स्त्रैण रीतिकालीन काव्य-परम्परा के प्रतिनिधि हैं। समिति के सब से सक्रिय सदस्य बंगाली महानुभाव हैं। उनके उर्वर मस्तिष्क से बहुप्रकार की बड़ी बड़ी योजनाएँ प्रसूत होती हैं। वे सबसे पहले अखबारों में घोरतर प्रचार की सलाह देते हैं। यदि उससे काम न बने तो 'भारत-उद्धार' नामक बंगला नाटक में बताए गए मार्ग का अवलम्बन करने को कहते हैं, जिसमें [illegible] स्वेज नहर पाट कर और [illegible] से अँगरेजों की आँख में धूल और पानी डालने का उपाय बताया गया है। अस्तु जिस समय ये सब सभ्य इस प्रकार तर्क-वितर्क कर रहे होते हैं, उसी समय पुलिस के वेश में डिसलायल्टी आ उपस्थित होती है, और सबको

है कि 'इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट की हाकिमेच्छा नामक दफा में सब के सब बन्दी किए गए। इस प्रकार पाँचवाँ अंक समाप्त होता है। छठे अंक में एक वन के मध्य भाग में 'भारत' एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा दिखाई पड़ता है। 'भारत भाग्य' आता है और अनेक प्रबोध-वाक्यों और उत्साहपूर्ण उद्बोधनों से उसे जगाने की चेष्टा करता है। पर जब भारत किसी प्रकार अपनी मोह-निद्रा का परित्याग नहीं करता तो वह निराश होकर आत्महत्या कर लेता है।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण मिश्र ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक द्वारा आध्यात्मिक प्रतीक नाटकों की परम्परा चलाई उसी प्रकार 'भारतदुर्दशा' नाटक से राजनीतिक प्रतीक नाटकों की परम्परा चली। इस दृष्टि से इस नाटक का महत्व बहुत अधिक है। विषय और उद्देश्य की दृष्टि से 'भारतदुर्दशा' और 'भारतजननी' नाटकों का आधार एक है, और दोनों में ही प्रतीक शैली को ग्रहण किया गया है।

'भारतजननी' नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है कि भारतभूमि और भारत-संतान की दुर्दशा का अनुभव कराना ही इस नाटक की इतिकर्तव्यता है। यह एक संगीत प्रधान एकांकी रूपक—ऑपेरा—है। एक टूटे देवालय के सहन में मलिनवेषा भारत जननी निद्रित सी बैठी है, भारत संतान इधर उधर सो रहे हैं। 'भारतसरस्वती' 'भारतदुर्गा' और 'भारतलक्ष्मी' क्रमशः आती हैं और 'भारतजननी' को जगाने का प्रयत्न करती हैं। पर जब उसकी निद्रा नहीं टूटती तो निराश हो कर आँसू बहाती हुई चली जाती हैं। तीनों के चले जाने पर 'भारतजननी' की मोहनिद्रा भंग होती है और वह अपनी तीनों शक्तियों के विलग हो जाने पर विलाप करती है। फिर वह चारों ओर निद्रितावस्था में पड़ी हुई अपनी संतान को जगाती है। किन्तु उनकी निद्रा इतनी गहरी है कि वे माता की पुकार पर ध्यान ही नहीं देते। जब कभी कुछ चेतना लौटती भी है तो वे भोजन माँगते हैं। भुखमरी से पीड़ित भारत की दुर्दशा की व्यंजना इस दृश्य में है। 'भारतजननी' अपने पुत्रों को महारानी विक्टोरिया से पुकार मचाने और आत्मनिवेदन करने को कहती है वे कुछ कर भी नहीं पाते कि अकस्मात् एक अँगरेज जो 'भारतदुर्दशा' में उल्लिखित इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट की हाकिमेच्छा नामक दफा का प्रतीक है, आकर उनकी भर्त्सना करता है। उसी समय एक दूसरा अँगरेज उस क्रूर स्वदेशवासी को निकाल देता है और भारतमाता तथा भारतसंतान को महारानी

विक्टोरिया की दयालुता का विश्वास दिलाता है और अँगरेज जाति की प्रशंसा करता है जिसमें ग्लैडस्टन फासेट मार्क्विस रिपन विलियम्स इत्यादि महात्मा हैं 'जो अभागे भारतसंतानों का शोक-निवारण के हेतु तन-मन सब अर्पित कर चुके हैं, और रात दिन उसी का प्रयत्न किया करते हैं। किन्तु भारतेंदु जी का व्यंग्य यहां भी स्पष्ट है क्योंकि उसके इस कथन में अँगरेजों की महत्ता और उदारता के विज्ञापन की भावना ही अधिक है, भारत का वास्तविक हित-साधन करने की कामना कुछ नहीं। करुण अंत में वह भारतीयों को अपनी वर्तमान दशा से संतुष्ट हो भगवान् पर निर्भर रहने की सलाह देता है— भाई इसमें कोई क्या कर सकता है। सब उस सर्वेश्वर परमेश्वर के अधीन है, उसी का पुकारो वही समस्त जगत् और सब दीन दुखियों का रक्षक है। उसके चले जाने पर धैर्य आता है और भारत-संतान को जातीय दुर्गुण छोड़ कर धैर्य के साथ मंगलमय भविष्य की प्रतीक्षा करने को कहता है। अंत में भारत माता अपने पुत्रों से धैर्य उत्साह और एक्य आदि सद्गुणों को वरण करने का अनुरोध करती हैं। इस नाटक का ढांचा भारतेंदु का अपना नहीं है, इसलिए इसमें अभिव्यंजित सब भावों के लिए वे उत्तरदायी नहीं हो सकते। फिर भी विक्टोरिया और अँगरेजों की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा को उन्होंने कोरा व्यंग्य बना दिया है। अँगरेजों की राजनीति से सुपरिचित बहुश्रुत बहुज्ञ भारतेंदु इंग्लैंड की शासन-व्यवस्था के स्वरूप और महारानी विक्टोरिया की वास्तविक शक्ति और चरित्र से परिचित न हों ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। यह समझ लेने के बाद उनके द्वारा विक्टोरिया और उनके शासन की प्रशंसा का व्यंग्य खुल जाता है— 'उनके गुण अनंत हैं। उनके समान सच्चरित्र, सत्ती, पतिव्रता और धर्मपरायणा स्त्री-कुल में उत्पन्न होना अति दुर्लभ है। वह राजधर्म से भी अधिक प्रजापालन में सदैव तत्पर रहती हैं।' मूल बँगला नाटक में भारतेंदु के व्यंग्य की यह मीठी चुटकी नहीं। व्यंग्य की सजीवता होते हुए भी 'भारतदुर्दशा' की ही भाँति इस नाटक का वातावरण भी करुण है। इन दोनों नाटकों में मुख्य अंतर इनके विषय में है। 'भारतदुर्दशा' नाटक का विषय यथार्थवादी है, और 'भारतजननी' का दृष्टिकोण भावुकतावादी है।

भारतेंदु अनुभव करते थे कि एक निरक्षर देश में कोरी साहित्य-रचना आत्म-तोषण मात्र है। इसलिए यह सम्भव नहीं था कि इन नाटकों में देश की

दुरवस्था की करुण अभिव्यक्ति मात्र से उनका हृदय हल्का होता, उन्हें संतोष मिलता। अतएव वे प्रहसन-रचना में प्रवृत्त हुए। वैसा होना स्वाभाविक भी था। कारण देश के भयंकर पतन को देख कर उनको दुःख और निराशा की जो वेदना हो रही थी उसकी दुःसह पीड़ा से त्राण पाने का कुछ न कुछ मार्ग उन्हें खोजना ही था। हास-परिहास के अतिरिक्त इस पीड़ा के बहलाने का और उपाय हो ही क्या सकता था ?[1] बायरन ने लिखा है कि यदि मैं किसी मरणधर्मा वस्तु पर हँसता हूँ तो केवल इसीलिए कि मैं रोऊँ नहीं।[2] राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—धर्म समाज राजनीति—में विषमता का साम्राज्य था। भारतेन्दु इस विषमता का अनुभव कर रहे थे वे देख रहे थे कि धर्म में पाखंड शासन में शोषण और समाज में रूढ़िवाद और अज्ञान व्याप्त है। सामाजिक जीवन के इस असामंजस्य और वैषम्य के बोध से उत्पन्न वेदना की परिणति परिहास और व्यंग्य में होना स्वाभाविक था। भारतेन्दु यह भी जानते थे कि उस परिस्थिति में परिहास और व्यंग्य सामाजिक अनुशासन के भी अच्छे साधन बनाए जा सकते हैं क्योंकि समाज की जड़ता पर उनके द्वारा सफलतापूर्वक आघात किया जा सकता है। अत्यन्त भावुक प्रज्ञावान्, और प्रखर कल्पनाशक्ति-सम्पन्न होने के कारण उनकी हास्य-चेतना भी अत्यन्त विकसित थी। वैसे तो उनके प्रत्येक नाटक में हास परिहास और व्यंग्य की सजीवता है पर 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' 'अंधेर नगरी' और 'विषस्य विषमौषधम्' में इसकी प्रधानता है। 'वैदिकी हिंसा' और 'अंधेर नगरी' प्रहसन हैं, तथा 'विषस्य विषमौषधम्' भाण है।

'वैदिकी हिंसा' प्रहसन में धर्म के नाम पर होने वाले मांसाहार-सुरापान व्यभिचार आदि का खुलकर उपहास किया गया है। इसके नांदी में ही भगवान् के लिए होनेवाली नृशंस पशु-हिंसा पर व्यंग्य है :—

---

1 Laughter was created by nature as an antidote to sympathy —Macdougall.

हास और अश्रु वेदना के रक्षण-विधान (safety-valve) हैं।—बर्गसाँ

2. If I laugh at any mortal thing, it is that I may not weep —Byron.

बहु बकरा बलि हित कटैं जाके बिना प्रमान।
सो हरि की माया करै सब जग को कल्यान।

इस प्रहसन के रंग को गहरा करता हुआ सूत्रधार कहता है—'अहा हा ! आज की संध्या की कैसी शोभा है। सब दिशा ऐसी लाल हो रही है मानो किसी ने बलिदान किया है और पशुरक्त से पृथ्वी लाल हो रही है।' पहले अंक में सपरिकर महाराज गृध्रराज की सभा का दृश्य है जिसमें महाराज मंत्री और पुरोहित सभी मद्य मांस मैथुन आदि की प्रशंसा कर रहे हैं। पुरोहित उनके समर्थन में शास्त्रों के स्वकल्पित प्रमाण देता है। उसी समय एक विधवा-विवाह के प्रचारक बंगाली महानुभाव आते हैं। पुरोहित भी गृध्रराज के पूछने पर विधवा-विवाह की व्यवस्था देता है, क्योंकि ये सभी वारेन बृहस्पति और व्यभिचाररती मुनि आदि अनेक श्रुतियाँ और शास्त्राज्ञायें इसके पक्ष में हैं। इसलिए इनके हेतु तो कोई विधि-निषेध है ही नहीं जो चाहें करें चाहे जितने विवाह करें यह तो केवल एक बन्धन मात्र है। सभा समाप्त होने पर दूसरे अंक में सब पूजाघर में एकत्र होते हैं जहाँ एक लाख बकरों की बलि दी जाने वाली है। इस अंक में विदूषक भी है जो हिंसाप्रधान पुरोहित तथा अन्य ब्राह्मणों की हँसी उड़ाता है। इस सभा में एक वेदान्ती एक वैष्णव और एक शैव आते हैं, जिनकी सबलोग मिलकर हँसी उड़ाते हैं। परन्तु, महात्मा गंडकी दास जो [illegible] पक्के भक्त वैष्णव वर्ग के प्रतिनिधि हैं, का सबलोग आदर करते हैं। तीसरे अंक में मदिरा पीकर उन्मत्त पुरोहित राजा मंत्री आदि आते हैं। सब मदिरा की प्रशंसा में मस्त होते हैं, जिसमें पुरोहित सब से आगे है। ये सब मतवाले मांस-भक्षण तथा मद्य-पान के समर्थन में पुनः शास्त्र-वाक्यों का मनमाना अर्थ करते हैं और सब धार्मिक आडम्बर छोड़कर मद्य-मांस-सेवन का निर्णय बनाते हैं। चौथे अंक में यमराज के दरबार में नाटक के सब प्रधान पात्र एकत्र दिखाई पड़ते हैं। उनमें से शैव और वैष्णव को कैलाश तथा वैकुंठ का वास मिलता है और राजा मंत्री पुरोहित और गंडकीदास को नरक का दंड दिया जाता है। इस अंक का सबसे सजीव स्थल वह है, जहाँ मंत्री चित्रगुप्त को अपनी सब अर्जित संपत्ति देकर नरक-यातना से बचना चाहता है। जन्म भर घूस खानेवाला अन्त में यमराज के प्रकोप से बचने के लिये घूस देने की ही बात सोचता है। अन्त में भरत-वाक्य से यह प्रहसन समाप्त होता है।

कहा जाता है कि 'अंधेर नगरी' प्रहसन बिहार प्रान्त के किसी राजा अथवा बड़े जमींदार के आचरण को लक्ष्य करके लिखा गया था। पर इसमें जिन प्रवृत्तियों का अंकन किया गया है, वे विवेकहीन समाज और शासन की व्यापक वस्तुस्थिति पर प्रकाश डालते हैं। आरंभ में उद्धृत श्लोक¹ और समर्पण के शब्दों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह नाटक लिखने की प्रेरणा भारतेन्दु को किसी व्यक्ति-विशेष से चाहे मिली हो पर लिखते समय उसका साधारणीकरण हो गया था। इस नाटक में मंगलाचरण आदि कुछ भी नहीं है केवल समर्पण में नाटक का उद्देश्य बताते हुए कवि ने लिखा है कि बलवासियों को स्वार्थ छोड़ सबै गुणग्राही बनना चाहिए —

जे स्वारथरत धूर्त हंस से काक चरित रत।
ते औरन हति बंचि प्रभुहिं नित होहिं समुन्नत।
जदपि लोक की रीति यही पै अंत धर्म जय।
जौ नाहीं यह लोक तदपि छलियन अति जम भय।
× × ×
तासों अब लौं करो, करो सो, पै अब जागिय।
गो, श्रुति, भारत देस समुन्नति मैं नित लागिय।

प्रहसन के पहले अंक में एक महंत जी अपने शिष्य गोबर्द्धनदास और नारायणदास के साथ आते हैं। वह अपने दोनों शिष्यों को लोभ छोड़ कर सात्त्विक भिक्षा करने के लिए नगर में जाने की आज्ञा देते हैं। दूसरे अंक में 'अन्धेरनगरी' के बाजार का दृश्य है, जहाँ प्रत्येक वस्तु टके सेर बिक रही है। गोबर्धनदास इस बाजार में भिक्षा से प्राप्त थोड़े से पैसों से बहुत सी मिठाई खरीद कर गुरुजी के पास आता है। तीसरे अंक में गुरुजी अंधेर नगरी का हाल बताकर प्रातःकाल ही वहाँ से चले जाने का

१ छेदश्चंदनचूत चम्पक वने रक्षा करीरद्रुमे
हिंसा हंसमयूर कोकिलकुले काकेषु लीला रतिः।
मातंगेन खरक्रयः समतुला कर्पूरकार्पासयो
एषा यत्र विचारणा गुणिगणे देशाय तस्मै नमः॥

निश्चय करते हैं। पर गोवर्धनदास थोड़ी सी भिक्षा से अनन्त सुख-भोग की सुविधा प्रदान करने वाले उस नगर को छोड़ना नहीं चाहता। अतएव गुरु के उपदेश को न मानकर वहीं रह जाता है।

चौथे अंक में राजा चौपटचन्द्र के दरबार का दृश्य है जिसमें न्याय का नाटक खेला जा रहा है। कल्लू बनिया की दीवार गिरने से एक व्यक्ति की बकरी मर गई है, इसलिये बेचारा कोतवाल का मुजरिम किया जाता है। पाँचवें अंक में कोतवाल के फाँसी नहीं लगती क्योंकि इसकी गरदन पतली है। एक मोटे-ताजे आदमी की तलाश होती है, और गोवर्धनदास जी पकड़े आते हैं क्योंकि वे टके सेर माल छक छक कर खूब हृष्ट पुष्ट हो गए हैं। जब वे पकड़े जाते हैं उस समय वे प्रसन्न मन अंधेरनगरी और चौपट राजा के शासन न्याय और नीति के गुण गाते हुए धर्ममार्ग पर जा रहे थे। उनके इस गायन में इस प्रहसन के व्यंग्य का मर्म स्पष्ट हो जाता है—

धर्म अधर्म एक दरसाई। राजा करे सो न्याय सदाई।
अंधाधुंध मच्यो सब देसा। मानहुँ राजा रहत बिदेसा।
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई। मानहु नृपति बिधर्मी कोई।
प्रगट सभ्य अंतर छलधारी। सोई राजसभा बलभारी।

इस गीत से स्पष्ट है कि भारतेंदु के लिए सारा भारत ही अँगरेजों के चौपट राज्य में अन्धेरनगरी बना हुआ था। भारत में यवनागमन के समय से ही वे न्याय की जो दशा देखते आ रहे थे, चौपट राज के दरबार का न्यायाभिनय उसी पर चुभता हुआ व्यंग्य है। यह जान लेने पर इस प्रहसन की प्रतीक-योजना का राजनीतिक स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। छठे अंक में गोवर्धनदास को फाँसी देने की तैयारी होती है। गोवर्धनदास अपने गुरु का स्मरण करता है। वे आते हैं और कहते हैं कि स्वर्ग जाने का यही मुहूर्त है, अतएव वे ही फाँसी पर चढ़ेंगे। यह सुन कर मन्त्री के सब लोग फाँसी पर चढ़ कर तुरत स्वर्ग पहुँचने की होड़ करते हैं। परन्तु अन्त में राजा सब को धमका कर चुप कर देता है, और स्वयं फाँसी पर चढ़ कर सीधे स्वर्ग को प्रस्थान करता है। इस कथानक से मिलती-जुलती अनेक कथायें लोक में प्रचलित हैं, उन सबका सार लेकर भारतेंदु जी ने यह मनोरंजक रूपक रचा है। यह

कहा जाता है कि 'अंधेर नगरी' प्रहसन बिहार प्रान्त के किसी राजा अथवा बड़े जमींदार के आचरण को लक्ष्य करके लिखा गया था। पर इसमें जिन प्रतीकों का ग्रहण किया गया है, वे विवेकहीन समाज और शासन की व्यापक अव्यवस्थिति पर प्रकाश डालते हैं। आरंभ में उद्धृत श्लोक[1] और समर्पण के शब्दों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह नाटक लिखने की प्रेरणा भारतेन्दु को किसी व्यक्ति-विशेष से चाहे मिली हो पर लिखते समय उसका साधारणीकरण हो गया था। इस नाटक में मंगलाचरण आदि कुछ भी नहीं है केवल समर्पण में नाटक का उद्देश्य बताते हुए कवि ने लिखा है कि देशवासियों को स्वार्थ छोड़ सबै गुणग्राही बनना चाहिए —

जे स्वारथरत धूर्त हंस से काक चरित रत।
ते औरन हति बंचि प्रभुहिं नित होहिं समुन्नत।
जदपि लोक की रीति यही पै अंत धर्म जय।
जौ नाहीं यह लोक तदपि छलियन अति जम भय।

× × ×

तासों अब लौं करी, करी सो, पै अब जागिय।
गो, श्रुति, भारत देस समुन्नति मैं नित लागिय।

प्रहसन के पहले अंक में एक महंत जी अपने शिष्य गोबर्धनदास और नारायणदास के साथ आते हैं। वह अपने दोनों शिष्यों को लोभ छोड़ कर सात्विक भिक्षा करने के लिए नगर में जाने की आज्ञा देते हैं। दूसरे अंक में 'अन्धेरनगरी' के बाजार का दृश्य है जहाँ प्रत्येक वस्तु टके सेर बिक रही है। गोबर्धनदास इस बाजार से भिक्षा के सात आने के पैसों से बहुत सी मिठाई खरीद कर गुरुजी के पास आता है। तीसरे अंक में गुरुजी अंधेर नगरी का हाल सुनकर प्रातःकाल ही वहाँ से चले जाने का

---

१ छेदश्चन्दनचूत चम्पक वन रक्षा करीरद्रुमे
हिंसा हंसमयूर कोकिलकुले काकेषु लीलारति ।
मातङ्गेन खरक्रयः समतुला कर्पूरकार्पासयो
एषा यत्र विचारणा गुणिगणे देशाय तस्मै नमः ॥

निश्चय करते हैं। पर गोवर्धनदास थोड़ी सी भिक्षा से अनन्त सुख-भोग की सुविधा प्रदान करने वाले उस नगर को छोड़ना नहीं चाहता। अतएव गुरु के उपदेश को न मानकर वहीं रह जाता है।

चौथे अंक में राजा चौपटचन्द्र के दरबार का दृश्य है जिसमें न्याय का नाटक खेला जा रहा है। कल्लू बनिया की दीवार गिरने से एक व्यक्ति की बकरी मर गई है इसलिए बेचारे कोतवाल को मृत्युदंड दिया जाता है। पाँचवें अंक में कोतवाल के फाँसी नहीं लगती क्योंकि उसकी गर्दन पतली है। एक मोटे-ताजे आदमी की तलाश होती है और गोवर्धनदास ही पकड़े जाते हैं क्योंकि वे टके सेर माल खा खा कर खूब हट्ट-पुष्ट हो गए हैं। जब वे पकड़े जाते हैं उस समय वे प्रसन्न मन अविरलगति और चौपट राजा के शासन न्याय और नीति के गुण गाते हुए वध्यमार्ग पर जा रहे थे। उनके इस गायन में इस प्रहसन के व्यंग्य का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है—

धर्म अधम एक दरसाई। राजा करे सो न्याय सदाई।
अंधाधुंध मच्यो सब देसा। मानहुँ राजा रहत बिदेसा।
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई। मानहु नृपति बिधर्मी कोई।
प्रगट सभ्य अंतर छल धारी। सोई राजसभा बलभारी।

इस गीत से स्पष्ट है कि भारतेंदु के लिए सारा भारत ही अँगरेजों के चौपट राज्य में अन्धेरनगरी बना हुआ था। भारत मुसलमानों के समय से ही वे न्याय की जो हत्या करते आ रहे थे चौपट राज के दरबार का न्यायाभिनय उसी पर गढ़ा हुआ व्यंग्य है। यह ध्यान देने पर इस प्रहसन की प्रतीकात्मकता का राजनीतिक स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। छठे अंक में गोवर्धनदास को फाँसी देने की तैयारी होती है। गोवर्धनदास अपने गुरु का स्मरण करता है। वे आते हैं और कहते हैं कि स्वर्ग जाने का यही मुहूर्त है, अतएव वे ही फाँसी पर चढ़ेंगे। यह सुन कर अन्धेर नगरी के सब मूर्ख फाँसी पर चढ़ कर तुरत स्वर्ग पहुँचने की होड़ करते हैं। परंतु अंत में राजा सब को धमकाकर चुप कर देता है और स्वयं फाँसी पर चढ़ कर सीधे स्वर्ग को प्रस्थान करता है। इस कथानक से मिलती-जुलती अनेक कथाएँ लोक में प्रचलित हैं उन सबका सार लेकर भारतेंदु जी ने यह मनोरंजक प्रहसन रचा है। यह

प्रहसन एक ही दिन में लिखा गया था और 'नेशनल थियेटर' नामक किसी नाटक मंडली में इसका अभिनय भी किया था।

'विषस्य विषमौषधम्' एक भाण है जिसमें भंडाचार्य रंगमंच पर आकर आकाश भाषित शैली में मल्हारराव गायकवाड़ के गद्दी से उतारे जाने के सम्पूर्ण प्रसंग का वर्णन करता है। वह बड़ौदा में गायकवाड़ राजवंश की प्रतिष्ठा की संक्षिप्त ऐतिहासिक चर्चा करते हुए यह बतलाता है कि किस प्रकार प्रारंभ से ही अँगरेजों की नीति देशी राज्यों के भीतरी-बाहरी सब मामलों में हस्तक्षेप करने की रही है, विशेषतः बड़ौदा के समृद्ध राज्य पर उनकी दृष्टि सदैव रही है। दूसरी ओर वह मल्हारराव गायकवाड़ के चारित्रिक पतन का विवरण देता हुआ कहता है 'सुना है जब महाराज शहर के अमीरों के घर जाते थे तो उनके डर के मारे औरतें कुएँ में उतारी जाती थीं।' उसने एक दूसरे मनुष्य की सधवा स्त्री लक्ष्मीबाई के साथ समारोह के साथ विवाह भी किया था। 'भला रावण इनसे बढ़के था कि ये रावण से बढ़के! *धन्य भारतभूमि तुझे ऐसे ही पुत्र प्रसव करने थे! हाय! मुहम्मद शाह और* वाजिदअली शाह तो मुसलमान होके छूटे पर मल्हारराव का कलंक हिंदुओं से कैसे छूटेगा। विधवा-विवाह तक करना चाहते हैं पर इन्होंने सौभाग्यवती विवाह निकाला।' ऐसे चरित्रहीन व्यक्ति के राज्य में सुप्रबन्ध की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतएव अँगरेज सरकार ने उसे गद्दी से उतार दिया। सरकार ने ठीक ही किया क्योंकि विष का उपचार विष ही है। इस छोटे से रूपक में देशी राज्यों के कुप्रबन्ध वहाँ के नरेशों के चारित्रिक पतन और देशी राज्यों के संबंध की अँगरेजों की नीति की आलोचना की गई है। यह स्पष्ट है कि अँगरेज देशी राज्यों की दशा सुधारना नहीं चाहते वरन् अप्रत्यक्ष रूप से अनेक षड्यंत्रों का आश्रय लेकर उन्हें निगलना ही है।

अध्यात्म और प्रेम

भारतेंदु जी की नाटकीय कृतियों में 'चन्द्रावली' का स्थान विशिष्ट है। इस कथानक का स्वरूप सर्वथा आध्यात्मिक है। इसके सम्बन्ध में भारतेंदु जी ने स्वयं लिखा है कि 'इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है उस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है। हा एक अपराध तो हुआ जो अवश्य क्षमा करना होगा। वह यह कि प्रेम की दशा छाप कर प्रसिद्ध की गई। वा प्रसिद्ध करने ही से क्या जो

य कने मने

अधिकारी नहीं हैं उनकी समझ ही में न आवेगा।

मनाग्य। यह वास्तव में ठीक है कि तुम्हारा सिद्धान्त था समझना—

हरि-उपासना, भक्ति वैराग, रसिकता ज्ञान।
सोधैं जन जन मानि या चन्द्रावलिहि प्रमान॥"

रास के प्रसंग में उसके जिन गहरे आध्यात्मिक और दार्शनिक रहस्य का विवेचन किया जा चुका है वस्तुतः वही इस 'चन्द्रावली' नाटिका का भी आधार है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस नाटिका के निर्माण में रास की प्रेरणा प्रधान रही होगी। रास के अन्तर्गत जिन उद्भावनाओं का वर्णन हुआ है, चन्द्रावली उसी कोटि की 'नाटिका' है। इस नाटिका की प्रस्तावना में कवि व सूत्रधार और पारिपार्श्वक की बातचीत में भजन संबंध में प्रचलित दो विरोधी मतों का उल्लेख किया है। एक ओर जहाँ कवि के प्रशंसकों की और भक्तों की बड़ी भारी संख्या थी वहाँ कुछ ज्ञानमार्गी निन्दक भी थे। प्रस्तावना के बाद नाटिका में एक शुद्ध विष्कम्भक है, जिसमें शुकदेव और नारद के वार्तालाप में व्रज की तथा व्रजवासियों की भक्तिपूर्ण प्रशंसा के व्याज से भक्ति का स्वरूप और उसकी महिमा बताई गई है। इसके बाद 'प्रेमसुख' नामक पहले अंक में श्री वृन्दावन और गिरिराज गोवर्द्धन का दृश्य है, जहाँ चन्द्रावली और ललिता वार्तालाप करती हुई दिखाई पड़ती हैं। इस वार्तालाप में चन्द्रावली का श्रीकृष्ण प्रेम—जिसे पूर्वराग कह सकते हैं—प्रकट हो जाता है। इस अंक की मुख्य विशेषता यही है कि इसमें पूर्वानुराग की सब मानसिक दशाओं का अत्यन्त मनोहर चित्रण हुआ है। दूसरे अंक में कदली वन में वर्षाऋतु की घन-घिरी सन्ध्या का दृश्य है। चन्द्रावली वियोगिनी बनी हुई आती है और एकान्त पाकर विरहोन्माद में सम्बद्ध-असम्बद्ध अनेक प्रकार का प्रलाप करती है। उसकी यह दशा देखकर वर्षा, संध्या और वनदेवी उसकी वेदना-निवारण का प्रयत्न करती हैं। पर उनके समझाने से चन्द्रावली की वेदना घटने के स्थान पर बढ़ती ही है। उसका आत्मभाव सर्वथा खो गया है, और वे चेतन-अचेतन का भेद भूल कर वन वृक्ष पवन भ्रमर, हंस सारस कोकिल पपीहा आदि से अत्यन्त करुण शब्दों में कृष्ण के अन्वेषण में सहायता करने की प्रार्थना करती हैं। चन्द्रमा उन्हें प्रखर सूर्य प्रतीत होता है। अन्त में उनकी वियोग-व्यथा सीमा पार कर जाती है, और मृत्यु की कामना करती

हुई वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं। इस प्रकार 'विश्रम्भेक्षण' नामक अंक समाप्त होता है। आगे इसी के अंकावतार में संध्यावली दौड़ती आती हुई दिखाई पड़ती है, ग्वालों ने इसके पीछे कुछ गायें भड़का कर दौड़ा दी हैं। इस भाग-दौड़ में उसकी चादर से एक पत्र गिर पड़ता है जिसे पीछे आती हुई चम्पकलता पा जाती है। यह पत्र चन्द्रावली का लिखा हुआ है जिसे उन्होंने संध्यावली के हाथ प्रियतम कृष्ण के पास भिजवाया था। तीसरा 'वर्षा-वियोग-विपत्ति' नामक अंक है जिसके अन्तर्गत एक सरोवर के तट पर उपवन का दृश्य दिखाया गया है। वर्षा के दिवस का प्रसङ्ग है, आकाश मेघ-मंडित है और उपवन में चारों ओर झूले पड़े हैं जिनमें कुछ सखियाँ झूल रही हैं और कुछ इधर-उधर विचरण करती हुई स्नेहालाप कर रही हैं। इन सखियों के बीच चन्द्रावली भी है। सखियों के वार्तालाप में प्रत्येक के हृदय पर वर्षा की उद्दीपक रम्यता का प्रभाव अभिव्यंजित हुआ है और इस सबके बीच विरहिणी चन्द्रावली के हृदय की विकलता रूप धारण कर के सामने आ जाती है। चन्द्रावली को अत्यंत दुःखी देख कर सब सखियाँ उनकी सहायता करने का उपाय सोचती हैं। चन्द्रावली का कृष्ण से मिलन तभी संभव है जब स्वामिनी राधा की अनुमति कृष्ण को प्राप्त हो। अतएव माधवी स्वामिनी की अनुमति प्राप्त करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती है, और काममंजरी प्रियतम कृष्ण को चन्द्रावली के पास लाने का भार सम्हालती है और विलासिनी चन्द्रावली के घरवालों से उनकी सफाई करवाने का भार अपने ऊपर लेती है। यह योजना सफल भी होती है।

'परम फल' नामक चतुर्थ अंक में चन्द्रावलीजी की बैठक का दृश्य दिखाई पड़ता है। सामने एक जोगिन अलख जगाती हुई प्रेम के गीत गा रही है। उसी समय ललिता आती हैं, जो जोगिन की शोभा का वर्णन करती हैं। इसी बीच चन्द्रावलीजी भी आ जाती हैं। दोनों में वार्तालाप होता है जिसे जोगिन छिपे छिपे सुनती है। अंत में वह पुनः अलख जगाती हुई सामने आ जाती है, और दोनों उसे आदर करके बिठाती हैं। तीनों के परस्पर आलाप में जिसका विषय कृष्ण प्रेम है, चन्द्रावलीजी की विरह-व्यथा बढ़ जाती है। उसी समय जोगिन-वेश-धारी कृष्ण सहसा अपने रूप में प्रकट होकर चन्द्रावली को गले से लगा लेते हैं। उसी समय विशाखा पधारी हुई यह संदेश सुनाती है कि 'स्वामिनी ने आज्ञा दई है के प्यारे सों कही है चंद्रावली की कुंज में सुखेन पधारौ।

रास की ही शैली में भारतेंदु ने 'दानलीला' और 'रानी छद्मलीला' 'देवी छद्म लीला' और 'तन्मय लीला' नामक चार अन्य अत्यंत सरस रचनायें भी प्रस्तुत की हैं। 'तन्मय लीला' रास के प्रसंग में वर्णित भौंरालीला की कोटि की है, और देवी छद्मलीला और 'रानी छद्मलीला' एक ही शैली की है। 'दानलीला' फरवरी १५,१८८४ ई० को प्रकाशित हुई थी जिसमें ब्रज की गोपियों से कृष्ण के दान माँगने की कथा है और जो भारतेंदु की लेखनी की शक्ति से बड़ी मनोरम बन गई है। कृष्ण राधा को मार्ग में रोकते हैं, राधा उनसे मार्ग छोड़ देने का अनुरोध करती हैं। पर कृष्ण मार्ग न छोड़ कर उनसे दान देने का हठ करते हैं। दोनों पक्षों में काफी देर तक हास-विलास और रस-पेशल वार्तालाप चलता है। किंतु कृष्ण जब किसी प्रकार अपना दान देने का हठ नहीं छोड़ते तो राधा चरम आत्म-समर्पण की भावना से भावित हो कह उठती है —

छोकलाज कुलधर्म हू तन मन धन सुधि प्रान।
सब तो तुमको दे चुकी, अब माँगत काको दान ॥
बहुत भई पिय लाडिले अब क्यों हूँ सहि नहिं जाइ।
आनि दासिका आपनी गहि लीजे भुजा उठाइ ॥

भक्ति-साधना के परिपाक की इस अवस्था में भगवान् भक्त से कब अलग रह सकते हैं। अतएव अब वे राधा को अपनाने में विलंब नहीं करते—

परम दीनता सों भरे सुनि प्यारी के बैन।
पुलकित अंग गदगद भयो हो उमगि चले दोउ नैन।
धाइ चूमि मुख भुजन सों भरि लीनी कंठ लगाइ।
हरीचंद पावन भयो यह अनुपम लीला गाइ।

रानी छद्मलीला की कथा अधिक विचित्र और रहस्यमयी है —

करैं कन्ह जिमि रूप सुहाये। श्री प्यारी के मन अति भाये
तिमि प्यारी हु जीअ विचार्यौ। पियहि ठगौ यह चित निरधार्यौ।
× × ×
नय भेस रानी को मनोहर सघन मिलि संग कीजिए।
अति चतुर मोहन तिनहुको चलि आजु धोखा दीजिए।

इस योजना के अनुसार राधा की आज्ञा पाकर उसकी सखियाँ कृष्ण के पास जाकर उनको यह राजाज्ञा सुनाती हैं—

जदुबंस की रानी नई इक कुसुमपुर में है रही ।
जागीर मैं तिन कंस नृप सौं कुसुम बनकी महि लही ।
तिन हमको आज्ञा दई करि कै देखौ दीठ ।
कौन स्याम ऊधम करै मेरे बन में ढीठ ॥

× × ×

उन तोरि बन के फूल फल सब घास गउवन को दई ।
तेहि पकरि हाजिर करौ यह हम सबन को आज्ञा भई ।

यह सुन कर कृष्ण बड़े व्यग्र और विवश हो उन सखियों के साथ जाकर रानी के दरबार में मुजरा किया । राधा को उस समय उनकी दीनता पर दया आई पर उनकी मान सम्पन्नता का स्मरण कर क्रोध भी आ गया । फिर भी वे अपना छद्म को छिपा न पाईं पूछ बैठीं—

'तुम कहत हम थी राधिका तजि और तिय देखो नहीं,
तो आज सुनि क्यों नाम रानी को यहाँ आये कहो ।'

यह कह कर राधिका रोष से मुँह फेर कर बैठ जाती हैं । अंत में अनुनय-विनय द्वारा मान-भंग होता है और श्यामा श्याम प्रसन्न मुख और रंग के साथ केलिकलापी कुंजों में अनेक प्रकार की क्रीड़ायें करते हैं ।

तीर्थ

तीर्थों के चित्रण के बिना हिन्दू-समाज का चित्र अधूरा ही रह जाता है । कारण तीर्थों पंडे-पुजारियों महन्तों मठाधीशों तथा उनके सम्पर्क में रहनेवाली जनता का चरित्र इस समाज में सर्वथा विलक्षण है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने दोहावली में लिखा है कि कलियुग ने पाप की सेना द्वारा धर्मराज्य को जीत कर इन तीर्थों में अपने मोर्चे स्थापित किए हैं ।[1] तीर्थों में भी काशी, जिसे त्रिलोकी विदित माना

१—सुर सदननि तीरथ पुरिन निपट कुचालि कुसाज ।
मनहुँ मवासे मारि कलि राजत सहित समाज ॥
—दोहावली ५५८

पुरीन की नाटिका, सबसे न्यारी है। त्रैलोक्य के बाहर शिव के त्रिशूल पर बसी हुई हुए काशी के ढंग से न्यारे समाज का चित्रण भारतेंदुजी ने अपनी 'प्रेमजोगिनी नाटिका में किया है।

'चंद्रावली' की प्रस्तावना की तरह भारतेंदुजी ने इस नाटिका की प्रस्तावना में भी अपने संबंध में सूत्रधार से बहुत कुछ कहलवाया है, जिससे उनके हार्दिक क्षोभ की व्यंजना होती है। इतना ही नहीं प्रस्तावना के बाद प्रथम गर्भांक में गोपालमंदिर में झगड़िया और मिश्र आदि के वार्तालाप में भी रामचंद्र के व्याज से कवि का ही प्रसंग आता है। आगे चल कर इसी गर्भांक में कवि रामचंद्र के रूप में स्वयं रंगमंच पर आता है। इसके अतिरिक्त इस अंक के अन्य पात्र छक्कू, बालमुकुंद धनदास बनितादास आदि हैं, जो परस्पर मिलकर ऐसी बातें करते हैं, जिससे काशी के जीवन के अनेक कलंक-पक्षों का उद्घाटन होता है। बाबू रामचन्द्र उस समय के नगर के निरंकुश आनरेरी मैजिस्ट्रेटों और उनकी कचहरियों का मनोरंजक वर्णन करते हैं। धनदास और बनितादास के संलाप में मंदिरों में होने वाले व्यभिचार पर प्रकाश पड़ता है। छक्कू और बालमुकुंद काशी के मिथ्याचरणपूर्ण स्वार्थ-वर्ग के प्रतिनिधि हैं। यह सब बातचीत उस समय होती है, जब गोविन्दरायजी की मंगला खुलती है और सब दर्शन को जाते हैं। यहीं 'मन्दिरादर्श' नामक प्रथम गर्भांक समाप्त हो जाता है। दूसरे 'ऐसी-वैसी' नामक गर्भांक में गैबी नामक स्थान में एक पेड़ के नीचे बावली के पास काशी के सामाजिक जीवन के दूसरे प्रतिनिधि पंडा, दलाल, दुकानदार, भंडेरिया (मसखरा) और गुंडा सुर्तीसिंह बैठे हैं। इनका वार्तालाप ठेठ बनारसी बोली में चलता है, जिससे यह प्रकट हो जाता है कि किस प्रकार ये संगठित रूप से बाहर के यात्रियों को ठगते खसोटते — बनाते और तंग करते हैं। इसी गर्भांक में एक परदेसी तीर्थयात्री 'देखी तुमरी काशी' गाता हुआ आता है। उसके गीत में काशी के जीवन की अराजकता और मलिनता का यथार्थ वर्णन है।—

आधी कासी भाट-भंडेरिया ब्राह्मन औ संन्यासी।
आधी कासी रंडी मुंडी रांड़ खानगी खासी।
लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बेबिसवासी।
महा आलसी झूठे शुहदे बे-फिकरे बदमासी।

अमीर सब झूठे औ निंदक करें घात विसवासी।
सिपारसी डरपुकने सिट्टू बोलैं बात अकासी।
मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारिन पासी।
नीचे नलसे बदबू उबलै मनो नरक चौरासी।
घाट जाओ तो गंगापुत्तर नोचैं दै गलफाँसी।
करैं घाटिया बस्तर-मोचन दे दे के जब झाँसी।
मंदिर बीच भँडेरिया नोचैं करैं धरम की गाँसी।
सौदा लेत दलाली नोचैं देकर झाँसा झाँसी।

इस परदेसी को गुंडा हरीसिंह बहुत तंग करता है। बड़ी कठिनाई से बेचारा परदेसी सुधाकर के आ जाने पर उस भयानक चौकड़ी से छुटकारा पाता है।

तीसरा प्रतिच्छवि वाराणसी नामक गर्भांक है जिसमें मुगलसराय स्टेशन का दृश्य है। प्लेटफार्म पर मिठाईवाले खिलौनेवाले कुली चपरासी और दलाल आदि इधर उधर चलते-फिरते दिखाई पड़ते हैं। यहीं पूर्व परिचित सुधाकर से एक विदेशी पंडित से भेंट होती है। वहीं पंडित को काशी का माहात्म्य यहाँ के दर्शनीय स्थानों के नाम तथा उस समय के नगर के विभिन्न वर्गों के विशिष्ट व्यक्तियों और संस्थाओं तथा यहाँ के शिवार्चनम का परिचय देता है। सुधाकर पंडित पंडों के उस वर्ग का प्रतिनिधि है, जो तीर्थों में जाने पर दो-चार स्टेशन पूर्व ही मिल जाते हैं, और तीर्थ-विशेष की महिमा और दान-पुण्य का बड़ा ही आकर्षक वर्णन करके यात्रियों के मन में तीर्थ-दर्शन की श्रद्धा कामना और उत्कंठा उत्पन्न कर देते हैं, और इस प्रकार सहज ही उन्हें अपने जाल में फँसा लेते हैं। चौथे गर्भांक में काशी के ब्राह्मण वर्ग का — विशेषतः दक्षिणी ब्राह्मणों का — चित्र है। दुमुखित दीक्षित की बैठक में स्वयं दीक्षित महाराज गप्प पंडित राम भट्ट गोपालशास्त्री चंबू भट्ट और माधव शास्त्री आदि बैठे हुए भाँग बूटी छान रहे हैं। इनको संसार में भोजन और विविध भोगों की चर्चा और आस्वाद के अतिरिक्त और किसी वस्तु की चिन्ता अथवा उत्तरदायित्व नहीं। उन लोगों के कैसे हुए दृश्य हैं जो उन्हें बड़े बड़े लोगों में निर्लज्जता और दम्भिता दिखाया करत

है। इन प्रसंगों के अनेक रूप हैं जिनके अलग अलग दम्पति हैं। ये सब धन के लिए श्रुति और शास्त्र के अर्थों को तोड़-मरोड़ कर मनमानी व्यवस्था भी देते हैं। इनका वार्तालाप हिन्दी और मराठी दोनों में होता है। वार्तालाप में गोपालशास्त्री और गप्प पंडित बाबू रामचन्द्र की रसिकता की प्रशंसा करते हैं। इस तरह यह विप्साविस द्विअविकर्णनो नामक अन्तिम अंक समाप्त होता है।

जैसे विलक्षण समाज का चित्रण इस रूपक में किया गया है, निर्माण की दृष्टि से भी वैसी ही विलक्षणता इसमें पाई जाती है। सब से पहली बात तो यह कि इसका नामकरण ही रहस्यमय है। इसके जिन चार अंकों का सार ऊपर दिया गया है, उनमें न तो प्रेम की चर्चा है, न किसी जोगिनी की कथा और न किसी प्रेमजोगिनी नामक नायिका का औपम्य का ही समावेश अथवा उल्लेख। फिर इसका यह नाम क्यों रखा गया?

ऐसी अवस्थामें यह कल्पना की जा सकती है कि यह नाटक अपूर्ण है। संभव है पूरे नाटक की योजना में इन चार अंकों से आगे किसी प्रेमजोगिनी के लिए भारतेंदुजी ने स्थान रखा हो। परंतु इस कल्पना का कोई आधार नहीं मिलता। कारण किसी भी नाटकीय कृति में लगातार चार अंकों तक नायक अथवा नायिका का उल्लेख ही न होना सर्वथा असंगत और असंभव है। फिर प्रेमजोगिनी को तो नाटिका कहा गया है जिसमें कुल चार ही अंक होते हैं जो इसमें हैं ही। इस दृष्टि से लक्षण-ग्रंथों के अनुसार नाटिका को अपूर्ण भी नहीं माना जा सकता। अन्य दृष्टियों से भी इस नाटक के अपूर्ण रह जाने के कोई प्रबल कारण नहीं दिखाई पड़ते हैं। यह नाटक सं १९३२ में भारतेंदु के रचना-काल के ठीक मध्य में लिखा गया था। उन्होंने सं १९२५ वि में अपनी पहली कृति विद्यासुंदर का अनुवाद किया था और सं १९४१ में अपना अंतिम नाटक सती प्रताप लिखना आरंभ किया था जो उसी वर्ष उनकी मृत्यु हो जाने के कारण अपूरा रह गया। किन्तु प्रेमजोगिनी के अपूर्ण रह जाने के कारणों में ऐसी कोई पारिस्थितिक विवशता भी नहीं थी। विद्यासुंदर और सतीप्रताप के बीच उनकी कोई ऐसी मौलिक कृति नहीं आती जो अपूरी रह गई हो। भारतेंदु यदि इसे अपूर्ण अथवा

अधूरी समझकर तो उसे पूर्ण करने का अवकाश उनके पास था। जब हम इसके कथानक पर दृष्टि डालते हैं तो इसमें कोई ऐसा सुसम्बद्ध कथासूत्र नहीं मिलता, जिसका क्रमिक विकास एक अंक के बाद दूसरे में होता चल रहा हो। नाटक के चार गर्भांकों में काशी के जीवन के विभिन्न पक्षों का नाटकीय संवादों के रूप में चित्रण है, कथानक के सम्बद्ध विकास की दृष्टि से उनका एक दूसरे से कोई संबंध नहीं। ये सब गर्भांक अपने आप में पूर्ण स्वतंत्र एकांकी नाटक कहे जा सकते हैं। अतएव इसे अपूर्ण मानते ही चले जाना भारतेंदु के नाटककौशल से अनभिज्ञता प्रकट करता है।

वस्तुतः उन्होंने इस नाटक में एक अभिनव प्रयोग ही किया है[1]। जिस क्रम से पहले यह नाटक लिखा गया और प्रकाशित हुआ था उससे भी इसके अपूर्ण होने की धारणा का खंडन हो जाता है। पहले इसका प्रथम और द्वितीय गर्भांक 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (खंड १ संख्या ११ और खंड २ संख्या १ ७ सन् १८७९ ई०) में 'काशी के छायाचित्र अर्थात् काशी के दो भले बुरे फोटोग्राफ' नाम से प्रकाशित हुए थे। तदनन्तर भारतेंदुजी ने इसमें दो दृश्य—प्रथम और चतुर्थ गर्भांक—और जोड़ दिए। जिस रूप में यह पहले 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित हुआ था, उसमें भी यह पूर्ण था। काशी के सामाजिक जीवन के एक दूसरे के पूरक उज्ज्वल और कृष्ण दोनों पक्षों का —'दो भले बुरे फोटोग्राफ' — यथार्थ चित्रण उसमें था जिसे अपूर्ण नहीं कहा जा सकता था। दो गर्भांक अथवा दृश्य और जुड़ जाने से काशी के समाज के कुछ अन्य स्तर प्रकाश में आ गए। इसी प्रकार यदि भारतेंदु उसमें कुछ दृश्य और जोड़ देते तो चित्रण की दृष्टि से अवश्य उसमें अधिक व्यापकता आ जाती पर कथानक की दृष्टि से उसकी पूर्णता–अपूर्णता पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता उसका स्वरूप अक्षुण्ण रहता। उसमें एक कथानक का क्रमबद्ध विकास न पाकर उसे अपूर्ण समझते रहने से भारतेंदु के इस अभिनव प्रयोग का सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो सका है। वर्तमान युग में सेठ गोविन्ददास ने अपने 'विकास' नाटक में यही कौशल अपनाया है। धरती और आकाश परस्पर मानव के भविष्य के संबंध में वार्तालाप

१ देखिये 'प्रेमयोगिनी' प्रस्तावना में पारिपार्श्वक की वक्तृता।

मानवता के विकास तथा ह्रास
प्रस्तुत है, और एक दूसरे को मानव – इतिहास के
सेठजी न
संबंधी एक दूसरे से असम्बद्ध किन्तु जाने में पूर्ण दृश्य दिखाते हैं।
में
भगत इस प्रयोग को नाटकीय – संवाद कहा है। भारतेंदुजी की 'प्रेमजोगिनी
नाटकीय संवादों का इस कौशल का पूर्वरूप मिलता है। संभव है, सेठजी को
अपनी रचना का आदर्श किसी विदेशी नाटककार से प्राप्त हुआ हो पर प्रेमजोगिनी
का विन्यासरूप सर्वथा भारतेंदुजी का अपना है। इसके स्वरूप के संबंध में
प्रेमजोगिनी की प्रस्तावना में भारतेंदु जी ने पारिपार्श्वक द्वारा स्वयं कहलाया
यह उनके (भारतेंदु) और इस घोर काल के बड़ा ही अनुरूप
है—
है। उसके खेलने से लोगों को वर्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा
और यह नाटक भी नई-पुरानी दोनों रीति मिला कर बना है।"

पारिपार्श्वक के इस कथन में यह बात तो सहज ही बोधगम्य है कि यह
नाटक इस काल का बड़ा ही अनुरूप है।" परंतु यह उनके (हरिश्चन्द्र)
भी अनुरूप है यह बात ध्यान देने योग्य है। प्रायः विद्वान् लोग इस नाटिका
को उनकी आत्मकथात्मक कृति मानते हैं।[1] इस नाटक में बाबू रामचन्द्र
रूप में स्वयं भारतेन्दु जी विद्यमान हैं, जिनकी आलोचना प्रसंग अथवा
प्रच्छन्न रूप में सभी अंकों में व्यक्त हो रही है। पहले अंक में बाबू रामचन्द्र
के चरित्र का एक प्रभावशाली चित्र मिलता है। वे परम रसिक भगवद्भक्त हैं,
नित्य प्रातःकाल गंगा-स्नान करने जाते हैं। उनके पिता भी कवि थे और
वे स्वयं भी काव्य-रचना करते हैं वे बहुश्रुत और चतुर भी हैं। वे संगीत के
भी बड़े प्रेमी हैं, उनका सारा समय संगीत और काव्य आदि कलाओं के
अनुशीलन में बीतता है और अनेक लोग अर्धरात्रि तक उनके सत्संग में सुख से
काल-यापन करते हैं। परंतु वे धर्माधिकारी और सुधारक विचारों के प्रतिभाशाली
व्यक्ति हैं। इन्हीं गुणों के कारण वे अपने परिवार और समाज के स्वार्थी और
संकीर्ण लोगों की निंदा के पात्र हैं। उनके एक छोटे भाई भी हैं, जिनको

1— द० बाबू ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित भारतेंदु नाटकावली प्रथम
भाग की भूमिका पृ० ८६-८७; राधाकृष्णदासजी की उसी के अंतर्गत पृष्ठ १६८
पर पाद टिप्पणी।

नाटक के एक पात्र मस्तो 'चित के भी चोटे कहते हैं।" बा. रामचन्द्र आनरेरी मैजिस्ट्रेट भी बनाये गए हैं और उनकी आनरेरी मैजिस्ट्रेटी का मुहरें पर बड़ा नाटक है। नाटिका के 'प्रेमी-प्रेमी' नामक द्वितीय दृश्य में गुप्त सुरीसिंह और दुकानदार के वार्तालाप में यह प्रकट है —

सुरीसिंह — जब से आए नए मजिस्टर तब से आफत आई।
जान छिपावत फिरी पै घतमक —

दुकानदार— ई तो सच है भाई।

सुरीसिंह — ई ई ऐसा दंग गुरु बरसन के कैसे कमाई।
गोविंद पासक मतकीको से एकी अफर चाहाई।
जान बचावत छिपत फिरी है दुस यह सब बदमासी।

अन्यत्र भी सुरीसिंह कहता है कि साहब मजिस्टर हैं नाहीं तो मिला करना निकल यह।" तीसरे अंक में सुधाकर उनकी निर्दोष दानशीलता की प्रशंसा करता है — आप मेरे मित्र रामचन्द्र ही को देखिएगा। उसने बाल्यावस्था ही में अद्यावधि सुना व्यय कर दी है।" चतुर्थ गर्भांक में माधवशास्त्री, गोपाल और अन्य पंडित के वार्तालाप से बाबू रामचन्द्र के स्वभाव की मस्ती अलहड़पन स्वतंत्रता रसिकता और मित्र-वत्सलता पर विशेष प्रकाश पड़ता है। रसिकों के ये सर्वस्व हैं ये इतने प्रसिद्ध हैं कि यह जिसको विदित नहीं ऐसा स्थान ही मिलेगा। अनेक जनों का ये भ्राता के समान पालन करते हैं। यद्यपि कभी "लोक लाजनी दूसरी कारीसम बोली-ठोली उसका यहाँ पे सब मिल पुरा है।"

बाबू रामचन्द्र के रूप में जिस चरित्र का उल्लेख यहाँ किया गया है, उससे स्पष्ट है कि इस नाटिका में काशी के विविध दृश्यचित्रण जिस एक व्यक्ति के जीवन से संबद्ध से हैं वह स्वयं भारतेंदु ही हैं। इसी बातको सूत्रधार प्रस्तावना में बिलकुल स्पष्ट कर देता है, और अपने मित्रों में उस मन कर कहता है कि हा सज्जन शिरोमणि! कुछ चिंता नहीं, रंग तो जमा है कि जिनको भी दुःख हो उसे सुख ही मानना। लोक के परिहास के समय

मान और कीर्ति सब का परित्याग कर दिया है और जगत् से विपरीत गति चलकर तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है। क्या हुआ जो निर्दय ईश्वर तुझे प्रत्यक्ष आकर अपने अंक में रखकर आदर नहीं देता और खल लोग तेरी नित्य एक नई निंदा करते हैं और तू संसारी वैभव से सुचित नहीं है

मित्र तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निंदा क्या ?" यही तो प्रेम की टकसाल खड़ी करनेवाली और लोक की निंदा-स्तुति की चिंता न करनेवाली प्रेमयोगिनी का स्वरूप है। अनेक लोककथाओं में प्रेमयोगिनी के ऐसे ही स्वरूप का निरूपण मिलता है और मीरा—जैसी प्रेमयोगिनियों ने इस आदर्श को ही अपने जीवन में चरितार्थ किया है। संभवतः इसीलिए भारतेंदु ने इस नाटिका के नांदी-पाठ में अपने को ही 'प्रेमयोगिनी' कहा है —

'जिन तृन सम किय जानि जिय कठिन जगत-जंजाल।
जयतु सदा सो ग्रंथ कवि प्रेमयोगिनी बाल॥'

नाटिका के नामकरण का यही रहस्य प्रतीत होता है।

भाषा

भारतेंदु के जीवन-काल में हिंदी-उर्दू का झगड़ा काफी पुराना और उग्र हो गया था। हिंदी-उर्दू के इस झगड़े की जड़ें बहुत गहरी थीं। यह वास्तव में राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता, स्वदेशप्रेम और देशद्रोह, स्वातंत्र्य-चेतना और साम्राज्यवाद तथा शोषित जनता और शोषक विदेशी शासकों का झगड़ा था। परंपरा से चली आती हुई जन की भाषा हिंदी का विरोध और उर्दू का समर्थन करने में अँगरेज और मुसलमान दोनों ही एक मत थे। हिंदी और उसकी सहोदरा अन्य सभी भाषाओं को राष्ट्र की स्वातंत्र्य-चेतना का प्रतीक समझ कर ही मैकाले ने अपनी कुख्यात योजना द्वारा शिक्षा के क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया था। शिक्षा के क्षेत्र में अँगरेजी की प्रतिष्ठा करके अँगरेज सरकार ने दफ्तरों और अदालतों की भाषा फारसी रहने दी, जो मुगलों के समय से चली आ रही थी। मुगलों के काल में न्याय मांगनेवाली जनता की संख्या उँगलियों पर गिनने लायक ही होती थी इसलिए फारसी से काम चल जाता होगा। पर इस परिवर्तित

काल में जब जिले जिले में अदालतें खुल गईं तो फारसी के कारण जनता को प्रतिदिन असुविधाओं और कठिनाइयों का अधिकाधिक अनुभव होने लगा। अतः विवश होकर सरकार ने संवत् १८९१ (सन् १८३६ ई.) में इस्तहारनामे निकाले कि अदालती सब काम देश की प्रचलित भाषाओं में हुआ करें।
इस इस्तहारनामे में स्पष्ट कहा गया है कि बोली हिंदी ही हो बल्कि नागरी के स्थान पर फारसी भी हो सकते हैं। खेद की बात है कि यह उचित व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमानों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिंदी न रहने पाए, उर्दू चलाई जाय। उनका यह बराबर चलता रहा यहाँ तक कि एक वर्ष बाद ही अर्थात् संवत् १८९४ (सन् १८३७ ई.) में उर्दू हमारे प्रांत के सब दफ्तरों की भाषा कर दी गई।" [1] आगे चलकर भी सरकार की ओर से जब जगह जगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार यह विचारने लगी कि हिंदी का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक रखा जाय तब प्रभावशाली मुसलमानों की ओर से गहरा विरोध खड़ा किया गया।" [2] इस विरोध का परिणाम यह हुआ कि सरकार ने सं. १९०५ (सन् १८४८) में यह सूचना प्रचारित की :—

ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी जिनकी संख्या देहली कालेज में बड़ी है इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।"

इससे यह स्पष्ट है कि हिंदी-उर्दू के इस झगड़े में अँगरेज सरकार राजनीतिक कारणों से मुसलमानों के साथ थी। सरकार जानती थी कि हिंदी जनता की भाषा है उसे प्रोत्साहन देने का अर्थ जनतांत्रिक प्रवृत्तियों को उकसाना और उन्हें खुली छूट देना है। इसीलिए वह उर्दू का समर्थन करके प्रतिक्रियावादियों का संगठन का सुदृढ़ करती जाती थी। सर सैयद जैसे मुसलमानों के मुखिया इस्लामी साम्राज्य के स्थान पर उर्दू की ओट में देश भर में अपना धार्मिक साम्राज्य

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हि. सा. का इ. प्रवर्द्धित संस्करण पृ. ४११-४२।
२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हि. सा. का इ. प्र. सं. पृ. ४११।

फैलाना चाहते थे और वे इसी के द्वारा भविष्य में अपनी राजनीतिक सत्ता पुनः प्राप्त करने का स्वप्न देख रहे थे। कालान्तर में पाकिस्तान के रूप में उनका यह स्वप्न सत्य हो गया¹। तात्पर्य यह कि उर्दू एक ओर तो अँगरेजों के हाथ में देश को चिरकाल तक परतंत्र बनाये रखनेवाला पाश थी, तो दूसरी ओर प्रतिक्रियावादियों और सम्प्रदायवादियों के दुर्ग की दुर्गम चहारदीवारी भी। बहुत से अँगरेज और योरोपियन 'मजहबी रिश्ते' के खयाल से उर्दू का पक्ष ग्रहण किए हुए थे। गार्सां द तासी नामक फरासीसी विद्वान् के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है —

हिंदी में हिंदू धर्म का आभास है — वह हिंदू-धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उस के आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इस्लामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इस्लाम भी 'सामी' मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धान्त है इसलिए इस्लामी तहजीब में मैं समझता हूँ ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती हैं कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा को भी अस्वीकार नहीं करते, पर हिंदू लोग मूर्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा नहीं मानते।"

इस पृष्ठभूमि में भारतेंदु ने हिंदी के अभ्युत्थान के आन्दोलन का नेतृत्व किया। उन्होंने इसे इतना बहुमुखी² बना दिया कि वह उस व्यापक भारतीय स्वतंत्रता के आंदोलन के लिए क्षेत्र निर्माण कर सका, जो आगे चलकर बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी आदि महान् नेताओं के द्वारा प्रवर्तित हुआ। तात्पर्य यह कि भारतेंदु जी ने राष्ट्रीय दृष्टि से हिंदी का समर्थन किया था और उसी दृष्टि से उर्दू का घोर विरोध। उनकी इस भाषा-नीति ने उनकी नाट्य-कला को भी प्रभावित किया। हिंदी के आन्दोलन को प्रगति प्रदान करने के लिए उन्होंने छोटे छोटे नाटकीय संवाद और दृश्य लिखे, जिनमें भारतेंदु के ये नाटकीय संवाद उस परंपरा के अंतर्गत आते हैं। जो 'कोई सोने की धनरी' आदि कृतियों के रूप में रीतिकाल में अखंड रही। भारतेंदुजी के एक नाटकीय संवादका संक्षिप्त उल्लेख इस प्रसंग को स्पष्ट कर देगा।

---

१ वही पृ. ४१५.

२—दे० भारतेंदु जी की विज्ञप्ति कवि वचन सुधा मई १८७९ ई० भारतेंदुजी का प्रसिद्ध भाषण 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

यह संवाद सन् १८७२ ई० में हरिश्चन्द्र मैगज़ीन की १५ अक्टूबर की संख्या में 'दो मित्रों का वार्तालाप (कुलपालक और विश्वबंधु दो मित्रों का समागम)' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। भारतेंदु जी ने यहाँ यह भी निर्देश कर दिया है कि यह १० मिनट में समाप्त है।

इस संवाद में कुलपालक मास्टर विश्वम से कहता है कि 'यह अचिर नगरी गया था। यहाँ के निवासी अनेक पतिघाती (और अनेक मातृघाती भी) एक परम्परित अबला के पीछे पड़े हैं और उसे देश से निकाला चाहते हैं। इसे किसी के इशारों न गढ़ा है। प्रतापी सम्राटों के रनिवास में इसका जन्म हुआ है और रूप-गुण में अपनी रूपवती माता से भी बढ़कर है।'

विश्वम—भला कोई इतनी रूपवती हो तो क्यों देखें नहीं!

कुलपालक—उसके नाम अनेक ढंग के दी गये हैं। —पाँच-सात ठौर से तो ऐसी बाँधी गयी है। सच है विश्वम ने इस संसार में रूप तो ही क्या किया है सत्य में सुन्दरी को कलियुग में तुम्हारी प्यारी निर्मोहिनी को यह कपट की खान है।

× × ×

विश्वम—यह ईश्वर का घोर अथवा मतिभ्रम है नहीं तो काम ऐसी अवस्था को अपनी आँखों से निकाला करने का कदापि हठ न करते। हम किस की बात कहें हमने तो स्वयं देखा और कानों से सुना भी है कि अपनी रुचि अनुसार हाथ को पाँव पाँव को हाथ बना लो नाक का कान, कान को नाक नाम लो कभी बहुत सी नाक, बहुत से कान कभी सिर नहीं कभी पैर नहीं, कहाँ तक कहें हमने ऐसी सुन्दर सब अंग से समभाग रूपवती नारी तो नहीं सुनी। यहाँ तक तो सुनने में आया है कि अब यह भाँति भाँति के रूप बदलती है उसके घर के लोग भी उसे नहीं पहचान सकते देखिए उसके दो एक शब्द हम आप को सुनावें जनाब 'हुजूर' मिजाज शरीफ मुबारिक कैसे मधुर मालूम होते हैं। यह शब्द सुन हमारा मन हाथ में नहीं रहा और यही सूझी कि—

'सब तजि हरि भजि। हिन्दी भवसागर में चलि।'

मैं पहले ही संकेत कर चुका हूँ कि उर्दू के समर्थन और प्रचार का आन्दोलन एक राजनीतिक षड्यंत्र था इस संवाद द्वारा भारतेंदु इस तथ्य को अत्यंत सरल और सरस शब्दों में जनता तक पहुँचाने का उपक्रम कर रहे थे। इस प्रसंग के उनके व्यंग्य का प्रतिपाद्य अत्यंत सार्थक, चुटीला और ठीक समय पर बैठने वाला है। विदेशी अंग्रेजों के शासन ने देश को 'अंधेर नगरी'-बना डाला है। अर्थात् उर्दू अपनी 'उसकी माता' फारसी से भी अधिक देश के लिए घातक सिद्ध हो रही है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वह एक वर्णसंकर रही है, वह जनता की अथवा किसी जनपद की भाषा भी नहीं है और अनेक प्रकार की दुरभिसंधियों को चरितार्थ करने के लिए विभिन्न निहित स्वार्थों के लोग उसका दुरुपयोग कर रहे हैं, यह बात उसे अनेक पतियोंवाली (अनेक माता-पिताओंवाली भी) कह कर स्पष्ट कर दी गई है। उर्दू की लिपि अवैज्ञानिक और भोंडी तथा उसकी उच्चारण-पद्धति अभारतीय है, यह बात भी जन-साधारण के लिए अत्यंत सुबोध शैली में कह दी गई है।

उर्दू के पक्ष में आन्दोलन करनेवाले पत्र और पत्रकार जैसे ही हिंदी का कुछ हित होते देखते थे अथवा किसी को उसका समर्थन करते पाते थे तो तुरंत पुकार मचाते थे कि उर्दू की हत्या हो गई उसके साथ घोर अन्याय हुआ। ऐसी घटनाएँ उन दिनों घटित होती रहती थीं। ऐसी ही एक घटना का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन 'उर्दू का स्यापा'[1] नाम के एक बहुत छोटे प्रकरण में उन्होंने किया है। वे कहते हैं :—

अलीगढ़ इंस्टिट्यूट गजट और बनारस अखबार के देखने से ज्ञात हुआ कि बीबी उर्दू मारी गई और परम अहिंसानिष्ठ होकर भी राजा शिवप्रसाद ने यह हिंसा की — हाय हाय! बड़ा अंधेर हुआ मानो बीबी उर्दू अपने पति के साथ सती हो गई। यद्यपि हम देखते हैं कि अभी साढ़े तीन हाथ की ऊँटनी सी बीबी उर्दू पागुर करती जीती है, पर हमको उर्दू अखबारों की बात का पूरा विश्वास है जो हो बहरहाल हमें उर्दू का गम वाजिब है" तो भी हम हमारे पाठक लोगों को हमारे आगे तो हमने स्यापे का प्रकरण यहीं सुनाते हैं।

---

१ दे० भारतेंदु ग्रंथावली द० भा पृ १७७-१७८

की सौगन्ध है क्योंकि हासा – तमासा नहीं चीनी उर्दू तीन दिन की पड़ी अभी जबान कढ़ी नहीं है।

इस प्रकरण में ठूँस ठूँस कर भरा गया हास और व्यंग्य सर्वजन – संवेद्य है। इस प्रकरण के अंत में उन्होंने अरबी फारसी पश्तो पंजाबी आदि उर्दू की विमाताओं को शोक में छाती पीटते और रुदन करते हुए दिखाया है। उनका रुदन में उर्दू भाषा और साहित्य की सारी खूबियों को इन दो पंक्तियों में बड़ी खूबी से बंद किया गया है :—

मात फरोशी हाय हाय। रद्द कस्सानी हाय हाय।
नरक सुखामी हाय हाय। शोक बयानी हाय हाय।
फिर नहिं आनी हाय हाय।



६

भारतेंदु के नाटकों का क्रियाकल्प

नाटक दृश्य काव्य है अभिनेयता और रंगमंचीय उपयोगिता की दृष्टि से
भी उसकी रचना होती है। भिन्न रुचिवाली बहुसंख्यक जनता नाटक देखती है
इसलिए उस सब प्रकार के दर्शकों के मनोरंजन का उत्तरदायित्व भी सफलता
पूर्वक वहन करना होता है। तात्पर्य यह कि नाटककार को प्रशिक्षित अभिनेताओं की
योग्यता रंगमंच की आवश्यकता तथा दर्शकों की रुचि को दृष्टि में रख कर
चलना होता है। जिन भाषाओं का अपना विकसित रंगमंच है उनके लेखकों
का इस कार्य में विशेष कठिनाई नहीं होती परन्तु हिन्दी जैसी भाषा में जिसका
अब तक कोई अपना रंगमंच ही नहीं नाटक-रचना वस्तुतः लेखकों की कसौटी है
जिस पर भारतेंदु जी सब प्रकार से खरे उतरते हैं। ऊपर यह दिखाया जा चुका
है कि भारतेंदु जी ने बड़े विशाल क्षेत्र से अपने नाटकों के लिए सामग्री का चयन
किया है। इस सामग्री का प्रयोग उन्होंने नाटकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए
सफलतापूर्वक किया यह महत्व की बात है। वे यह कभी नहीं भूलते कि
अभिनीत होने में ही उनकी रचनाओं की सार्थकता है और अपने नाटक द्वारा
उन्हें एक नियत समय तक दर्शक-मण्डली का मनोरंजन करना है। उनके
नाटकों की प्रस्तावना से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'प्रेमयोगिनी' की
प्रस्तावना में पारिपार्श्वक सूत्रधार से कहता है —

"परन्तु मित्र बातों से तो काम चलेगा न। देखो ये हिन्दी-भाषा में नाटक
देखने की इच्छा से आए हैं। इन्हें कोई खेल दिखाओ।"

इस कथन में 'हिन्दी भाषा में नाटक' शब्द पर जो गौरव है उससे प्रकट होता
है कि उन्हें हिन्दी-भाषा में नाटक रचने वालों को सब प्रकार सन्तुष्ट रखना

अभीष्ट था। 'सत्यहरिश्चन्द्र' की प्रस्तावना में भी उनकी दृष्टि दर्शकों पर जमी हुई प्रतीत होती है। सूत्रधार कहता है —

"अहा! आज की सन्ध्या भी धन्य है कि इतने गुणज्ञ और रसिक लोग एकत्र हैं, और सबकी इच्छा है कि हिन्दी-भाषा का कोई नवीन नाटक देखें।"

इस कथन का तात्पर्य हिन्दी भाषा के नवीन नाटकों में दर्शकों की बढ़ती हुई रुचि का पता देता है। इस कथन से यह भी प्रतीत होता है कि भारतेंदु जी ने जन-साधारण से ऊपर उठकर विशेषकर गुणज्ञ और रसिक लोग तक को दृष्टि में रख कर अपने नाटक लिखे हैं। इससे सिद्ध है कि वे नाटक-प्रणयन प्रारम्भ करने के पूर्व अपने कर्म की गुरुता को भलीभाँति समझ चुके थे। उनको ज्ञात था कि सब प्रकार के दर्शकों का सानुरंजन ही नाटक की सफलता का मापदण्ड माना जा सकता है।

परन्तु दर्शकों का मनोरंजन-मात्र भारतेंदु जी को अभीष्ट नहीं था। उन्होंने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में लिखा है :—

आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटक रचना में उद्देश्य-फल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।" अरस्तू[1] जानड्राइडेन[2] पेर कारनी[3], गोल्डोनी[4] बेन जानसन[5] कांग्रीव[6] लेसिंग[7] आदि योरोपीय

---

1 Anstotle s Poetics 'Purgation theory'

२. मानसिक आनन्द द्वारा चरित्र-संशोधन की सर्वोच्च ही प्रयत्न (नाटक का) मुख्य ध्येय है। ऐस एसे आन ड्रैमैटिक पोयट्री।

3 Discourse de l 'utilite of des parties du poeme dramatique (1660)

4 Memoires (1787)- Comedy will correct laughter

5 Timber, or Discoveries (1641)

6. A Discourse upon comedy (1701)

7 Hambugische Dramatergie, No 12.

विद्वान् भी नाटक को ऐसी ही सोद्देश्य रचना मानते हैं। यूरोप में मोलियर और गाल्सवर्दी जैसे अनेक नाटककार और विद्वान् भी होते रहे हैं, जो कोरे मनोरंजन को नाटक का लक्ष्य मानते रहे। पर, हमारे देश में वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक अथवा सार्वजनिक बनाने का जो उदात्त आदर्श महर्षि भरत ने नाटकों के लिए निश्चित किया तदनुकूल सब नाटककार उसकी सिद्धि का प्रयत्न करते रहे। प्रकार-भेद से भारतेंदु जी भी अपने नाटकों द्वारा इसी आदर्श को चरितार्थ करने की ओर उन्मुख थे। प्रसिद्ध भारतीय विद्याविद् डा० फतह सिंह ने लिखा है— अनेक रसात्मक तत्वों को रस-निष्पत्ति के लिए उपयुक्त विभावों के रूप में ग्रहण करके नाटक न केवल अन्य धर्मों में श्रेष्ठ हो सकता था अपितु धर्म-संस्थापन का एक प्रबल साधन भी हो सकता था और सम्भवतः बहुत काल तक वह इस अवस्था में रहा भी।[1] भारतेंदु की नाट्य-सामग्री का जो विश्लेषण पहले प्रस्तुत किया जा चुका है, उससे यह स्पष्ट है कि वे भारतीय जनता को अपने नाटकों द्वारा युग-धर्म की शिक्षा देना चाहते थे। यह काम भारतेंदु जी किस कुशलता के साथ सम्पादित कर रहे थे इसको ठीक ठीक समझने के लिए हमें अपने को उस दर्शक मण्डली के बीच बैठा हुआ कल्पित करना चाहिए, जिसके लिए वे नाटक-रचना कर रहे थे।

इसके अतिरिक्त वह रंगमंच भी हमारी कल्पना में पूर्ण रूप से जग जाना चाहिए, जिसको ध्यान में रख कर उनके नाटक लिखे गए थे। उनकी दृष्टि अपने समय के रंगमंच की सब परम्पराओं पर पहुँची थी। जैसा पहले से स्पष्ट होता आ रहा है, भारतेंदु जी को अपने समय में चार प्रकार का रंगमंच मिला एक रामलीला का दूसरा रासलीला का तीसरा नौटंकी का और चौथा पारसी कम्पनियों का। उस समय की नाटक-प्रेमी जनता इन्हीं चारों प्रकार के रंगमंचों से मनोरंजन उपलब्ध करती थी। धार्मिक प्रवृत्ति के लोग रामलीला और रास लीला के प्रेमी थे लौकिक विषयों में रुचि रखने वाले लोग विशेषतः अशिक्षित और ग्रामीण नौटंकी के अनुरागी थे। पारसी कम्पनियों का उदय अँग्रेजी शिक्षा और संस्कृति के प्रचार के साथ साथ नगरों में हुआ था अतः वहाँ की अधिकांश

१ दे० 'साहित्य और सौन्दर्य' पृ० २१।

जनता पारसी रंगमंच द्वारा चमत्कृत थी। एक ऐसा वर्ग था जो इन बातों में से किसी से भी संतुष्ट नहीं था। उसे कैमा और गैरिकी के रंगमंच से सन्तोष नहीं था और पारसी रंगमंच का वातावरण तो उसे अत्यन्त अराष्ट्रीय और असांस्कृतिक प्रतीत होता था। स्वयं भारतेंदु भी पारसी रंगमंच से इन्हीं कारणों से क्षुब्ध थे।[1] अतएव वे जानते थे कि उन्हें अपने नाटकों द्वारा इन सभी वर्गों के दर्शकों को आकर्षित करना और उनकी रुचि को परिष्कृत करना है, तथा उनके मन में देश के अतीत गौरव और वर्तमान की यथार्थ स्थिति अंकित करनी है। सम्भवतः संसार के कम ही नाटककारों को इतनी प्रतिकूल परिस्थिति में इतना कठिन काम करना पड़ा है। अतः इस परिस्थिति में भारतेंदु ने जो कुछ किया उसका महत्व ऐतिहासिक है।

एक बार वे (भारतेंदु) किसी पारसी कम्पनी का शकुन्तला नाटक देखने गए थे, जो कालिदास की अमर कृति के आधार पर लिखी गई थी। मास्टर मीमो भी थियेटर हाल में उपस्थित थे। परन्तु जब उन्होंने देखा कि कालिदास की शकुन्तला एक हाथ कमर के नीचे और दूसरा सिर पर रखे हुए नीच जाति की बैठक स्त्रियों की तरह नाचती हुई गा रही है 'पतली कमर बल खाय' तब वे डाइरेक्टरों को कोसते हुए थियेटर से बाहर निकल आए।'

भारतेंदु ने प्रत्येक प्रकार के रंगमंच पर खेली जाने वाली भारतीय रचनाओं का परिमार्जित रूप प्रस्तुत करके दर्शकों की एक सामान्य परिष्कृत रुचि निर्माण करने का प्रयत्न किया। काशी में जो रामलीला श्रीमान् महाराज काशीराज भूप-शिरोमणि की कृपा से[2] होती थी उसके लिए उन्होंने अत्यन्त सरस पाठ प्रस्तुत किया।[3] रामलीला को भी नाट्यकला के सब तत्वों से विभूषित कर उन्होंने जनसाधारणी नाटिका के रूप में उपस्थित किया। गीतों का प्रयुक्त रूप भी बंगदेशी नाटिका में दिखाई पड़ा जिसे भारतेंदु जी ने गीति-रूपक कहा है। पारसी रंगमंच पर साहित्यिक और सांस्कृतिक शक्तियों का

१ दे डा० श्री कृष्ण लाल कृत 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास' पृ० ७५
२ भारतेंदु ग्रन्थावली दूसरा खंड पृ० ७०
३ वहीं पृ० ७८०

प्रवेश अथवा अधिकार संभव नहीं था परन्तु उस पर खेले जाने वाले नाटकों का परिष्कृत रूप स्रोत हमें उनके 'सत्य हरिश्चंद्र'[1] आदि अनेक मौलिक अथवा अनूदित नाटकों में मिल गया। इन नाटकों के खेलने की परिपाटी भी उन्होंने स्वयं चलाई और इस प्रकार एक ऐसे रंगमंच को जन्म दिया जो उनके द्वारा आयोजित खेल-अभिनयों के लिए बहुत उपयोगी था। यह रंगमंच पारसी रंगमंच की तरह न तो संकुल, अलंकृत और आडम्बरपूर्ण था और न उसके समान इसके स्थानान्तरण में किसी प्रकार की असुविधा थी। यह रंगमंच नौटंकी की तरह किसी भी सार्वजनिक स्थान—मेला-ठेला, विद्यालय, मन्दिर आदि—में बनाया जा सकता था। इसका काम कम से कम पर्दों से भी चल सकता था, अधिक हों तो अधिक अच्छा।[1] उपलब्ध पर्दों पर का दृश्य अंकित होते थे उनके अतिरिक्त रूप दृश्य-विधान रामलीला और रासलीला की शैली पर सहज सुलभ उपकरणों के सन्निवेश द्वारा प्रस्तुत किया जाता था। इसके प्रेक्षागृह के विधान में प्रायः स्थितिस्थापकत्व रहता था। अभिनेता सभी पुरुष ही होते थे, स्त्री-पात्रों का अभिनय भी उन्हीं के द्वारा संपन्न होता था। इस प्रकार एक ओर भारतेंदु तत्कालीन विभिन्न रंगमंचीय प्रवृत्तियों का एक नवीन रंगमंच में एकीकरण कर रहे थे[1] तथा दूसरी ओर इस नवनिर्मित रंगमंच में सरलता और सुकरता का विधान करके वे परम्परागत भारतीय नाटक की सर्वांगीणता और सार्वजनिकता के अभाव की पूर्ति के लिए भी प्रयत्नशील थे।[1] खेद की बात है भारतेंदु के रंगमंच का मूल्यांकन करने में हमारे बहुत से

१ 'आज' काशी के दैनिक 'आज' में १४ मार्च १९२७ को प्रकाशित बाबू गोपाल राम गहमरी के नाम संबंधी एक लेख का अंश—

पचास बरस पहले की बात है जब काशी के भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र के बगिया में 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक स्वयं हरिश्चन्द्र जी ने खेला था जिसमें हिन्दी के सुलेखक— (चिन्ता-वाला) के लेखक—बाबू राधाकृष्ण दास सरीखे हिन्दी-लेखक और रविदत्त शुक्ल जैसे कवियों ने पार्ट लिया था। उस समय पर्दे और सीनों का अभाव नहीं था; लेकिन जो कुछ सीन उस समय बना था—कागज के ऊपर तान कर था, काम भारतेंदु ने। पर दिखाया था उसकी महिमा पूर्णिमा सीनों तक ने भाई थी। उस समय की बनारस थियेटर की नाम म

१०

विद्वानों[1] ने इस पक्ष को पूर्णतया भुला दिया है और ऐसी बातें कही हैं जो सुरुचि सहानुभूति और रस-प्रेम की परिचायक न होकर उनके अभिनिवेश और पूर्वाग्रह आदि को प्रकट करती हैं। वस्तुतः आधुनिक समाजवादी प्रवृत्तियों से सम्पर्क रखने वाले सभी विद्वान् इस बात को स्वीकार करेंगे कि जनसाधारण के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व की पृष्ठभूमि में इस प्रकार के रंगमंच ही के लिए एक समुज्ज्वल और समुन्नत भविष्य निर्मित हो सकता है। वर्तमान रूस के सार्वजनिक रंगमंच के अनुकरण पर प्रचारित इण्डियन पीपुल्स थियेटर आदि की लोकप्रियता इस बात का प्रबल प्रमाण है।

भारतेंदु को एक अत्यन्त कुशल नाटककार की भाँति अभिनेताओं का भी पूरा ध्यान था। अपने 'नाटक' नामक[1] निबंध में उन्होंने तत्संबंधी अनेक व्यावहारिक निर्देश दिए हैं। भारतेंदु जी को ऐसे लापरवाह अभिनेताओं की आँसुओं से भरा रूमाल निचोड़कर जब साहब की [illegible] भारतेंदु जी ने आग्रह किया था कि रानी शैव्या का श्मशान में विलाप अब धीरज छूटा रहा है तीन कदम अब तो इस पर सत्य हरिश्चन्द्र बने हुए भारतेंदु ने स्वयं ओवरऐक्ट किया था और दर्शक-मंडली में, करुणा के मारे त्राहि-त्राहि मच गई थी। पात्रों का शुद्ध उच्चारण हमने उसी समय हिन्दी के नाटक स्टेज पर सुना था। यहाँ हिन्दी के मोटे-मोटे लेखक रहते हैं, यहाँ भी हिन्दी के नाटक हमने देखे हैं लेकिन उनके पात्रों का उच्चारण और चरित्र-चित्रण बराबर यही खटका करता था कि अच्छे अच्छे नाटक लिखे रहने पर भी हिन्दी का प्रचार नाटकों के स्टेज पर होने को अभी बहुत दिन बाकी हैं।'

१—दे० डा० सोमनाथ गुप्त कृत हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास पृ० १४०

डा० श्री कृष्णलाल का आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास पृ० २ [illegible] और २ [illegible]

डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का आधुनिक हिन्दी-साहित्य पृ० २७४

१—बा० ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित भारतेंदु नाटकावली द्वितीय भाग पृ० ४६१।

मता कोम रहती थी जो उनके द्वारा प्रचारित युगधर्म की प्रभावशाली अभि-मनमोहक व्याख्या प्रस्तुत कर सके। ऐसे अभिनेता वे व्यक्ति ही हो सकते थे जिनको तत्कालीन जनता की रुचि और हित का समान ध्यान हो। ऐसे लोग सामने आयें इसलिये भारतेंदु ने स्वयं अभिनय किया। उन्हीं की प्रेरणा से पं प्रताप नारायण मिश्र और पं बालकृष्ण भट्ट जैसे जन-जीवन में रमे हुए विशिष्ट प्रतिभाशाली कलाकार रंगमंच पर उतारे। आगे भी उनके द्वारा स्थापित इस आदर्श का पालन पुण्यश्लोक महामना पं मदनमोहन मालवीय और राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन जैसे व्यक्तियों ने अभिनेता के रूप में रंगमंच पर अवतीर्ण होकर किया[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेंदुजी के नाटक की सार्व-र्वजनिकता और सार्वजनीनता के आदर्श को चरितार्थ कर सकने वाले लोकहित की भावना से मंडित अभिनेताओं की संख्या का अधिक होना संभव नहीं था। अतएव उन्हें साधारण व्यक्तियों से भी काम चलाना पड़ता था। अवश्य उस समय प्रत्येक नाटकीय आयोजन में सब जगह भारतेंदु के आदर्श से अनुप्राणित कोई न कोई अभिनेता रहता होगा। ऐसे व्यक्ति के सहयोग के बिना भारतेंदु के अव्यावसायिक रंगमंच के लोकप्रिय होने की कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः भारतेंदु ने अपने नाटकों में भाग लेने वाले सब प्रकार के अभिनेताओं के स्थान में अपने को रखकर उनके लिए ऐसे संवाद लिखने का प्रयत्न किया है जिससे उनमें से प्रत्येक के लिए निर्दिष्ट पात्र के चरित्र की सम्यक् अभिव्यक्ति हो सकी है। हरिश्चन्द्र, सूर्यदेव, चन्द्रावली, शैव्या, सावित्री, सत्यवान आदि के कथोपकथन उन्होंने अपने और प्रतापनारायण मिश्र जैसे अभिनेताओं को दृष्टि में रखकर लिखे हैं तो पीकदान, चपरगट्टू, महासिंह और गप्प पंडित जैसे पात्रों के संवाद उन्होंने अन्य अभिनेताओं के लिए लिखे हैं। उनके रंगमंच पर स्त्रियों का अभिनय भी पुरुष ही करते थे। भारतेंदु जी जानते थे कि इस काम में स्वाभाविकता लाना कठिन काम है। उन्होंने लिखा है नाटक के जो सब अंग जीवन अनुरूप प्रदर्शित होते हैं उनमें भाव हाव हेला, प्रभृति, यौवन

१—पं बालकृष्ण भट्ट द्वारा स्थापित हिन्दी नाट्यपरिषद् द्वारा अभिनीत शकुन्तला नाटक में महामना मालवीय जी ने अभिनय किया था।

संभूत अप्रत्याशित प्रकार के—असंभवों का-सा उन स्त्रियों को अभ्यास नहीं करना पड़ता किन्तु पुरुषों को स्त्री वेश धारण के समय अभ्यास द्वारा यह भाव दिखाना पड़ता है[1]। इस दृष्टि से ही उन्होंने स्त्री-पात्रों के लिए लिखे गए संवादों में अपेक्षाकृत अधिक कोमलता सुकुमारता और सरसता का समावेश किया है। इस दृष्टि के मनोवैज्ञानिक मर्म को जो विद्वान् नहीं समझ सकते, उनको किये भारतेंदु का यह प्रयत्न रोचकता की सीमा लाँघता हुआ प्रतीत होता है[2]।

इस विवेचन में मैंने भारतेंदु के नाटकीय कौशल के गुणागुण-ज्ञान का वस्तु-निष्ठ आधार प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। वे अपने नाटकों के अभिनेताओं के लिए संवाद परिकल्पित करके विविध पात्रों के चरित्रों की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, यह मैं लिख चुका हूँ। उनके ये चरित्र जिस कथावस्तु की पृष्ठ-भूमि में आधार प्राप्त करते हैं, उसके विधान की उनकी कला अनेक दृष्टियों से सराहनीय है। उन्होंने पुराण, इतिहास, जनश्रुति, सामयिक प्रसंग और स्वयं अपने जीवन से सुन्दर कथाओं को चुनकर काव्य-प्रतिभा तथा उर्वर कल्पना द्वारा उन्हें सरस-सजीव चित्र मुक्तिकाओं के रूप में परिणत कर दिया है। उनके वस्तु-विधान की पहली उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे कथा-वस्तु के अंतर्गत नाना रस-संकुल सुख-दुःखमयी ऐसी अवस्थाओं की निरन्तर सृष्टि करते चलते हैं, जिनसे छोटी-बड़ी विविध अप्रत्याशित परिस्थितियाँ आविर्भूत होती हैं। उनके प्रत्येक नाटक से इसके उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नीलदेवी' में तो सुख-दुःखमयी अवस्थाओं और अप्रत्याशित परिस्थितियों की भरमार है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के अतिरिक्त उनके अन्य सभी मौलिक नाटक छोटे-छोटे हैं। पर इन छोटे-छोटे नाटकों में भी उन्होंने जितनी अप्रत्याशित और विस्मयोत्पादक परिस्थितियों की विविध परिकल्पना की है उतनी कम ही नाटककार इतने बड़े-बड़े विषयों पर प्रदर्शित कर पाए हैं। 'नीलदेवी' उनका एक बहुत छोटा नाटक है जिसमें कुल दस छोटे-छोटे दृश्य हैं। इस छोटे से नाटक का प्रत्येक दृश्य एक नई आकस्मिक परिस्थिति

१—डा० ब्रजरत्नदास सम्पादित 'भारतेंदु नाटकावली' द्वि० भा० परिशिष्ट पृ० ४७५।

२—दे० डा० रामविलास शर्मा कृत 'भारतेंदु-युग' पृ० ९१।

लेकर आता है। प्रायः इसी आधार के अनेक एकांकी भी आधुनिक हिन्दी साहित्य में मिलते हैं। इसका अच्छा निदर्शन 'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण में मिलता है जिसमें नियमानुसार आकाशभाषित का व्यवहार हुआ है। यह अपेक्षाकृत एक कठिन प्रयोग है, कारण इसमें एक ही अभिनेता भौतिक और सात्विक अभिनय के योग से अपने स्वगत-कथनों द्वारा विविध परिस्थितियों की कल्पना जगाता है। भारतेन्दु के इस एक अंक के छोटे से भाण में बड़ी विस्मयोत्पादकता और विचित्रता है।

प्रारम्भ में भंडाचार्य किसी को कहते सुनता है कि परनारी पैनी छुरी ताहि न लाओ अंग रावन हू को सिर गयो परनारी के संग। भंडाचार्य बड़ौदा के महाराज मल्हारराव का मुसाहब है, इस कथन में उसको अपने महाराज पर आक्षेप का आभास मिलता है। अतएव वह तुरन्त बड़े गर्व से उत्तर देता है—

रावन ने दस सिर दिए, जनक नंदिनी काज।
जो मेरो इक सिर गयौ, तौ यामैं कह लाज॥

और फिर तुरन्त ही महाराज मल्हारराव के षड्यन्त्र का भंडाफोड़ करने वालों को चुनौती देता हुआ क्रोध से कहता है 'यह भेद खुलने पर भी हमन तुम्हें और कृष्णाबाई दोनों को न छकाया तो मेरा नाम भंडाचार्य नहीं।' परन्तु तत्काल वह आगे किसी को कहते सुनता है, 'इसी उपद्रव से न यह गति हुई'। यह सुनते ही मानो उसकी सिट्टी-पिट्टी भूलने लगती है। जैसे ही उसे मालूम होता है कि यह बात महाराज मल्हारराव के संबंध में कही गई है, वैसे ही वह भीगी बिल्ली बनकर बड़ी विनम्रता से पूछता है, 'ए भाई क्या हुआ'। तब उसे ज्ञात होता है कि महाराज गद्दी से उतार दिए गए तो वह बड़ा संताप प्रकट करता है हाय हाय! महाराज हाय बड़ा अनर्थ हुआ। महाराज नहीं गए, हिन्दुस्तान गया।" किन्तु जैसे ही उसे ज्ञात होता है कि (जिसके बल से वह कूदता था) वह मल्हारराव अब लौटने का नहीं वैसे ही वह संताप को भाड़ में झोंक कर उसकी निन्दा करने लगता है। और नहीं तो क्या! ऐसा रावन

प्रस्तावना के उपरान्त हमारी दृष्टि मूल कथावस्तु पर आती है। पाश्चात्य प्रभाव को अत्यन्त सरल, निश्चित विविध एवं मधुर बना कर भारतेंदु जनता दर्शक को हृदयंगम कराना चाहते हैं, इसीलिए वे आधिकारिक कथा के साथ कम से कम प्रासंगिक कथा का योग करते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनके नाटकों के कलेवर में अनावश्यक वृद्धि नहीं होती और दर्शक की रुचि को सफल स्वायत्त रखने में उनको सुविधा हो जाती है। निःसन्देह कुशल नाटककारों ने प्रासंगिक कथा का अधिकाधिक प्रयोग आधिकारिक कथा को त्रिगुण प्रभावशाली बनाने के लिए ही किया है। परन्तु आज के अत्यन्त व्याकुल सामाजिक जीवन की जटिल परिस्थिति से उत्पन्न समयाभाव के कारण इस दीपक के उपयोग का अवकाश नहीं रह गया है। भारतेन्दु इस आवश्यकता को पहचान गए थे। इसलिए उनके कथावस्तु के विन्यास में नाटकों में पताका और प्रकरी नामक अर्थप्रकृतियों का प्रयोग बहुत सीमित रखा गया है। तीन ही नाटकों में सत्य हरिश्चन्द्र, नीलदेवी और चन्द्रावली में इनके प्रयोग हैं। हरिश्चन्द्र में चाण्डाल और कापालिक आदि के वेश में धर्म के क्रियाकलाप पताका नामक अर्थप्रकृति के उदाहरण हैं। धर्म की कथा अपेक्षाकृत अधिक व्यापी है और प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिए ही उसकी—पताकानायक धर्म की—सारी चेष्टाएँ होती हैं। भैरव, तलापात्र और बटु की कथाएँ प्रकरण होने के कारण प्रकरी मानी जायेंगी। प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिए ही उनकी भी उद्भावना की गई है। चन्द्रावली में पताका नहीं है पर वनदेवी, वर्षा और संध्या के प्रसंग में प्रकरी का अत्यन्त कलात्मक प्रयोग किया गया है। नीलदेवी में भी चन्द्रावली के ही समान पताका का प्रयोग नहीं है। पागल का प्रसंग प्रकरी के अन्तर्गत है। पागल की चेष्टाएँ नायिका की फल-प्राप्ति की साधक होती हैं। पीकदान चपरगट्टू और भठियारी का प्रसंग भी प्रकरी ही है परन्तु इसकी योजना विदेशी आक्रमणकारियों के भ्रष्ट-चरित्र और भोगवादी जीवन-परम्परा की एक झाँकी प्रस्तुत करके वैषम्य द्वारा भारतीय और अभारतीय संस्कृतियों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए हुई है।

भारतेन्दु बीज बिन्दु और कार्य नामक अर्थप्रकृतियों के प्रयोग में भी विशेष कौशल प्रदर्शित करते हैं। उनके नाटकों के आरम्भ में बीज के न्यास के साथ साथ दर्शक में जो उत्सुकता जगती है वह निरन्तर बढ़ती जाती है और अन्त रसानुभूति में परिणति प्राप्त करती हुई एक चमत्कार की सृष्टि कर जाती है। इन अर्थप्रकृतियों के साथ साथ विभिन्न अवस्थाओं और सन्धियों का भी यथास्थान सुन्दर योग होता जाता है, जिससे वस्तु-विन्यास का कलात्मकत्व तथा नाटक का सूत्र आद्यन्त उत्तरोत्तर उन्मेष प्राप्त करता रहता है। उदाहरणस्वरूप 'नीलदेवी' नाटक के दूसरे दृश्य में बीज का वपन किया गया है जिसके साथ ही आरम्भावस्था और मुख-संधि का उद्भव होता है। तीसरे दृश्य के अन्त में नीलदेवी और सूर्यदेव के उत्तर प्रत्युत्तर में आरम्भावस्था और मुखसंधि का एक साथ अवसान हो जाता है जिससे पूर्व हमें पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के स्वरूप से जो परिचय हो चुका है उसके आधार पर हम अगले दृश्य में प्रयत्न बिन्दु तथा प्रतिमुख संधि के सूत्रपात का सहज ही ग्रहण कर लेते हैं। प्रतिपक्षी नायक-पक्ष के मार्ग में जो युद्धपूर्ण बाधाएँ खड़ी करता है और जिनका निश्चित आभास[1] चौथे दृश्य में मिलता है वही पाँचवें दृश्य में चरितार्थ होकर महाराज सूर्यदेव के बन्धन के रूप में नायक-पक्ष को संकटापन्न करती हुई हमारे सामने आती हैं। इससे उत्पन्न निराशाजनक वातावरण में एकमात्र सहारा देने वाला नायक-पक्ष का वह बल और उत्साह तथा प्रतिपक्षी का नैतिक दौर्बल्य और आतंक है जिसका परिचय हमें उन अवसरों के पात्रों द्वारा यत्र-तत्र मिलता जाता है। चौथे दृश्य में चौकदार अभी हिन्दू सवारों के हाथों अपने पकड़वाये जाने की घटना का विवरण देता है, साथ ही साथ अपने दीन के आदर्श को इस प्रकार प्रकट करता है —

जर दीन है कुरआन है ईमां है नबी है।
जर ही मेरा अल्लाह है जर राम हमारा॥

प्रतिपक्षी की इस स्पष्ट दुर्बलता के विपरीत नायक पक्ष की सबलता का प्रमाण देवीसिंह की इस गर्वोक्ति में मिलता है—'पगी का लड़का है घर की मार खावे यों और प्राण छोड़ कर भागे'—इसलिए राजा को बन्दी बना लेने पर भी अमीर

---

[1] अजरमह——सुना है लोग लड़ने आएँगे।

अब्दुलशरीफ का बाकी फौज के लिए विभिन्न होना आगामी प्राप्त्याशा के लिए अवकाश प्रदान करता है। सातवें और आठवें दृश्यों में हम उन फलप्रधान उपायों को उत्तरोत्तर विकास करने वाली गर्भसंधि तथा प्राप्त्याशा अवस्था के दर्शन करते हैं जिनका (उपायों का) परिचय हमें मुख और प्रतिमुख संधियों में अनेक बार मिल चुका है। इस प्रसंग में पागल का प्रलाप विशेषतया उल्लेखनीय है जिससे न केवल हमें यवन शिविर की प्रायः निरापद विभिन्न घटनाओं की सूचना मिलती है अपितु उस वातावरण का भी पता चलता है जिसके आधार पर 'सब शराब पीकर मस्त होंगे। चारों ओर देखकर बस ही अवसर है' इस कथन द्वारा प्राप्त्याशा परिपक्वता को प्राप्त होकर नियताप्ति और गर्भ संधि को सबल बनाती है। नवें दृश्य में नीलदेवी के इस कथन में——'मेरी बुद्धि में यह बात आती है कि इनसे एक ही बेर सम्मुख युद्ध न करके कौशल से लड़ाई करना अच्छी बात है'—मुख्य फल की प्राप्ति का उपाय अधिक उद्भिन्न हो जाता है। इसलिए विमर्श नाम की संधि सिद्ध हो जाती है। राजकुमार सोमदेव की ओर से इस प्रस्ताव के विरोध में जो आपत्ति की जाती है उसे नीलदेवी उसके काम में चूक से अपनी सब योजना समझाकर दूर कर देती है। इसके अभाव के दूर होते ही फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है अतएव नियताप्ति समाप्त होकर आगे की दसवें दृश्य में फलागम निर्वहण और कार्य के लिए द्वार खोल देती है। दसवें दृश्य में कथा के समस्त सूत्रों का समाहार होकर अब्दुल शरीफ के वध के रूप में हमें कार्य नामक अर्थप्रकृति विजयिनी भारत क्षत्राणी के साफल्य के रूप में उस फल को प्रत्यक्ष कराती है जिसका संकेत प्रस्तावनात्मक प्रथम दृश्य में अप्सराओं के इस गीत में किया जा चुका है —

धनि धनि भारत की छत्रानी।
वीर कन्यका वीर प्रसविनी वीर बधू जग जानी।
सती सिरोमनि धरम धुरन्धर बुधि बल धीरज खानी।
इनके जस की तिहूँ लोक में अमल धुजा फहरानी॥

कथावस्तु के विकास में जिस शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन भारतेन्दु ने अपने नाटकों में किया है उसका सुन्दरतम स्वरूप हमें उनके संध्यंगों और संध्यंतरों के प्रयोग में मिलता है। नीलदेवी के दूसरे और तीसरे दृश्यों में मुख

सन्धि की स्थापना में इसके विभिन्न अंगों का चमत्कारी प्रयोग किया गया है जिसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है—

सन्ध्यंग	स्थान निर्देश
उपक्षेप	शरीफ—(एक मुसाहब से) अब्दुस्समद खूब होशियारी से रहना। यहाँ के राजपूत बड़े काफिर हैं। इन कम बख्तों से खुदा बचाये।
परिकर	उल्लिखित कथन के उपरान्त काजी शरीफ और मुसाहब का कथोपकथन।
परिन्यास	शरीफ—कभी इस बेईमान के सामने लड़कर फतह नहीं मिलनी है। मैंने तो अब जी में ठान ली है कि मौका पाकर एक शब उसको सोते हुए गिरफ्तार कर लाना।
विलोभन	शरीफ—इस राजपूत से रहो हुशियार खबरदार। ईमां की कसम दुश्मने जानी है हमारा। काफिर है य पंजाब का सरदार खबरदार। अजगर है भभूका है जहन्नुम है बला है। बिजली है गजब इसकी है तलवार खबरदार।
युक्ति	शरीफ—हम दुश्मने ईमां को हैं धोखे से फँसाना। लड़ना न मुकाबिल कभी जिन हार खबरदार।
समाधान	पहला राजपूत—जो महाराज जब तक प्राण है तबतक लड़ेंगे। दूसरा राजपूत—महाराज जय पराजय तो परमेश्वर के हाथ है, परन्तु हम अपना धर्म तो प्राण रहे तक निबाहेंगे ही। सूर्यदेव—हाँ हाँ इसमें क्या संदेह है। मेरा कहने का मतलब है कि सब लोग सावधान रहें। तीसरा राजपूत—महाराज सब सावधान हैं। समयुद्ध में तो हमको जीतने वाला पृथ्वी पर है ही नहीं।

संध्यंग — स्थान निर्देश

प्राप्ति — सूर्यदेव— "जीते जी तो निज भूमि का उद्धार और नहीं तो स्वर्ग। हमारे तो दोनों हाथ लड्डू हैं और यश तो जीते तो भी हमारे साथ है मरे तो भी।

करण — नीलदेवी—पर सुना है कि वे दुष्ट अधर्म से बहुत लड़ते हैं।

उद्भेद — चौथा राजपूत—महाराज' हम लोगों को एकाएकी अधर्म से भी जीतना कुछ दाल भात का गस्सा नहीं है।

नीलदेवी—तो भी इन दुष्टों से सदा सावधान ही रहना चाहिए। आप लोग सब तरह चतुर हो मैं इसमें विशेष क्या कहूँ। स्नेह कुछ कहलाए बिना नहीं रहता।

भेद — सूर्यदेव—सावधान सब लोग रहो सब भाँति सदाहीं।
जागत ही सब रहैं रैन हूँ सोवहिं नाहीं॥
कसे रहैं कटि रात दिवस सब वीर हमारे।
अस्व पीठ सों होहिं चारजामें जिन न्यारे॥
तोड़ा सुलगत चढ़े रहैं घोड़ा बन्दूकन।
रहैं खुली ही म्यान प्रतछि नहिं उतरैं छन॥
देखि लेहिंगे कैसे पामर जवन बहादुर।
आवहिं तो कढ़ि सनमुख पामर मूढ़ सबै पुर॥
देहैं रन को स्वाद तुरतहिं तिनहिं चखाई।
जो पै इक छन हूँ सनमुख ह्वै करहिं लराई

इन संध्यंगों के साथ ही इस प्रसंग में प्रत्युत्पन्नमति ओज की साहस आदि संध्यंतरों का भी प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अन्य संधियों के अंगों तथा विभिन्न संध्यंतरों का प्रयोग भी इस नाटक में दिखाया जा सकता है। निर्वहण संधि के अंगों के सुचारु प्रयोग से किसी नाटक का उपसंहार हो सकता है इसका उदाहरण नीलदेवी में प्रयुक्त पूर्वभाव और उपगूहन से भली भाँति मिल जाता है। शास्त्रीय नियमों के पालन में भारतेन्दु जी ने आधुनिक रुचि का कितना ध्यान रखा है, वह

बात भी इस नाटक के उपसंहार से प्रमाणित हो जाती है जिसमें संस्कृत नाटकों के परम्परागत काव्य-संहार तथा प्रशस्ति नामक संध्यंगों का समावेश बहुत संक्षेप में एक नवीन ढंग से किया गया है। नीलदेवी के—'अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी'—कथन में प्रथम को और विजयी क्षत्रियों के 'जय-जयकार' में द्वितीय को तत्त्वतः निष्पन्न कर दिखाया गया है।

यहाँ पर जिन शास्त्रीय नियमों का निदर्शन नीलदेवी से किया गया है वे भारतेन्दु के नाटकों में प्रायः सर्वत्र विद्यमान हैं। नीलदेवी में संघर्ष भावना की प्रधानता और दुःखान्तता आदि पाश्चात्य नाटकों के गुणों की प्रमुखता है, तथापि भारतेन्दु ने उसकी रचना का आधार शास्त्रीय ही रखा है, यह भली प्रकार प्रमाणित किया जा चुका है। भारतेन्दु के अन्य नाटकों में भी ऐसी ही गुप्त मर्मानुसारी शास्त्रानुकूलता विद्यमान है। भारतेन्दु की कला के इस गुण को न समझने के कारण ही बहुत से आलोचकों ने उनके परखने में भूलें की हैं। भारतेन्दु ने संध्यंगों और संध्यन्तरों के प्रयोग द्वारा जिन उद्देश्यों की सिद्धि विशेष रूप से ध्यान में रखी है, वे हैं—१ राग अर्थात् अनेक प्रकार के भावों का संचार, २ आश्चर्य प्रयोग अर्थात् चमत्कार विधान ३ वृत्तान्त का अनुपक्ष अर्थात् कथा का ऐसा विस्तार जिससे दर्शकों की रुचि अकुण्ठित रहे और ४ गोप्य-गोपन एवं प्रकाश्य प्रकाशन अर्थात् सूच्य एवं दृश्य कथानक का सम्यक् अनुपात। वस्तुतः इष्टार्थों[1] की प्राप्ति के लिए ही संधियों के इन विविध अंगों और संध्यन्तरों की परिकल्पना की गई है। पाश्चात्य नाट्याचार्य[2] प्रायः आश्चर्य प्रयोग को ही नाटक का आधारभूत तत्त्व मानते हैं। हमारे नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट संध्यंगों के प्रयोग से यह अधिक व्यवस्था से निष्पन्न होता है। आश्चर्यप्रयोग की अन्य शास्त्रीय विधियों के अन्तर्गत भारतीय

---

१ इष्टार्थ—जैसी रचना करनी हो उसे पूरा करने के लिए।

२ दे० The Theory of Drama by A—Nicoll पृष्ठ ८३ ८४ विवरण To the purely external features of dramatic art indicated above therefore, we may add this other, the constant utilization of the unexpected leading towards emotional or mental shock indeed the very basis of plays upon this quality in plot idea.

नाट्यशास्त्र में पताकास्थानक की भी योजना है जिसका उपयोग भारतेन्दु ने अपने नाटकों में यथास्थान बड़ी कुशलता से किया है। 'नीलदेवी नाटक' में पागल का प्रलाप सुश्लिष्ट और प्रासंगिकार्थव्यंजक होने के कारण पताकास्थानक का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण उपस्थित करता है। 'चन्द्रावली' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि नाटकों से भी पताकास्थानकों के प्रयोग के अनेक सुन्दर उदाहरण दिये जा सकते हैं।

चरित्र-चित्रण

नाटकीय पात्रों के चरित्र चित्रण द्वारा ही वस्तु का प्रासाद खड़ा किया जाता है। कथावस्तु किसी न किसी अर्थ को सामने रखकर चलती है और ये पात्र इसी अर्थ की व्याख्या और विवृति करते हुए आगे बढ़ते हैं। अतः पात्रों के चरित्र-चित्रण की कसौटी है कि वे अपने इस निर्दिष्ट लक्ष्य की पूर्ति में योग देते रहें। इस दृष्टि से देखने पर भारतेन्दु के पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत ही सफल प्रतीत होता है। चरित्र-चित्रण के अध्ययन की सुविधा के लिए भारतेन्दु के नाटकीय पात्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

१ आदर्शोन्मुख पात्र—वे पात्र जो हमारे सामने एक आदर्श जीवन की झाँकी उपस्थित करते हैं

२ यथार्थोन्मुख पात्र—वे जो सामान्य नागरिक जीवन के प्रतिनिधि होकर हमारे सामने आते हैं।

३ रहस्योन्मुख पात्र—व पात्र जो आध्यात्मिक धार्मिक प्राकृतिक तथा समाजशास्त्रीय तथ्यों के मानवीकरण हैं।

आदर्शोन्मुख पात्रों के अन्तर्गत हरिश्चन्द्र शैव्या सावित्री शुकदेव नील देवी और रामचन्द्र की गणना की जा सकती है। हरिश्चन्द्र के चरित्र में भारतीय नाट्यशास्त्र विहित नायक के गुणों का एकत्र समावेश है। उनके चरित्र में सब प्रकार की उच्च वृत्तियों का चरमोत्कर्ष पाया जाता है। वे महासत्व क्षमावान अति गंभीर, स्थिर और दृढ़व्रत हैं। उनके से विशिष्ट धीरोदात्त नायक साहित्य अथवा इतिहास में कम ही पाये जाते हैं। भारतेन्दु ने उनके चरित्र

चित्रण में पर्याप्त सफलता पाई है। कारण हरिश्चन्द्र का चरित्र धीरोदात्त नायक के उल्लिखित गुणों की निर्जीव अर्चा प्रतिमा मात्र नहीं है। उसमें अपार मानवीय संवेदना है जो यथास्थल पत्नी विषाद और पुत्र शोक आदि अवसरों पर अत्यन्त व्यक्त होकर भी उसे अपने आदर्श से विचलित नहीं कर पाती। सूर्यदेव हमारे सामने एक आदर्श धीरोदात्त नायक के रूप में आता है। परन्तु उसका धीरोदात्तत्व नाट्यशास्त्र की परम्परागत परिधि को विस्तार देता हुआ अपनी शक्ति मणियों से उसे एक नई सार्थकता से मंडित कर देता है। उसके चरित्र में 'राजपूती' साकार हो उठी है—जो अदम्यराष्ट्रभक्तता तथा आत्म-बलिदानप्रियता की ज्योति से मंडित है। हरिश्चन्द्र का धर्म और सत्य की चरमावधि की कठोर साधना के पथ पर अलक्षित रूप से दैवी सहायता का पाथेय भी प्राप्त है और अंत में भगवत्साक्षात्कार के साथ उन्हें चतुर्वर्ग का लाभ भी हो जाता है। परन्तु इसके विपरीत सूर्यदेव जानता है कि धर्म और सत्य के दुर्गम मार्ग पर चलते हुए उसे मृत्यु-सुन्दरी के आलिंगन के लिए ही प्रतिक्षण उद्यत रहना है। सूर्यदेव के साथी राजपूतों के चरित्र में भी उसके समान ही धीरोदात्तत्व है। 'प्रेमजोगिनी' के रामचन्द्र के चरित्र में लेखक ने अपने ही चरित्र का यह धीरललितत्व लाने का प्रयत्न किया है जो कि मृच्छकटिक के चारुदत्त में मिलता है[1] परन्तु रामचन्द्र के धीर ललितत्व में ऐसी विशेषता है जो उसे संस्कृत-नाटकों के धीर ललित नायकों से पृथक करती है।

स्त्री-पात्रों में भारतीय नारीत्व के आदर्श की दृष्टि से शैव्या सावित्री और नीलदेवी तीनों में लगभग समान गुण हैं परन्तु पति पर संकट पड़ने पर उसके निराकरण के लिए तीनों तीन भिन्न मार्गों का अवलम्बन करती हैं। शैव्या साम्राज्ञी होते हुए भी दासवृत्ति अंगीकार करती है सावित्री यमराज को पराजित करती है और नीलदेवी युक्ति से अपने हाथों अपने पतिघातक का वध करती है। प्रथम दो भारतीय नाट्यशास्त्रप्रथित नायिका के रूप आदर्श के सर्वथा अनुरूप हैं परन्तु नीलदेवी के चरित्र में ऐसा पार्थक्य है जो भारतेन्दु की व्यक्तिवैशिष्ट्य चित्रण की प्रवृत्ति को प्रकाश में लाता है। नील

---

१ 'प्रेमजोगिनी' की प्रस्तावना।

देवी के चरित्र में मध्यकालीन राजपूत सती के चरित्र का ज्वलंत निदर्शन प्राप्त होता है जो पद्मिनी और झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई आदि की याद दिलाता है। नीलदेवी की निर्भीकता और साहस भारतीय स्त्रियों के आदर्श बनें इस दृष्टि विशेष से यह चरित्र चित्रित हुआ है।

आदर्शोन्मुख पात्रों के शील-निरूपण में व्यक्ति-वैचित्र्य-चित्रण की जो प्रवृत्ति दिखाई पड़ी उसका विकास उनके यथार्थोन्मुख पात्रों के चरित्र चित्रण में हुआ है और उसके द्वारा भारतेन्दु ने अपने युग और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध भली प्रकार व्यक्त किया है। इन पात्रों के चरित्र चित्रण द्वारा भारतेन्दु ने यह दिखा दिया है कि वे अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के प्रति कितने सचेत थे। ये पात्र ही वास्तव में हमें उनकी काव्य प्रेरणा के मर्म तक पहुँचाते हैं। इन पात्रों में तीर्थों के पंडे पुजारी, पुरे मंजरिये दुकानदार, तत्कालीन पत्रकार, सम्पादक कवि विभिन्न प्रान्तों के नई रोशनी के बंगाली तथा धर्म करने वाले समाज-सुधारक, मंडाचार्य पीतदास भक्त और चापलूस जो जैसे राजदरबारों के मुसाहब तथा वैदान्ती पुरोहित आदि हैं। ये पात्र पूर्ण विकसित रूप में हमारे सामने नहीं आते कुछ ही क्षणों के लिए रंगमंच पर आकर अपनी झलक दिखाकर चले जाते हैं परन्तु वे समाज के जिस स्तर से लिए गए हैं उसकी दशा को उन थोड़े से क्षणों में हमारी रागात्मक अनुभूति का विषय बनाकर उपस्थित कर देते हैं। इन पात्रों की बातों में हमें भारतेन्दु के युग के विशाल जन-समुदाय के विभिन्न वर्गों के उत्थान-ह्रास राग-विराग और समस्या-संघर्ष मार्मिक अभिव्यक्ति प्राप्त करते दिखाई देते हैं। इन पात्रों के चरित्र उन चित्रों की कोटि में आते हैं जिनमें कलाकार आकृतियों के निर्माण में कम से कम रेखाओं और रंगों का प्रयोग करके भी उनकी पृष्ठभूमि को अधिकाधिक प्रकाश में ला देता है। भारतेंदु में सफल नाटककार का यह गुण है कि पर्दे पर उनकी अंगुली कभी छूटी नहीं पड़ती।[१] वह प्रत्येक भाव को प्रत्येक पात्र को वाणी देने में समर्थ हैं। अपने यथार्थोन्मुख पात्रों की वाणी में भारतेन्दु के नाटकों का दर्शक (और हम भी) अपने समय और समाज की करुण और कठिन वास्तविकताओं से परि

१. दे० रामविलास शर्मा कृत भारतेन्दु युग पृ ७१।

चरम प्राप्त करता है, और फिर उसकी दृष्टि अतिकंचित भावोन्मुख पात्रों की ओर जाती है तो उसके हृदय से सहज ही यह ध्वनि निकलती है —

कोटि कोटि ऋषि पुन्य तन कोटि कोटि अति सूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि मिले जहाँ की धूर॥
सोइ भारत की आज यह भई दुरदशा हाय।
कहा करैं कित जायँ नहिं सूझत कछू उपाय॥'[1]

भारतेन्दु के भावोन्मुख और यथार्थोन्मुख पात्र उनकी भारतीय संस्कृति की चेतना की व्यापकता और तीव्रता का पता देते हैं। उनकी इस चेतना की गहराई का निदर्शन उनके रहस्योन्मुख पात्रों के चरित्र के अनुशीलन से होता है। जिस आध्यात्मिक और धार्मिक ऊँचाई तक पहुँचकर भारतवर्ष में हरिश्चन्द्र और सावित्री जैसे चरित्रों को अक्षय-सुयश मिला उसी के विविध पक्षों का मानवीकरण विविध पात्रों के रूप में भारतेन्दु ने अपने कुछ नाटकों में किया है। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय चन्द्रावली है, जो वास्तव एक परम साधक आध्यात्मिक रूपक है और जिसकी पृष्ठभूमि का विस्तृत विवरण रासलीला के प्रसंग में दिया जा चुका है। इसमें चन्द्रावली का चरित्रप्रधान है, जिसकी प्रत्येक पंक्ति को भारतेन्दु ने भक्ति-मार्ग के किसी न किसी मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक तथ्य से सुसम्बद्ध कर दिया है। पहले अंक में चन्द्रावली को हम ललिता से अपनी विरह-व्यथा छिपाने में प्रयत्नशील पाते हैं किन्तु एक बार जैसे ही उसका यह प्रयत्न असफल होता है, वैसे ही उसकी विवशता और व्याकुलता आँसुओं में बह बहकर बहने लगती है—'हमारी अपनी दशा जाने सभी मिलि सोचती हैं किती रोवती हैं। यह कहती है 'मैं छिपाना चाहती हूँ कि प्रेम गुप्त है, पर इस निठुर की छवि भूलती नहीं। दुखी से सब जान जाते हैं। उसका यह प्रेम सर्वथा काम-गन्ध-शून्य है इसका प्रमाण उसका यह कथन है कि 'हा! कभी मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी तब भगवान से हाथ जोड़ कर मनाती थी कि भगवान् मैं उस निठुर को चाहूँ, पर वह मुझे न चाहे!' दूसरे अंक

१ दे० 'भारत दुर्दशा' नाटक।

में चन्द्रावली का चित्रण एक योगिनी के रूप में हुआ है उसका प्रेम आत्म-रूप के सब प्रयत्नों का परित्याग कर सर्वांश खोकर सहज तल्लीनता में इस कर आत्म विस्मृति में परिणत हो गया है यहाँ तक कि उसका जड़-चेतन का विवेक भी नष्ट हो गया है। और वह अपने को ही कृष्ण समझने लगी है[1]। तीसरे अंक में हम चन्द्रावली के प्रेम को फिर एक भिन्न अवस्था में पाते हैं अब उसमें पहले जैसी आत्मविस्मृति नहीं है किन्तु उसके उपालम्भों में किंचित् कटुता एवं तीक्ष्णता और उद्गारों में अधिक आत्मीयता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों उसके प्रेमोन्माद की तीव्रता धीरे-धीरे अनुभूति की गहराई में बदल रही है 'प्यारे तुम्हारा दोष कुछ नहीं है। यह सब मेरे करम का दोष है भाव में तो तुम्हारी नित्य की अपराधिनी हूँ प्यारे क्षमा करो मेरे अपराधों की ओर न देखो अपनी ओर देखो (रोती है)। फलस्वरूप उसकी वेदना भी अब कदाचित् पूर्वापेक्षा कहीं अधिक मर्मस्पृक् बन गई है यहाँ तक कि अब वह प्राण न देने तक को तत्पर है। इस प्रसंग में इसी दृष्टि से भारतेंदु ने चन्द्रावली के स्वगत-कथन में गीत और पात्र आदि का बिल्कुल प्रयोग नहीं किया है। यह दशा देखकर माधवी आदि राधा-कृष्ण की अन्तरंगिणी सखियाँ राधा को प्रसन्न कर उसे कृष्ण से मिलाने का निश्चय कर लेती हैं। अन्तिम अंक में उस की दशा आत्मसमर्पण रूप से परिवर्तित दिखाई गई है, अब आत्मविस्मृति और उन्माद का स्थान कर्तव्यनिष्ठा ने ले लिया है और उसमें असाधारण संयम आ गया है। अब तो वह प्रिय-स्मृति को हृदय में छिपाए अनासक्त भाव से घर के कामकाज भी करती दिखाई देती है। अवश्य बीच-बीच में उसका मन इन बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने के लिए व्याकुल हो उठता है इसी अवस्था में कृष्ण एक जोगिन के वेश में आकर उसके प्रेम की परीक्षा लेते हैं और यह जानकर कि निस्संदिग्ध इसका प्रेम पक्का है उसे वचन दान और अपनाते हैं।

1— अहो कदंब अहो अंब-निंब अहो बकुल तमाला।
तुम देख्यो कहुँ मनमोहन सुन्दर नंदलाला॥
(चन्द्रावली)

2—'कृष्ण सखी है एई उत्तर बतावति जाकी सी एक रूप आज स्यामा
भई नाम है —चन्द्रावली।

ऊपर वर्णित चन्द्रावली का चरित्र एक आदर्श भक्त-चरित्र है जिसका वर्णन नारद भक्ति सूत्र में— अस्त्येवमेवम्[1] ॥ यथा व्रजगोपिकानाम्[2] ॥ करकर किया गया है। इस भक्ति का आधार वह प्रेम है जो विरह से विकसित और पुष्ट होकर भक्त के भाव की तीव्रता को बढ़ाता है। चन्द्रावली की प्रथम विरह-दशा साधक की पहली अवस्था है, जब वह विषय-वासना से रहित होकर अपनी साधना को 'अव्यावृत्तभजनात्[3]' अर्थात् आठों प्रहर अखंड प्रिय स्मृति रूप में उतारते हुए दूसरों से छिपाना चाहता है। उसकी दूसरी विरहावस्था साधक की वह स्थिति है जिसमें वह गुण-रहित कामना-वर्जित प्रतिक्षण वर्धमान, अविच्छिन्न, सूक्ष्मतर अनुभवरूप, अनिर्वचनीय प्रेम-स्वरूप का प्रसाद पा जाता है[4] और फिर उसको वही दीखता है वही सुनाई पड़ता है वही उसकी बातचीत का विषय होता है, और उसे उसी की चिन्ता में डूबे रहना पड़ता है।[5] चन्द्रावली की तीसरी विरह-दशा भक्त की वह अवस्था है, जिसमें वह अपना सर्वस्व भगवान को अर्पित करके अपने काम क्रोध अभिमान आदि का विषय भी उन्हीं को बनाता है[6] और नित्यदास या नित्य कान्ता-भावना वाला प्रेम रखता है।[7] चन्द्रावली की चौथी प्रेमावस्था भक्त की वह सिद्धावस्था है जिसके आ जाने पर लोक-व्यवहार हेय नहीं रह जाता प्रत्युत कर्मण्य तथा उस व्यवहार का साधन ही करणीय रह जाता है— भ

१—ना० भ० सू० १।

२—ना० भ० सू० २१।

३—ना० भ० सू० ३६।

४—ना० भ० सू० ५१ ५४

५—तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति। ना० भ० सू० ५५।

६—तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्— ना० भ० सू० ६५।

२८ ७—त्रिरूप भंगपूर्वकं नित्यदास नित्यकान्ता भजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यं प्रेमैव कार्यम्— वही ६६।

कह सकते हैं। उनके कथोपकथनों में प्रबन्ध प्रकरण वचन भाषा आदि के औचित्य के साथ-साथ ही छन्दोमय संवादों में संगीतिकता की योजना भी सुन्दर रूप में मिलती है। इसके फलस्वरूप उनके नाटकों में दृश्य और सूच्य कथाओं तथा आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं के पारस्परिक सम्बन्ध में व्यवधान और असंतुलन उत्पन्न नहीं होने पाता। उनके कथोपकथनों में इतनी व्यंजकता तथा सांकेतिकता है कि पूर्वापर प्रकरण का सम्बन्ध स्वतः बड़ी स्वाभाविक रीति से उद्घाटित होता रहता है। इस काम के लिए उन्हें अनेक पुरान अथवा समकालीन नाटककारों की भाँति न तो अधिक अर्थोपक्षेपकों की योजना करनी पड़ती है और न आधुनिक नाटककारों की भाँति रंग-संकेतों की भरमार करने की अपेक्षा रहती है। इसके अतिरिक्त उन कथोपकथनों में न तो प्रस्तुत प्रसंग के किसी अंश का अनावश्यक विस्तार मिलता है और न अर्थन कीर्तन (रस की अनुपकारक वस्तु का वर्णन) नामक दोष का उसमें समावेश होने पाता है। अवश्य उनके नाटकों में लम्बे-लम्बे भाषण और स्वगत-कथन भी मिलते हैं परन्तु उनमें औचित्य का निर्वाह आश्चर्यजनक रीति से किया गया है। भावाभिव्यंजकता तथा आंगिक अभिनय-सापेक्षता इन लम्बे भाषणों का ऐसा गुण है जो उनको कहीं भी नीरस नहीं होने देता। मेरा तो यह विचार है कि भारतेंदु के लम्बे लम्बे भाषणों में अपेक्षाकृत अधिक रसवत्ता और रस-वैचित्र्य का समावेश है। भारतेंदु यह जानते थे कि भाव नाटक सुनने नहीं, देखने हैं। इसलिए उन्होंने इन लम्बे भाषणों की प्रत्येक पंक्ति में ऐसी भावभंगिमायें भरी हैं जिनकी अभिव्यक्ति आंगिक और सात्विक अभिनय में अत्यंत निपुण अभिनेता की अपेक्षा रखती है। उदाहरण के लिए सत्य हरिश्चन्द्र का श्मशान वाला दृश्य का लम्बा भाषण जिसमें भयानक रौद्र और वीभत्स, अद्भुत आदि अनेक रसों का एकत्र समावेश है, अनुकूल स्थायीभावज और संचारीभावज वृत्तियों तथा विभिन्न अंगों के कर्मों से सम्यक् अभिनय होकर असाधारण रूप से मनोहारी होने के लिए लिखा गया है। इसी प्रकार 'चन्द्रावली' नाटिका में चन्द्रावली के अनेक लम्बे-लम्बे स्वगतकथन स्थायीभावज-रति-दृष्टि और संचारीभावज धन्या मलिना श्रान्ता लज्जान्विता विप्लुता मुकुला ईर्षिता विभ्रान्ता आदि दृष्टियों तथा मुखराग भ्रूलता आदि के कर्मों एवं विविध उक्तियों के माध्यम से कितने मर्मस्पर्शी हो

कल है इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। भारतेंदु के नाटकों के अन्य सभी भाषणों में विशेष उल्लेखनीय नीलदेवी के पागल का प्रलाप और भारत दुर्दशा के भारत-भाग्य का दीर्घ शोकोच्छ्वास है जो नितान्त अभिनय-सापेक्ष होने से कहीं भी भी रसत्राण पाता नहीं है।

भारतेन्दु के नाटकीय कथोपकथनों की भाषा भी उनके पात्रों की स्थिति प्रकृति और अनुभूति सब का समानरूप से अनुसरण करती है। भारतीय नाट्य शास्त्र ने प्रारम्भ में ही पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग का नियम बना दिया था जिसका पालन संस्कृत-नाट्य-परम्परा में बराबर होता रहा। भरत[1] ने प्रत्येक अवस्था में नाट्य के प्रयोग में लोक को ही प्रमाणभूत माना है इसलिए उनके द्वारा निर्धारित नियमों में प्रगति के ऐसे अपरिमित तत्त्वों का समावेश है जो चिरकाल तक सब देशों के नाटककारों का अनुशासन कर सकते हैं। अतएव लोक-धर्मी भारतेंदु ने लोकप्रमाणवादी भरत द्वारा प्रवर्तित भारतीय भाषा परम्परा को अपने नाटकों में ऐसा व्यापक रूप दिया जिससे उसका स्थायी महत्त्व प्रकाश में आ गया। भारतेंदु ने अपने 'प्रेम जोगिनी' नाटक में विभिन्न पात्रों द्वारा प्रयुक्त अनेक प्रकार की बोलियों की सृष्टि से पात्रों के व्यक्तित्व को सजीव कर दिया है तथा पूरे नाटक की पृष्ठभूमि को बहु यथार्थ के गहरे रंगों से रंग दिया है। 'नीलदेवी' नाटक में हिन्दू और मुसलमान पात्रों की भाषा में समुचित भिन्नता रखकर उन्होंने दोनों के समाज संस्कृति और प्रकृति के अन्तर को स्पष्ट किया है। 'चन्द्रावली' नाटक की सरस ब्रजभाषा ब्रज के वातावरण का निर्माण करने में सफल हुई है, और 'भारत-दुर्दशा' के पात्रों की भाषा की विविधता दुर्दैवग्रस्त देश के व्यापक अनैक्य का उपयुक्त प्रतीक बन गई है। इसी प्रकार उनके नाटकों की भाषा में सर्वत्र रसानुकूलता द्रष्टव्य है जो प्रेम, प्रशंसा अनादर क्रोध घृणा भय आदि की अभिव्यक्ति के अवसर पर तदनुकूल रूप ग्रहण कर लेती है।

१—लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते नाट्यशास्त्र-२६ श्लो० ११३ इत्यादि

भारतेंदु के नाटकों में छन्दों का विधान भी सहज औचित्य से युक्त है। उनके नाटकों में अनेक प्रकार के छन्द भाव के साथ-साथ बदलते हैं। हृदय के सरल कोमल एवं कमनीय भावों की व्यंजना के लिए उन्होंने सवैया छन्द चुना है जिसकी संख्या चन्द्रावली में सर्वाधिक है। अपने अनूदित नाटकों में उन्होंने जहाँ वसन्ततिलका या मालिनी जैसे सुकुमार वृत्तों का अनुवाद किया है वहाँ सवैया का भी प्रयोग किया है। मनोवेगों की विशेष उत्तेजित अवस्था की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने प्रायः गीतों का प्रयोग किया है। उनके रससिक्त सवैये यदि एक ओर उन्हें देव और घनानन्द आदि रससिद्ध कवियों की पंक्ति में लाकर बैठा देते हैं तो दूसरी ओर उनके अनुरंजक भक्ति-शृंगार समन्वित पद उन्हें अष्टछाप के भक्त महाकवियों की श्रेणी में परिगणित होने का अधिकारी घोषित करते हैं। रोला की शक्ति का सुन्दर विकास उनकी प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी अथवा देशदशा की उद्बोधनात्मक कविताओं में देखा जा सकता है, तथा छप्पय की सुन्दर योजना माहात्म्य आदि महत्त्व वस्तुओं के वर्णन-प्रसंग में अथवा शोक-विषाद आदि गहन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए की गई है। विवरणात्मक अवसरों के लिए उन्होंने प्रायः दोहा-चौपाई को अधिक उपयुक्त माना है। घनाक्षरी छन्द का सफल छोटे संवादों को सरस एवं प्रभावशाली बनाने के लिए विशेष नाटकीय उपयोग हुआ है। विशेषतः घनाक्षरी छन्द के चरणों अथवा चरणार्धों का उन्होंने उक्ति-प्रत्युक्ति के लिए सुन्दर प्रयोग किया है। चन्द्रावली नाटक से एक उदाहरण दिया जाता है—

वर्षा—(हाथ पकड़ कर) कहाँ चली सखी ?

चन्द्रावली—पियारे सों मिलन काज

वर्षा—कहाँ तू खड़ी है ?

चन्द्रावली—प्यारे ही को यह धाम है।

वर्षा—कहा कहै मुख सों ?

चन्द्रावली—पियारे प्राण प्यारे !

वर्षा—कहा काम है ?

चन्द्रावली—पियारे सों मिलन मोहि आज है ।

वर्षा—मैं हूँ कौन बोल तो !

चन्द्रावली—हमारे प्रानप्यारे हो म—

संध्या—तू है कौन !

चन्द्रावली—प्रीतम पियारो मेरो नाम है ।

संध्या—(आश्चर्य से) पूछत सखी के एकै उत्तर बतावति
सखी सी एक रूप आज श्यामा भई स्याम है ।

आगे चलकर हिन्दी में इसी घनाक्षरी छन्द से महाकवि निराला के मुक्त-छन्द और स्वच्छन्द छन्द का विकास हुआ जिसमें नाटकों के कथोपकथन का माध्यम बनने की अपरिमित क्षमता है । भारतेंदु घनाक्षरी छन्द के उल्लिखित प्रयोग में इस दिशा में पथ-प्रदर्शन करते हुए दिखाई देते हैं ।

यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि यद्यपि भारतेंदु के नाटकों में कविता का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग है, पर वह चिन्त्य नहीं है । कारण वह सर्वत्र तत्कालीन दर्शकों की रुचि की अनुकूलता से प्रेरित है और प्रायः कहीं भी नाटकीय आवश्यकता की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता । तात्पर्य यह कि उनका काव्य प्रयोग नाट्यविधान के आश्रित रहता है उससे स्वातन्त्र्य नहीं होता । उनका काव्य ही उनके नाटकों का भाव और अनुभूति के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करता है । भारत दुर्दशा नाटक से यदि कविताएँ विशेष रूप से योगी भारत और भारत-भाग्य आदि के गायन निकाल दिये जाँय तो उसमें नटी मैंकती के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाएगा और राष्ट्रीयता के अजस्र प्रेरणा स्रोत होने का उसका मुख्य गुण नष्ट हो जाएगा । इसी प्रकार वीर रस एवं करुण रस की प्राणोन्मादिनी तथा हृदयद्राविणी कविताओं के बिना नीलदेवी नाटिका हत्या विश्वासघात और रक्तपात की एक अति साधारण कथा मात्र रह जाएगी । इसी प्रकार यह समझना कठिन नहीं कि अन्य नाटकों में भी काव्य-प्रयोग उनका प्राण-तत्व बनकर ओतप्रोत है । कुछ लोग भारतेंदु की कविताओं में सामयिकता के उपादानों की प्रमुखता के कारण अस्थायित्व तो देख

पाते हैं पर न इसी से मिलती उस स्थायी एवं शाश्वत भाव-समृद्धि तथा रस-संपत्ति का नहीं वह पाते जो उन्हें सार्वकालिक कवियों के पद पर प्रतिष्ठित रखने के लिए पर्याप्त है। वस्तुतः संसार के प्रत्येक बड़े नाटककार में अस्थायी और स्थायी तथा सामयिक और शाश्वत दोनों विभिन्न अनुपातों में घुले-मिले रहते हैं और इसी में उनकी सफलता का रहस्य निहित रहता है। मेरा यह विश्वास है सामयिकता भारतेंदु की शक्ति का आधारभूत उपादान है कमजोरी का कारण नहीं।

रस

समस्त नाटकीय विधि-विधान जिस एक वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त होता है वह है रस। भारतेंदु रससिद्ध कलाकार थे इसलिए उनका प्रत्येक नाटक दर्शक को गहरी रसानुभूति में निमज्जित करने की क्षमता रखता है। भारतेंदु ने अनेक प्रकार के रूपकों और उपरूपकों का प्रयोग किया है जिनका विवेचन पहले हो चुका है। इन सब नाट्यरूपों में उन्होंने विभिन्न रसों का समावेश सफलता के साथ किया है। सत्य हरिश्चन्द्र और नीलदेवी दोनों का अंगी रस वीर है इनमें से पहला धर्मवीर (अथवा दानवीर या दोनों) और दूसरा युद्धवीर का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इन दोनों ही नाटकों में यथावसर अनेक प्रकार के रसों का ऐसा योग है जो दर्शक की कुतूहल वृत्ति को निरंतर जागरित रखता है। सत्य हरिश्चन्द्र में विश्वामित्र रौद्ररस के मूर्त रूप हैं यद्यपि हरिश्चंद्र जैसे परम विनीत पुरुषोत्तम प्रकृति के नायक के प्रति उनका क्रोध रौद्र रसाभास ही माना जाना चाहिए। इसी नाटक में श्मशान वाले दृश्य में वीभत्स शान्त भयानक हास्य अद्भुत करुण तथा वीर का पुन पुन आविर्भाव-तिरोभाव अत्यन्त आकर्षक नाटकीय वैचित्र्य का सृजन करता है। नीलदेवी में वीर के साथ रौद्र हास्य और करुण का मनोरम योग है। इन दोनों नाटकों में भारती और सात्वती वृत्तियों की प्रधानता है किन्तु यथावसर इन वृत्तियों के विविध अंगों का उपयोग भी बड़ी कुशलता से किया गया है। इसके अनेक उदाहरण इन नाटकों से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। चंद्रावली नाटिका में वाद्यविलासयुक्ता कैशिकी वृत्ति और शृंगार रस का पूर्ण उत्कर्ष देखा जा

सकता है। इस नाटिका में लास्य के भी गेयपद[1] स्थित—पाठ्य[2] आसीन[3]—पाठ्य उत्तमोत्तमक[4], उक्तप्रत्युक्त[5] और त्रिमूढ़[6] आदि अंगों का रस-पुष्टि के लिए मनोरम प्रयोग किया गया है। इन अत्यंत संक्षिप्त निर्देशों से ही इस नाटिका के कलात्मक वैभव का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इस नाटिका में स्मित हास्य शृंगार का अंग होकर बड़ी सुन्दरता से प्रयुक्त हुआ है। अन्धेर नगरी 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'भारत दुर्दशा' आदि में हास्य रस अंगी होकर आया है। इनमें 'अन्धेर नगरी' शुद्ध और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' संकीर्ण प्रहसन है। भारत दुर्दशा नाटक में भी हास्य रस की ही प्रमुखता है भारत-जननी में करुणा प्रधान है।

विविध रसों की निष्पत्ति के लिए भारतेंदु ने अनेक विभावों की ऐसी उपयुक्त योजना की है जो साधारणीकरण को (सबके लिए) सुकर बना देती है। इसके उद्देश्य की सिद्धि के लिए वे केवल शास्त्रीय परम्परा पर ही निर्भर नहीं रहे हैं अपितु उन्होंने रसों को लोक-प्रकृति और लोक-रुचि के प्रभाव में नई व्यंजकता और सहज प्रभावशीलता प्रदान की है। पहले लिखा जा चुका है कि वे यह भलीभाँति जानते थे कि उनके समय में जनता की रुचि विप्रलम्भ की अपेक्षा सम्भोग में विशेष है। अतः न अपने वीर और शृंगार रसों के आलम्बनों—सत्य हरिश्चन्द्र और चन्द्रावली आदि नायक-नायिकाओं—को एकदम

१—चौथे अंक में सारंगी पर 'जोगन' के गीत।

२—पहले दूसरे अंकों में चंद्रावली द्वारा विविध रस-भेदक सवैयों का पाठ।

३—पहले अंक में 'सखी ये नैना बहुत बुरे' और 'मैना मद छबि नाहिन भूले' आदि गीत।

४—दूसरे अंक में 'आओ मेरे झूलन के सरताज' और 'आओ मेरे मोहन प्यारे झूठे'।

५—दूसरे अंक में वन्या और चंद्रावली तथा चौथे अंक में ललिता और जोगिन की उक्ति-प्रत्युक्ति।

६—चौथे अंक में जोगिन का वेश धारण किए हुए कृष्ण का कोमल मृदु मधुर लास्य।

आभिजात्य आदि भद्रसमाज में परिगणित गुणों से अलंकृत करके ही संतुष्ट नहीं रहे हैं। इतने ही से तो उनका नायक उस महान युगनायक के ऐतिहासिक न बन पाता जिसका व्यक्तित्व उनकी पंक्ति-पंक्ति में व्याप्त है। अतएव उन्होंने अपने नाटकों में ऐसी प्रतीकात्मकता का सन्निवेश किया जिससे वे (पात्र) किसी न किसी तत्कालीन एक विशेष समस्या प्रवृत्ति अथवा वर्ग के प्रतिनिधि हो गए हैं। चन्द्रावली की प्रतीकात्मकता की चर्चा पहले हो चुकी है। बाहर से सबसे अधिक पौराणिक दिखाई पड़ने वाले 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की प्रतीकात्मकता उसकी अपेक्षा अधिक लोक-सामान्य है। सत्य हरिश्चन्द्र' का वातावरण विविध कारणों से जनता की संस्कृति और चरित्र के ह्रास अधःपतन की अवस्था का सूचक है जिसमें सच्चे और ईमानदार आदमी को पद-पद पर संकट ही सहने पड़ते हैं और जो भारतेंदु के काल से अबतक ज्यों की त्यों चली आ रही है। इस दृष्टिकोण से देखने से हरिश्चन्द्र एक परम्परागत पौराणिक महापुरुष अथवा धीरोदात्त नायक मात्र नहीं रह जाते वरन् उन गिने-चुने व्यक्तियों के प्रतिनिधि बन जाते हैं, जो अकेले अथवा असहाय होते हुए भी सत्य और धर्म का पक्ष लेकर असत्य और अधर्म के विरुद्ध लड़ते हुए भयानक से भयानक विपत्तियाँ सहकर अपने को मिटा जाते रहते हैं। ऐसे लोगों के जीवन-काल में संसार उनकी ओर सहानुभूति की दृष्टि तक नहीं डालता। मुझे पूरा विश्वास है कि इस नाटक में भगवान का रंगमंच पर अवतरण ऐसे ही व्यक्तियों के मन में धर्म की जय का विश्वास बनाए रखने के लिए विशेष रूप से कराया गया है, विष्कंभक मात्र के लिए नहीं। स्वयं भारतेंदु इस नाटक की प्रस्तावना में अपने और सत्य हरिश्चन्द्र के चरित्र का आनुपूर्वी बताकर इसी ओर संकेत करते हैं— हो प्यारे हरिश्चन्द्र का संसार ने कुछ भी गुण रूप न समझा"

"कहेंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचन्द की कहानी रहि जायगी।"

भारतेंदु के नाटकों में आधिदैविक शक्तियों का उपयोग भी कुछ न कुछ इसी दृष्टि से आवश्यक हुआ है। इसकी ओर ऊपर संकेत भी किया जा चुका है। मैं यह तो नहीं कहता कि भारतेंदु ने जितने आधिदैविक व्यक्तित्व रंगमंच पर

उतारे हैं, वे सब के सब औपन्यासिक हैं। भारतेंदु को इतनी दूर आगे की अनिवार्य आवश्यकता भी नहीं थी कारण उस समय के अधिकांश दर्शक आधिदैविक चमत्कारों में निष्ठा रखने वाले थे। पर उस समय के दर्शक पर ही नहीं आगे आने वाले युग के दर्शक पर भी भारतेंदु की दृष्टि थी। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों के प्रमुख आधिदैविक व्यक्तित्व औपन्यासिकता अथवा मनोवैज्ञानिक सावधानी से अवश्य मंडित किए हैं। उदाहरण के लिए 'नीलदेवी' के सातवें दृश्य में बंदी और मूर्छित महाराज सूर्यदेव के सामने 'अब तजहु वीरवर भारत की सब आशा' की अर्थात करुण तान छेड़ने वाला देवता उनके दु:स्वप्न अथवा व्यामोह का मानवीकरण मात्र है। वास्तव में यह देवता उनकी पराजय जन्य निराशा का प्रक्षेप है, और उसका गायन उनके मन में उठनेवाले प्रश्नों संदेहों और आशंकाओं की मुखर अभिव्यक्ति। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस देवता को केवल दर्शक देखते हैं राजा स्वयं नहीं देख पाता। कारण उसकी मूर्छावस्था तक ही वह वहाँ ठहरता है और सूर्यदेव के चैतन्यलाभ करते ही तिरोहित हो जाता है। क्या भारतेंदु का यह संकेत स्पष्ट नहीं है?



१०

भारतेंदु-युग के अन्य नाटककार

भारतेंदु के संबंध में पहले जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे यह सिद्ध है कि वे एक निश्चित योजना के अनुसार राष्ट्र के सांस्कृतिक पुनरुत्थान, आर्थिक नवनिर्माण[1] और राजनीतिक स्वातंत्र्य की उद्दाम कामना से अनुप्राणित होकर साहित्य-रचना विशेषतः नाटक के प्रणयन में प्रवृत्त हुए थे। उन्होंने हिंदी और हिंदुस्तान के उत्थान का यह शंख फूँका था जिसे सुनकर पचासों लेखकों ने उनके द्वारा अनुप्राणित भाव के संवर्धन में लग गए थी। इन लेखकों से ही क्रान्ति की वे चिनगारियाँ घर-घर प्रकट हुई थीं जो आगे चलकर हमारे स्वतंत्रता संग्राम की ज्वालाओं में परिणत हुईं और जो आज भी विस्तार अथवा विश्राम नहीं हुई हैं। भारतेंदु काल में उठी हुई शायद ही ऐसी कोई समस्या हो जिस पर कोई न कोई नाटक न रचा हो।' ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेंदु-काल में जितने नाटक हिंदी में प्रस्तुत किए गए, उतने उतने ही सीमित समय में फिर कभी न लिखे गए।" उस समय के पत्र-पत्रिकाओं की छानबीन करने तथा तत्संबंधी विविध उल्लेखों के अनुशीलन से ऐसा अनुमान होता है कि इस समय कम से कम पचास नाटक-लेखक तो अवश्य हुए होंगे और इन लोगों द्वारा कुल मिलाकर दो सौ से ऊपर ही नाटक रचे गए होंगे।

१—धन बिदेस चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान है रहत अकिल हत रचि न सकत कल।
जीवत बिदेस की वस्तु लै ता बिन कछु नहिं करि सकत।
जागो जागो अब साँवरे सब कोउ रुख तुमरो तकत॥ प्रबोधिनी
(भा० ग्र० द्वि० भाग पृष्ठ ६५४)

इस मधुर नाटक-रचना के मूल में भारतेंदु की कल्याणी प्रेरणा ही इसका अन्यतम प्रमाण मिलता है। उस समय के प्रायः सब छोटे-बड़े हिंदी-लेखक भारतेंदु के व्यक्तिगत रूप से स्नेहभाजन थे। वे पत्र लिखकर पत्र-पत्रिकाएँ निकलवाकर तथा आवश्यकता होने पर आर्थिक सहायता देकर भी लेखकों को प्रोत्साहन देते थे। जो अच्छे नाटक लिखते थे उनके संबंध में वक्तव्य लिखकर व लेखकों को प्रोत्साहन देते थे। इस प्रकार का एक वक्तव्य जो उन्होंने श्री राधाकृष्णदास लिखित 'महारानी पद्मावती या चित्तौर कमलिनी' नाटक के लिए लिखा था यहाँ उद्धृत किया जाता है —

प्रियवर बाबू राधाकृष्णदास का बनाया 'पद्मावती' नाटक हमने देखा इससे चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ। इसकी रचना-प्रणाली तेजस्विनी और कार्यपथगामी में रुचिर की उत्तेजक है। इस ग्रंथ से भारतवर्ष की कीर्ति प्रकाशित होगी। हिंदी भाषा के भंडार का यह भी एक अमूल्य रत्न होगा। तत्पश्चात सिसौदिया विमल वंश की यह भी एक मधु गद्य-पताका है। ऐसे ही ग्रंथों का प्रचार अब भारतवर्ष में अपेक्षित है। स्वर्गपिता की कृपा से हमारी सुमते आर्यों में कर्मठपना अब चरम सीमा को पहुँच गया है। अब आर्यों को इस बात की याद दिलानी चाहिए कि उनके पूर्व पुरुष कैसे उदार कैसे वीर कैसे धीर दृढ़ अध्यवसायी थे और उनकी वीरपत्नी पातिव्रत धर्म और कुल-मर्यादा की रक्षा के हेतु अपने अमूल्य जीवन को कैसा तृण सा त्याग देती थीं।

श्रीनिवासदास के 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक के लिए सूत्रधार और नटी आदि का संवाद भारतेंदु ने स्वयं लिखा था। उनके पत्र 'कवि वचन सुधा' ने उसकी प्रशंसा में लिखा था कि "एक जोड़ा ही पास हो तो उसे देकर इस नाटक को खरीदो।"

इसके अतिरिक्त भारतेंदु स्वयं नाटकों के अभिनय में भाग लेकर और नाट्याभिनय आदि के विविध आयोजनों में उपस्थित रहकर भी इस कार्य की वृद्धि में योग देते रहते थे। इस तरह का एक उल्लेखनीय समाचार 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के खंड ११ संख्या २ में दिसंबर १८८४ ई० में छपा हुआ मिलता है —

इस साल बलिया में ददरी का मेला बड़ी धूमधाम से हुआ। मेले के थोड़े दिन पूर्व ही से एक नाट्य-समाज नियत हुआ था जिसने मेले में कई उत्तम नाटकों का अभिनय किया। श्री भारतेंदु जी नाट्य-समाज के प्रबन्धकर्त्ताओं के आग्रह और अनुराग से यहाँ विराजमान थे। कलक्टर बाबू साहब इस प्रसिद्ध नाटक सत्य हरिश्चंद्र और नीलदेवी बड़ी धूमधाम से खेले गए। संपूर्ण दर्शक मंडली मोहित हो गई और उन नाटकों के कवि बाबू हरिश्चंद्र की कीर्ति जो संयोग से नाट्यशाला में उस समय विराजमान थे बार बार सराहना करने लगी। बाबू साहब का नाम सुनकर इस जिले के मैजिस्ट्रेट मालिक अनेक साहिबान और मेम लोग भी थियेटर में उपस्थित थे सत्य हरिश्चंद्र और नीलदेवी का अभिनय देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। बल्कि रावर्टस साहब मैजिस्ट्रेट ने कहा कि इनके नाटक कविशिरोमणि शेक्सपियर से भी उत्तम हैं।

यह सूचना उक्त पत्र में बलिया में बाबू हरिश्चंद्र का शुभागमन और व्याख्यान शीर्षक से छपी है। इसके अतिरिक्त ८ मई सन् १८६८ के 'हिन्दी प्रदीप' में इस आशय का भी समाचार प्रकाशित मिलता है कि पं० शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत जानकी मंगल नाटक का जो धूमधाम से अभिनय हुआ था उसमें भारतेन्दु जी ने पाट किया था।[1]

अपने साहित्यिक व्यक्तित्व की इस बहुमुखी प्रेरणा के परिणामस्वरूप वे एक ऐसे केन्द्र बन गए थे जहाँ से नवनिर्माण के उत्साह की लहरें निरंतर चारों ओर फैल रही थीं। यथावत नाटक लिखे जाते और अभिनीत होते थे। जिस समय नाट्यकला की उपेक्षा इस सीमा तक पहुँच गई थी कि यहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है, इतना भी नहीं जानते हों उस समय बहुत से दर्शकों को नाटक-प्रचलन की यह वेगवती लहर धरती पर स्वयं नाट्यकला के अविभाव की प्रतीति कराती हुई प्रतीत हुई। किशोरीलाल गोस्वामी ने नाट्य संभव नामक रूपक लिखकर संभवतः यही बात ध्वनित कराई है। उनके इस नाटक में नाट्यकला के अविभाव की बड़ी मनोरंजक कथा लिखी गई है —

एक बार शची असुरों के बंधन में पड़ जाती हैं। उनके वियोग में इंद्र अत्यंत खिन्न रहते हैं। यद्यपि वे असुरों से शची के उद्धार की प्रतिज्ञा करते हैं

[1] पं० आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी सा का इति पृ ४५४।

परंतु उनका वियोग-जन्य ताप किसी प्रकार शांत नहीं होता। इसी अवस्था में उनकी भेंट भरतमुनि से होती है। भरत इंद्र को समझाते हैं और उनके मानसिक कष्ट के निवारण के लिए कुछ न कुछ करने की प्रतिज्ञा करते हैं। तत्पश्चात् एक दिन इंद्र नंदनवन में अपने शिष्यों को संगीत की महिमा बताते हुए भरत का गायन सुनकर मुग्ध हो जाते हैं। वे प्रतिहारी द्वारा भरत को उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हैं तथा उनसे शीघ्र से शीघ्र अपने मानसिक ताप को शान्त करने के लिए उपयुक्त उपचार की व्यवस्था करने का अनुरोध करते हैं। भरत अब सरस्वती की आराधना करते हैं, उनकी प्रार्थना से प्रसन्न होकर सरस्वती आविर्भूत होती हैं, और उन्हें नाट्य-विद्या प्रदान करती हैं। सरस्वती सूक्ष्म-रूप में उन्हें नाट्य-विद्या का स्वरूप तथा महत्त्व समझाकर रूपक और उपरूपक के विविध भेदों का कथन करती हैं, और भरत को नाटक खेलने की आज्ञा देती हैं। सरस्वती के चले जाने के बाद भरत दमनक द्वारा इंद्र के पास संदेश भेजते हैं कि नाट्याभिनय द्वारा उनके कष्ट को दूर करने की योजना बन गई है वे चिन्ता न करें। विरह-संतप्त इंद्र दमनक द्वारा यह संदेश पाकर कुछ आश्वस्त होते हैं। तत्पश्चात् भरत की योजना के अनुसार बृहस्पति इन्द्र को सुधर्मा सभा में नाटक देखने के लिए आमंत्रित करते हैं। नाटक के ब्याज से एक देवसम्बन्धी असुर-संहार की प्रतिज्ञा करती है। फिर नाटक होता है जिसमें असुरों द्वारा शची के बंधन और इन्द्र का विरह दिखाया जाता है जिसे इन्द्र बार बार सच समझता है। अंत में नाटक में नारद द्वारा शची का उद्धार दिखाया जाता है। नाटक के अंत में शची और इन्द्र का पुनर्मिलन होता है। अंत में सब लोग मिलकर नाटक के महत्त्व का गान करते हैं—

"अहा अपूरब नाटक सुख की रासी,
सब सुखदायक, परितापक, मोह-विनासी।
जैसी सुख-सरिता बहै नाटक माँहि सुजान।
वैसी सुखद न वस्तु है तीनि लोक में आन।'

यह ध्यान देने की बात है कि लेखक अपनी इस कृति को रूपक कहता है नाटक या और कुछ नहीं। यह रूपक शब्द इसकी साहित्यिक विधा का सूचक होने के साथ साथ इस नाटक की प्रतीकात्मकता की ओर संकेत करता

हुआ उसके मर्म को प्रकाशित करता है। इसमें सरस्वती को नाट्यप्रतिभा रूपि करो सिद्ध सुखद प्रभाता कह कर संबोधन किया गया है—जो लेखक के आशय को स्पष्ट करने में सहायक होता है। वस्तुतः इस नाटक का दृश्य स्वतंत्रतारूपी सूर्य से विमुक्त भारत है जिसका कष्ट दूर करने के लिए रात की प्रभातस्वरूपा भारतरूपिणी साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रतिभा भारती की प्रेरणा से नाटक के प्रणयन और अभिनय का आयोजन होती है। नाटक के आविर्भाव से उसके प्रदेश के महान समस्त विभिन्न दल-शक्तियाँ संगठित होने का एक आधार प्राप्त करती हैं। एकत्र होने पर उनके मन में असुर-नाश का संकल्प जगता है और नाटक के अभिनय में वे भारत के रूप में राष्ट्र की प्रमुख राजनीतिक चेतना को स्वतंत्रता रूपी सूर्य के उद्धार का मार्ग-निर्देश करते हुए पाते हैं। संभवत विद्यार्थियों में भारतेंदु द्वारा प्रचारित नाटक-प्रदर्शन से देश का वातावरण बदला हुआ देखकर ही यह रूपक लिखा था।

जिस व्यक्ति की प्रेरणा से इतना विराट आंदोलन उठ खड़ा हुआ हो उसका व्यापक और गंभीर प्रभाव उसके समय के साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था। इस प्रभाव के व्याप को तत्कालीन साहित्यकारों ने अनेक रूपों में स्वीकार किया। उन लोगों ने सम्मिलित रूप से भारतेंदु के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशन के लिए संवत् अथवा ईस्वी सन् का प्रचलन छोड़कर हरिश्चंद्राब्द का प्रचलन किया। श्री राधाचरण गोस्वामी[1] ने तो भारतेंदु के संबंध में यहाँ तक लिखा कि "उनके लिखे मंत्र हमको वेद-वाक्यवत् प्रमाण और मान्य थे उनको मानो ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे। हमारे सब कामों में वह आदर्श थे उनकी एक एक बात हमारे लिये उदाहरण थी।"

इन लेखकों ने भारतेंदु द्वारा किए गए काम को तन-मन से पूरा करने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप इस काल के साहित्य विशेषतः नाटकों में भारतेंदु के साहित्यिक व्यक्तित्व का बहुमुखी विस्तार उपलब्ध होता है। भारतेंदु का साहित्यिक व्यक्तित्व अतीत की सांस्कृतिक और नैतिक महिमा के बोध और वर्तमान की कटुतम वास्तविकताओं का अनुशीलन करने से निर्मित हुआ था जिसमें

१—डा० रामविलास शर्मा— भारतेंदु युग पृ० ८८।

भावना की निष्ठा और यथार्थ के समर्थ आग्रह दोनों का भाव था और जिसके समुद्र के समान गंभीर किंतु उद्वेलित अंतस्तल में अनेक भावधारायें एक साथ आकर मिल गई थीं। भारतेन्दु के साहित्यिक व्यक्तित्व में समन्वय प्राप्त करने वाली इन विविध भावधाराओं को भारतेंदुकालीन नाटक-साहित्य में प्रतिफलित देखा जा सकता है।

कुछ विद्वानों ने भारतेंदु-काल के नाटकों का वर्गीकरण पौराणिक धारा, प्रेमप्रधान धारा, राष्ट्रीय धारा, समस्याप्रधान धारा, ऐतिहासिक धारा आदि के रूप में किया है।[1] यह वर्गीकरण कथावस्तु के आधार पर किया गया है। नाटकों में कथावस्तु के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी हमें यह कहना पड़ता है कि यह वर्गीकरण इतना बहिर्मुखी है कि इससे तत्कालीन नाटकों की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ प्रकाश में आने के स्थान पर और अधिक अंधकार में चली जाती हैं। वस्तुतः इस समय का नाटककार कोरे मनोरंजन के लिए कलम नहीं घिस रहा है, उसका मन तो अपने नाटकों में विविध सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं के समाधान में व्याकुल है। इसलिए कथावस्तु उसके लिए उसकी बहुमुखी चेतना और प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति का निमित्त मात्र है। तात्पर्य यह है कि इन नाटकों की कथावस्तु के विन्यास और गठन आदि में ऐसी आधुनिकता है जिसके स्पष्टीकरण के लिए हमें इनकी अंतर्वर्ती प्रवृत्तियों और नियामक दृष्टियों का अन्वेषण करना पड़ेगा।

ये प्रवृत्तियाँ अपने मूल रूप में वे ही हैं जिनको हमने भारतेन्दु के नाटकों में देखा है। भारतेन्दु के विविध नाटकों में उनकी सांस्कृतिक, नैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, एवं प्रेम-सौन्दर्य-मूलक चेतना तथा हास्य-व्यंग्य अलग अलग अभिव्यक्त हुई हैं। उनकी चेतना के इन विभिन्न पक्षों का विकसित रूप हमें उनके युग के नाटकों में उपलब्ध होता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतेन्दु की चेतना के बहुमुखी प्रेरणा-स्रोत से प्रादुर्भूत होने वाली विभिन्न भाव-धारायें या प्रमुख प्रवृत्तियाँ अथवा दृष्टिकोणों के उपकरणों के बीच प्रवाहित रहीं। इन दोनों उपकरणों का निर्माण भी भारतेन्दु के

१ द्र० डॉ० सोमनाथ गुप्त : हि० ना० सा० का इति०, पृ० ६९-७०।

ही हास हुआ था यह ध्यान देने की बात है। भारतेन्दु का दृष्टान्त आदर्शवादी था उनकी शैली कल्पनोन्मुखी होते हुए भी भारत के लोक-प्रामाण्यवाद के सिद्धांत का दृढ़ता से पालन करने वाली थी और उनकी कथावस्तु का स्वरूप मूलतः एवं प्रधानतया वस्तुन्मुखी था। महत्त्व और लघुत्व दोनों का साहित्यिक मूल्य उन्हें सम्यक् ज्ञात था। इसीलिए स्वर्ग की आनंदपूर्ण कल्पना उन्हें दुख-दग्ध जगत से दूर न खींच सकी अपितु उसके प्रति उनके अधिकाधिक ममत्व का कारण बनी। इन्हीं मानसिक उपादानों के पुष्ट योग से उन दो प्रवृत्तियों और शैलियों का उदय हुआ जिन्हें हम आज यथार्थोन्मुख आदर्शवाद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। भारतेन्दु के युग में तो ये दोनों एक ही रागमय अथवा रागात्मक अनुभूति के अभिव्यक्तिविधानुसारी दो पक्ष बने रहे परंतु आगे चलकर दोनों का पार्थक्य बढ़ता रहा। अंततः यथार्थोन्मुख आदर्शवाद का चरम उत्कर्ष प्रसाद के नाटक-साहित्य में उपलब्ध हुआ और आदर्शोन्मुख यथार्थ का पूर्ण विकास प्रेमचंद के उपन्यासों में।

भारतेंदु-युग के लेखक तत्कालीन जनता की वस्तुस्थिति से भलिए परिचय रखते थे इसलिए उनकी कला का मूल उद्गम जन-जीवन था पुराण और इतिहास नहीं। परंतु वे लेखक यह भी जानते थे कि अंततः पुराण और इतिहास में भी किसी समय यहाँ की जनता के ही जीवन और आदर्श की यथार्थ गाथा लिखी हुई थी इसलिए इनके प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा और भक्ति थी। वे यह भी समझते थे कि पुराण और इतिहास की सहायता से वे अपनी बात अधिक प्रभविष्णुता से कह सकेंगे। फलतः उनकी रचनाओं में हम आदर्श और यथार्थ का एक दूसरे के पूरक के रूप में पाते हैं। स्वयं भारतेंदु के सत्य हरिश्चंद्र जैसे विशुद्ध आदर्शवादी नाटक में सामाजिक वैषम्य-जन्य वेदना की छाया वर्तमान है और प्रेमजोगिनी जैसी घोर यथार्थवादी रचना में रामचंद्र की अनन्य निष्ठा की पुण्य ज्योति जग रही है। यही बात हम भारतेंदु के समकालीन अन्य नाटककारों में भी पाते हैं। अवश्य किसी में आदर्श-परायणता अधिक है और किसी में यथार्थ की मात्रा अधिक।

सांस्कृतिक—नैतिक

भारतेंदु ने अपनी सांस्कृतिक-नैतिक चेतना को सत्य हरिश्चंद्र और नीलदेवी जैसे पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में अभिव्यक्त किया था। भारतेंदु युग के अन्य लेखकों ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया। जिस समय जन-जीवन सब ओर से निराश हो उस समय संवेदनशील कवि-कलाकार का हृदय अपने विभूतिमान अतीत के उत्कर्षपूर्ण चित्र खींचने का उपक्रम करे तो यह स्वाभाविक ही है। अतएव प्रसुप्त एवं मुमूर्षु जन-जीवन में चेतना-संचार का यह एक अमोघ साधन है। अस्तु चारों ओर की सांस्कृतिक और नैतिक प्रतिक्रिया की अभिव्यंजना के लिए पौराणिक नाटकों का उपयोग सर्वथा उपयोगी और स्वाभाविक है।

यदि हम इस काल में लिखे गए पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों पर दृष्टि डालें तो ऊपर कही हुई बात की पुष्टि हो जाती है। इस काल के लेखकों ने नाटकीकरण के लिए जिन पौराणिक उपाख्यानों को चुना है, उनमें प्रह्लाद[1] मोरध्वज[2] कर्ण[3] ध्रुव[4] हरिश्चंद्र[5] अर्जुन[6] विषया-चंद्रहास[7] सावित्री[8] दमयन्ती[9] शिव-पार्वती[10] और कृष्ण-सत्यभामा[11] आदि के चरित्र हैं। जिन

१—प्रह्लाद नाटक (तीन) ले० श्री निवासदास (१८८८) जगन्नाथशरण (१८७४) और मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या।

२—मोरध्वज नाटक ले० शालिग्राम।

३—कर्ण पर्व (१८७९)—ले० विष्णु गोविन्द शर्मा।

४—ध्रुव तपस्या (१८८५)—ले० मैयाराम।

५—हरिश्चंद्र (१८८९)—तुलसीलाल।

६—अर्जुन-मद-मर्दन।

७—विषयाचंद्रहास (१९०१) श्री सी० एस० मिश्रा।

८—सावित्री (१९००) लाला बलराम दीक्षित सावित्री (१८९८) कन्हैयालाल।

९—बालकृष्ण भट्ट कृत 'दमयंती स्वयंवर' (१८८५)

१०-११—हरितालिका नाटक और सत्यभामा नाटक ले० खड्ग बहादुर मल्ल।

पार्वती कृष्ण प्रहार, मोरध्वज ध्रुव कर्ण अर्जुन हरिश्चंद्र सावित्री आदि के चरित्रों की सहज विशेषता ही यह है कि वे त्याग तपस्या और कष्टों से तप कर की कसौटी पर कस कर उन सांस्कृतिक और नैतिक परंपराओं एवं आदर्शों का निर्माण करते हैं जो हमारे लिए चिर-स्मरणीय और स्पृहणीय हैं। अतएव भारतेंदु-युग का नाटककार इन उपाख्यानों का चुनाव अपने उद्देश्य विशेष की पूर्ति के रूप में स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त इनके अंतर्गत पात्रों के शील-निरूपण और वस्तु-विन्यास की विविध परिस्थितियों की योजना में वह अलौकिकता को मानवता अधिकाधिक मानवीय दृष्टिकोण का समावेश करता है। इस रूप में प्राय वह पौराणिक और इतिहास का परिष्कार कर देता है और उनके ऐसी बातें भी बताता है जो ऐतिहासिक असंगति के दोष से दूषित और कहीं कहीं अस्वाभाविक भी हैं। परंतु इन बातों की उसे चिन्ता नहीं उसे चिन्ता तो केवल अपने उद्देश्य की है जिसे वह अपने दर्शकों की सांस्कृतिक और नैतिक चेतना को प्रबुद्ध करके और उनमें समाज के तत्कालीन सांस्कृतिक और नैतिक अधःपतन के प्रति असंतोष उत्पन्न करके सिद्ध करना चाहता है। प्रत्येक नाटककार अपने इस प्रकार के उद्देश्य को किसी न किसी रूप में स्पष्ट कर देता है।

उदाहरणस्वरूप लाल खड्गबहादुर मल्ल अपनी पौराणिक हरितालिका नाटिका में लिखते हैं कि यह नाटक स्त्रियोत्साहिनी कुलवधुओं की आवश्यकता की पूर्ति में तत्पर लिखा गया है जिसके लिए पतिव्रत धर्म और गृहकर्मादि कथा संयुक्त मनोहर रूपक अधिक हृदयग्राही और उपयुक्त होंगे।' इस नाटक में जहाँ एक ओर पातिव्रत धर्म की शिक्षा देने का आयोजन है तो दूसरी ओर कुमारियों को शादी के मामले में इच्छा के विपरीत बेमेल विवाह के विरुद्ध खड़े हो सकने की शक्ति और साहस बटोरने का भी आयोजन है। यही से नहीं पौराणिक कथा के निरूपण में भी वे केवल अपने युग की दरिद्रता और दुरवस्था को नहीं भूल पाते। खड्गबहादुर मल्ल का अपने पारिजात नाटक में कृष्ण और सत्यभामा के दाम्पत्य जीवन की कथा का चित्रण करते हुए भी देश के कुशासन और शोषण से उत्पन्न निर्धनता का चित्र नहीं भूलता। प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से कहलवाता है— पर हा आज हमारा यह भारतवर्ष रूपी अरण्य निर्धनता रूपी दावानल के धूम से भस्म न हो गया होता तो इस भाँति कुम्हारी

की न जाने कैसी मनोहर शोभा होती। इन लोगों के इन्कम-टैक्स रूपी कुठार के भय से किसान सुन्दर वाटिका में अपनी लहलहाती हुई हरियाली नहीं दिखा सकते।' इसी प्रकार 'प्रह्लाद नाटक'¹ में जहाँ एक ओर प्रह्लाद के चरित्र में सत्याग्रही की दृढ़ता आदि उच्च सांस्कृतिक और नैतिक गुणों का निदर्शन है वहाँ हिरण्यकशिपु की शासन नीति की पक्षालोचना द्वारा ब्रिटिश सरकार की सभी राजाओं और तालुकदारों से संबंध रखने वाली कूटनीति का रहस्योद्घाटन किया गया है। इस विषय की हिरण्यकशिपु और उसके अमात्य की वार्ता बड़ी मनोरंजक है।

हिरण्यकशिपु—अहा हा! जिससे मैं बड़ा प्रसन्न होता हूँ उसको सामान्य मुख्याधिकार और एक एक दीर्घकाय युक्त उपाधि सत्कार जिनके नामान्तर टाइटिल कहते नेनाब और मसराए हैं उन्हें मैं सहर्ष प्रतिपादित करता हूँ।

अमात्य—ऐश्वराज ने यह बड़ा कौशल्य किया है कि इसमें राजभण्डार का कुछ भी अर्थ व्यय नहीं होता परंतु सर्वसाधारणों के समान में गुणग्राहकता और आदर-सम्मान ही दृष्टि पड़ता है। चाहे क्यों न हो हाथ पैर बचाना और मूँछी का टरकाना।

हिरण्य०—सिपाहियों का रखना में जो कुछ उस युद्ध में राजकोष का अर्थ व्यय हुआ उसका द्विगुण धन मर्त्यलोक की प्रजा से वसूल कर लिया। और उसी समय में सब स्थानों में मर्त्यलोक की प्रजा को निरस्त्र करने का विधान प्रचलित करने में कैसी बुद्धिमानी का काम किया। अब और किसी को यह सामर्थ्य नहीं है कि राज्याज्ञापत्र बिना एक लाठी भी वा तरवार अपनी रक्षा के निमित्त रखे। यद्यपि किसी किसी मनुष्य को अस्त्र रखने का अधिकार दिया भी जाता है परंतु उसमें भी राजभंडार में अर्थागम होता ही है।

१—२० पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या कृत प्रह्लाद नाटक।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण उक्त नाटकों से दिए जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखकगण जनता को यह बता देना चाहते थे कि पुराणों के असुर फिर विदेशी शासकों के रूप में धरती पर आए हैं और उन्हीं के कारण इस देश की देव-संस्कृति विपन्न है। इस संस्कृति के उदात्त नैतिक आदर्शों की रक्षा के लिए प्रह्लाद और ध्रुव आदि के समान सत्य का आग्रह ही एकमात्र उपाय है। इन नाटकों के अध्ययन से यह भी प्रतीत होता है कि गांधीजी के अवतरण के बहुत पहले से ही इन लेखकों के मन में देश की दुरवस्था के परिहार के लिए किसी न किसी प्रकार के सत्याग्रह की कल्पना अंकुरित हो रही थी।

ठीक पौराणिक नाटकों के ही समान भारतवर्ष की संस्कृति के निर्माण की प्रेरणा प्रदान करने के उद्देश्य से ऐतिहासिक नाटकों का प्रणयन हुआ है। इन ऐतिहासिक नाटकों में राधाकृष्ण दास कृत 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप', काशीनाथ खत्री कृत 'तीन परम मनोहर ऐतिहासिक रूपक', राधाचरण गोस्वामी कृत 'अमरसिंह राठौर', 'सिकंदर', [illegible] कृत 'वीर हकीकत राय', गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'वीर जयमल', श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता-स्वयंवर' और वैकुंठनाथ दुग्गल कृत 'श्री हर्ष' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ये लेखकगण इन नाटकों में भी राष्ट्र के उदात्त नैतिक आदर्शों का मण्डन करते हैं। राधाकृष्णदास कृत 'महारानी पद्मावती' नाटक में एक माता और उसके पुत्रों के कथोपकथन में हिंदुओं के राष्ट्रीय-चरित्र की मनोहर झाँकी दिखाई गई है[1] —

१ बालक—माँ आज क्यों इतनी धूमधाम मच रही है? क्यों सब लोग ढाल तलवार आदि शस्त्रों को सँभाल रहे हैं? क्यों लोग एक साथ हर्षित और दुखित हो रहे हैं?

स्त्री—बेटा! मुसलमानों ने महाराणा को छल से पकड़ लिया है, इसी से लोग दुखित होते हैं और तुरंत ही अपने देश के लिए लड़ाई

१—रा० कृ० दास कृत 'महारानी पद्मावती वा मेवाड़ कमलिनी' नाटक, अंक १, दृश्य २।

इसते लोग प्रसन्न हैं
करनी होगी और उसमें प्राण देने होंगे
और हर्षित हो रहे हैं।

२ बालक—क्यों माँ छल किसे कहते हैं ? क्या छल कोई भारी शत्रु है ?
अथवा कोई बड़ा पहलवान है ? हम लोगों ने तो आज तक इसका
नाम ही नहीं सुना है।

स्त्री—बेटा तुम लोगों ने इसका नाम कभी न सुना होगा राजपूत
बालक क्या कभी छल का नाम सुन होंगे। इसकी शिक्षा तो
मुसलमानों में ही होती है धोखा देनको छल कहते हैं।

राष्ट्रीय चारित्र्य के इन सांस्कृतिक और नैतिक आदर्शों का गुणगान इसी प्रकार अन्य ऐतिहासिक नाटकों में भी मिलता है। देश के तत्कालीन अध-पतन के कारण ये आदर्श स्वप्न होते जा रहे थे इसलिए नाटककारों को इनका अनुचिंतन आवश्यक हो गया था। राधाचरण गोस्वामी कृत 'अमरसिंह राठोर' नाटक में वैतालिकगण इसी बात को इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

दिनरात अकाल दुकाल फिरे। विकराल क्षुधा नित मार करे।
धन धर्म पतिव्रत वीर कला। छिन ही छिन में चली भागत रे।

एक ओर राष्ट्र के गौरव का रोमांचकारी बोध और दूसरी ओर देश की छिन्न-भिन्न दशा की घात-प्रत्याघात इतिकर्तव्यताविमूढ़ हृदय
नित मार करने वाली विकराल क्षुधा जिसने यथार्थ
अनुभूति। इससे इन नाटकों में उस आदर्शवाद का जन्म हुआ
की भूमि कभी नहीं छोड़ी। यही कारण है कि इन नाटकों में परंपरागत
नाटकीय न्याय के उस नियम की पूर्ण अवज्ञा की गई है जिसके अनुसार
राम के समान आचरण करने वालों की जय और रावण के समान आचरण
करने वालों की पराजय दिखाई जाती है। 'नीलदेवी' 'अमरसिंह राठौर' 'सिंधु
की राजकुमारी' आदि नाटकों में रावण के कुटिल चक्र में पड़े हुए राम के समान
आचरण करने वाले ही पराजय के भागी होते दिखाए गए हैं, जो इस युग
की दु:खान्तकी का अभ्युदय होता है।

इस प्रसंग में यह बता देना आवश्यक है कि इन नाटकों में सांस्कृतिक और नैतिक चेतना का विविक्त स्वरूप हमें नहीं प्राप्त होता, दोनों का मिला जुला रूप ही हमें प्राप्त होता है, जो अनेक सामाजिक प्रश्नों की प्रतिक्रिया के साथ साथ अभिव्यक्त होता है।

सांस्कृतिक चेतना के साथ जुड़ा हुआ सबसे महत्त्वपूर्ण सामयिक प्रश्न भाषा का था। भारतेन्दु जानते थे कि किसी राष्ट्र की भाषा उसकी संस्कृति का प्रतीक होती है और इस दृष्टि से उन्होंने हिंदी का महत्त्व ठीक ठीक समझा। हिंदी के संबंध में उनके पक्ष की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने इसके प्रश्न को राजनीतिक और साम्प्रदायिक समस्याओं से कभी नहीं उलझाया और न इस विषय में किसी प्रकार का समझौता करने को राजी हुए। कारण वह जानते थे कि हिंदी हिंदू और मुसलमान सब की भाषा है और अंग्रेजों द्वारा समर्थित उर्दू से समझौता कर लेने का अर्थ दुहरी परतंत्रता को स्वीकार करके उसे चिरस्थायी बना देना है। भारतेन्दु के समान ही उनके समय के अन्य लेखकों की दृष्टि भी इस प्रश्न पर सुस्पष्ट रही और उन्होंने मनोरंजक प्रहसनों तथा नाटकों में इस प्रश्न के विभिन्न पहलुओं को प्रदर्शित किया। ऐसी नाट्यकृतियों में शरत्कुमार मुखोपाध्याय का भारतोद्धार विशेष उल्लेखनीय है। इस नाटक में हिंदी को भारतीयता तथा राष्ट्रीयता का मुख्य-प्रतीक मान कर लेखक ने प्रतीक शैली में उसके उन्मूलन के विविध प्रयत्नों तथा उसके साथ जुड़ी हुई अनेक समस्याओंका उल्लेख किया है—

यह नाटक चार अंकों में विभाजित है, जिनमें से प्रत्येक में अनेक गर्भांक हैं। बंगाली लेखक का लिखा हुआ होने के कारण इसकी भाषा में बंगलापन बहुत है। प्रस्तावना में हम नटी या नाटक की मूल समस्याओं को इस प्रकार उपस्थित करते हुए सुनते हैं— क्या आपको स्मरण नहीं है कि आज कल अन्यायी दुष्टों ने हिंदी का [illegible] मानमर्दन कर भारतमाता का अपमान किया है और कर रहे हैं!"

नाटक के प्रथम दृश्य में बंदिनी भारत माता हमें एक अँधेरी कोठरी में पड़ी दिखाई देती है उसके आस-पास अनेक आर्यजन मूर्छित पड़े हैं। भारतमाता करुण क्रंदन करती हुई उनसे कहती है—

सुन आर्य सुन पाछा विनय है मोरी,
आय गया दिन खोल रे तरवार तोरी।
यह फारसी अति दूरदर्शी भारत है मोय,
उठ पुत्र कर मुझका उद्धार अखंडकीर्ति तबहोय।

यह क्रंदन सुन कर जब एक आर्य जागता है तो भारतमाता उसे बताती है कि उन्हें उनके पोष्य-पुत्र सता रहे हैं, उनको विपथगामी करने वाली यह फारसी मेरी शत्रु है। विदेशी भाषा और विदेशी संस्कृति के मोह में भारत के ही पोष्य पुत्र मुसलमान उसे सता रहे हैं, यह बात यहाँ स्पष्ट रूप से इस तरह कही गई है कि उसमें साम्प्रदायिकता की गंध भी नहीं आने पाती।

फारसी' के कथन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। मेरा दुश्मन बुरा जानता है, और कोई नहीं सिवाय हिंदी के। पर यह बात जरा ख्याल करने की है कि जो हिंदी बदजात भारत की शरम की मदद न पाती तो उसकी यह ताब न थी कि मेरे साथ फिसाद व झगड़ा करने को मुस्तैद हो जाती।" विदेशी शासन जिस संस्कृति को देश पर लाद कर अपनी जड़ें मजबूत करना चाहता है 'फारसी' उसी का प्रतीक है। इसीलिए हिंदी ही उसकी एकमात्र शत्रु है जिसके रूप में भारत अपनी संस्कृति को सुरक्षित बनाए है।

जब आर्य वीरों के सम्मिलित आक्रमण से पराजित होकर फारसी' बन्दिनी होती है, तो हिंदी से द्वेष करने के लिये पश्चात्ताप करती है, और उससे प्रेम करने को दृढ़-संकल्प होती है। पर भारत को गारत करके पुकार जाने की इच्छा रखनेवाले मुसलमान फारसी को ऐसा करने से रोकते हैं। बकरे-आजम कहते हैं—'यकीन है, कि हम पूर्वोक्त सर्वोत्तम विनय लेकर न किया है। वे कहते हैं—हा कोई दिन भारत को अपनी पामर इसे दिल्ली के नये जूते के तले दाब कर—हा हा इस तरह पीस डालूँगा।" इनकी मनोवृत्ति की टीका करते हुये एक पात्र मधुसूदन कहता है "इन का हृदय द्रव करना ऐसा ही कठिन है जैसा कि पत्थर को पानी करना"। दुर्भाग्य से हमारे देशवासियों को यह अनुभव देश के विभाजन के बाद हुआ।

इस नाटक के तीसरे अंक में हिंदी योगिनी का वेश धारण कर फारसी से अपनी अशुभ प्रवृत्तियों के परित्याग का अनुरोध करती है। तत्पश्चात् गिरिशृंग पर आर्य समाजावलम्बी आदि के साथ मरहटा और सिख आदि विभिन्न प्रांतों के लोग ऐक्य समाराधन में तल्लीन दिखाए गए हैं। ऐक्य देवी प्रसन्न हो कर पधारती हैं तथा भारतमाता की गोद में विराजती हैं। संभवतः इस दृश्य के द्वारा लेखक हिंदी के अंतप्रांतीय एवं सार्वदेशिक महत्त्व का निर्देश करना चाहता है। अंतिम दृश्य—परिशिष्ट—में हिंदी-फारसी और हिंदू-मुसलमानों के मेल का भी दृश्य दिखाया गया है।

इस नाटक की भाषा मधुर है, यद्यपि विन्यास भी शिथिल है। किंतु भारतेंदुकालीन लेखक भाषा की समस्या पर कितना स्पष्ट विचार रखते थे यह नाटक इसका सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त इन लेखकों के मन में एक सम्मिलित राष्ट्र की कैसी उदात्त कल्पना जग रही थी यह नाटक इसका भी उत्तम निदर्शन है।

आध्यात्मिक-धार्मिक

सांस्कृतिक-नैतिक चेतना के समान ही आध्यात्मिक-धार्मिक चेतना का भी क्रमिक रूप हमें भारतेन्दु-काल के नाटकों के एक वर्ग-विशेष में प्राप्त होता है। आध्यात्मिक-धार्मिक चेतना की नाटकीय अभिव्यक्ति का सूत्रपात भी भारतेन्दु जी ने ही 'चंद्रावली' आदि रूपकों और रामलीला के लिए पाठ निर्धारित किया था। तदनंतर इसका उन्मेष एक वेगवती धारा के रूप में हुआ। इस धारा के अंतर्गत राम और कृष्ण के चरित्र से संबंध रखने वाले वे सभी नाटक आ जाते हैं, जिनकी रचना इस काल में बहुत बड़ी संख्या में हुई। ये नाटक हमारी उस नाट्य-परंपरा के विकसित साहित्यिक रूप हैं, जो मध्यकाल से लीला के नाम से अविच्छिन्न रूप से चलती रही। पहले ही कहा जा चुका है कि भारतेन्दु ने लीला की इस परंपरा के दो रूपों—रामलीला और रासलीला—का महत्व समझ कर उनको अपेक्षित नाटकीय तत्त्वों से विभूषित किया और इस प्रकार उन्हें विस्मृति और उपेक्षा द्वारा नष्ट तथा भ्रष्ट होने से बचाया। उनके समकालीन अन्य नाटककारों ने भी इस कार्य का भार उठाया।

पीछे यह बताया जा चुका है कि रामलीला और रासलीला दोनों का अपना स्वतंत्र दर्शन तथा नाटकीय विधान है। भारतेन्दु-कालीन लेखकों ने उनके दर्शन एवं विधान की उपेक्षा नहीं की अपितु उनके उन्नयन की ही दिशा में साहित्यिक उद्योग किया। कुछ लेखक तो इन लीलाओं के मूल रूप को सुरक्षित रखने के पक्ष में रहे और उनमें अधिक हेर फेर करना ठीक नहीं समझा। परंतु बहुत से ऐसे लेखक भी हुए जिन्होंने उनको कभी साहित्यिक नाटकों की ओर खींचा और कभी पारसी रंगमंच के मोह से फिराया।

रासलीला-संबंधी बहुसंख्यक नाटकों में खड्गबहादुर मल्ल कृत महारास, बलदेव प्रसाद मिश्र कृत प्रभास मिलन और नंद विदा, ब्रजवासी गोपकवि रचित मानचरित्र और माधुरी, कृष्णदास कृत कुसुम कामिनी लीला', विद्याधर त्रिपाठी की उद्धव गर्व-हरण नाटिका, राधाचरण गोस्वामी कृत श्रीदामा, किशनलाल सहाय कृत कृष्ण सुदामा, अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत रुक्मिणी परिणय और सूर्यनारायण सिंह की 'श्यामानुराग नाटिका' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए ये नाटक तीन वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं—

(१) प्रथम वे नाटक जिनमें रासलीला का मूल रूप प्रायः ज्यों का त्यों सुरक्षित है, उसमें बहुत थोड़ा हेरफेर किया गया है।

(२) द्वितीय वे नाटक जिनमें रासलीला का धार्मिक आधार और स्वरूप तो पुराना ही है, पर उनका क्रियाकलाप बहुत कुछ साहित्यिक नाटकों के समान हो गया है।

(३) तीसरे वर्ग के नाटकों का रूप आधुनिक साहित्यिकता से इतना सम्पन्न हो गया कि उनमें रासलीला का मूल रूप बिल्कुल खो गया है।

पहले वर्ग के नाटकों में गोप कवि रचित 'मानचरित्र और माधुरी, कृष्णदास कृत कुसुम कामिनी लीला और श्रीकृष्णदत्त द्विज कृत कुसुम विहार आदि हैं। इनका रूप ठीक प्राचीन रासलीलाओं जैसा है और ये भारतेंदु की तन्मयलीला, रानी छद्म लीला और दानलीला के सर्वथा निकट हैं। ये लीलायें अधिकांश पद्यात्मक हैं, और रासधारियों की परंपरा में ही आ स्पष्ट वर्ग की

जाते हैं, अभिनीत होने योग्य हैं। चाचा हित वृन्दावन दास आदि द्वारा लिखी गई पुरानी लीलाओं में गद्य का प्रयोग बिलकुल नहीं किया गया है, रासधारी लोग अपनी ओर से प्रसंगानुकूल उसका योग कर लेते हैं। पर, इन लीलाओं में थोड़े बहुत गद्य का भी समावेश है प्राचीन लीलाओं में और इनमें अधिक से अधिक इतना ही भेद दिखाई पड़ता है। इसका उदाहरण गोपालसिंह कृत मानचरित से दिया जा सकता है जिसमें प्रधान रूपसे पद्यात्मक कथोपकथनों के बीच बीच ब्रजभाषा गद्य के भी दो एक छींटे उपलब्ध हो जाते हैं। अत्यंत क्रुद्ध होकर राधा कृष्ण से कहती है —

होउ क्यं मालिन की मेरी ओट।
नित झूठी सौगंध खात हो बहुत भये जिय खोट।
झूठो मिलन भयहुँ मो आगे ठाढ़ो रचत उपाय।
बहुत भई बस सुधी गिमन जाहु चले मन भाय।
दूरि करहु सखि अबहि यहाँ ते प्यारी कहत रिसाय।
यह अतिनिलज खरो ही रहिहैं सूधे घर नहिं जाय।

राधा की आज्ञा को व्यावहारिक रूप देने के लिए जैसे ही उनकी सखियाँ कृष्ण के दोनों हाथ पकड़ कर उनको कुंज से बाहर खींच कर डाल देने का उपक्रम करती हैं वैसे ही उनकी सिट्टी-पिट्टी भूल जाती है और कविता हवा हो जाती है, कुछ कहने के लिये विवश गद्य ही पकड़ना पड़ता है —

"श्री कृष्ण (लाल जी)—सखियो माठप कछू कहन देउगी? प्रिया जी—यह तेरौ बहुत मुंहि सुधौ, सखियो याय मेरे आगे त दूरि करो।"

रासलीला की परंपरा ब्रज के सिद्ध संतों और भक्तों द्वारा प्रवर्तित और संवर्धित हुई इसलिए आध्यात्मिक रहस्योन्मुखता उसका प्रमुख गुण है। उसकी यह विलक्षणता भक्तप्रवर भारतेंदु ने अक्षुण्ण रखी। परंतु आगे चल कर इस परंपरा के नाटकों में इस आध्यात्मिक रहस्योन्मुखता का स्थान भद्दा ने ले लिया।

दूसरे वर्ग में खड्गबहादुर मल्ल कृत महारास विद्याधर त्रिपाठी कृत 'उद्धव बलीठिमारिका' दुर्गानारायण सिंह की श्यामासुराग मालिका बलदेवप्रसाद मिश्र के 'प्रभास-मिलन और नंद-विदा आदि अनेक नाटक गिनाये जा सकते हैं। इस वर्ग के नाटकों में रासलीला साहित्यिक नाटकों का रूप ग्रहण करती हुई दिखाई देती है। लीला का आद्योपांत एकरस पद्यात्मक रूप अब नहीं रह गया है। उसकी कथावस्तु का विकास अंकों और झाँकियों में विभक्त दिखाई पड़ता है। गीत और पद्यादि का अब भी प्रचुर प्रयोग होता है, पर कथोपकथन का मुख्य माध्यम अब गद्य बन गया है। अवश्य इस गद्य में ब्रज के वातावरण के निर्माण के लिये ब्रजभाषा की छाप आ गया है, पर खड़ी बोली धीरे धीरे अपने अधिकार की घोषणा करने लगी है। प्रस्तावना आदि नाटकों के अन्य उपकरण भी लीला में आधुनिकों का अस्तित्व बताने के लिये प्रयुक्त हो चुके हैं।

इसका उत्तम उदाहरण महाराज खड्गबहादुर मल्ल का 'महारास' नाटक है। मैंने इसके प्रसंग में पहले ही मध्यकालीन 'महारास लीला' के स्वरूप का पूरा विवरण दिया है। मल्ल के महारास नाटक से उसकी तुलना करने पर दोनों का अंतर स्पष्ट हो जाता है। भक्तों का रहस्यमय रास जिसके गूढ़ तत्व को 'चंद्रावली' नाटिका के रूप में सबके सामने रखने में भारतेंदु तक को अत्यंत संकोच था, अब 'चार अंकों का शृंगार रस का रूपक' हो गया है। रासलीला के भक्त और साधु प्रणेताओं एवं प्रवर्तकों को अधिकारी दर्शकों की ही अपेक्षा रहती थी। पर मल्ल इस नाटक की अंग्रेजी लिखी हुई भूमिका में कहते हैं कि इस समय पाठक वर्ग दो समुदायों में विभक्त है—एक वर्णन-प्रणाली को पसंद करता है और दूसरा विषय मात्र का प्रेमी होता है। लेखक इस नाटक द्वारा दोनों के मनोरंजन के लिए कृत-संकल्प है। इसी दृष्टि से वह श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध की रासपंचाध्यायी का नाट्यीकरण करता है। प्रारंभ में नांदी और प्रस्तावना दोनों का प्रयोग किया गया है और सूत्रधार नटी तथा अन्य पात्रों के वेश-विन्यास का भी निर्देश कर दिया गया है। नाटक चार अंकों में विभाजित है और पहले अंक में तीन दूसरे में चार तीसरे में दो और चौथे में दो झाँकियाँ हैं। दृश्य के लिए संभवतः झाँकी शब्द प्रयोग किया-वस्तु के लिये भावित धार्मिक श्रद्धा का सूचक है।

प्राचीन रासलीलाओं के समान इसमें मिश्ररास की वह झाँकी नहीं दिखाई पड़ती है जिसमें क्रमानुसार रासविरहित सखियाँ अपने कुंज और भवन से श्री राधा और कृष्ण को प्रणाम करके उनसे रास मंडल में पधारने की प्रार्थना करती हैं। इस नाटक की पहली झाँकी में हमें कृष्ण स्वयं शरद की रात्रि में रास की अभिलाषा करते हुए दिखाई देते हैं। दूसरी झाँकी में वे अपनी चित्तमोहिनी मुरली के प्रकटहारी स्वर द्वारा गोपियों का आवाहन करते हुए सामने आते हैं और जब बेचारी गोपियाँ धूमप्रकाशित पतंगिकों की तरह खिंची चली आती हैं तो वह रात्रि में यथासाध्य सब प्रयत्न के लिये उनकी तीव्र भर्त्सना करते हुए वे उनको पातिव्रत का उपदेश देते हैं। परंतु गोपियों के परम समर्पण और चरम व्याकुलता के भाव से परिपूर्ण उत्तर सुन कर उन्हें संतोष हो जाता है। अतएव तीसरी झाँकी में कृष्ण गोपियों के साथ रास करते हुए दिखाई देते हैं। रास के बीच में गोपियों को गर्व हो जाता है और वे राधा के साथ अंतर्धान हो जाते हैं। दूसरे अंक की पहली झाँकी में विरह-संतप्ता गोपियाँ इधर उधर कृष्ण के अन्वेषण में विकल दिखाई गई हैं। दूसरी झाँकी में राधा को भी गर्व के वशीभूत दिखाया गया है फलतः वे भी कृष्ण द्वारा परित्यक्त होती हैं। तीसरी झाँकी में वियोग पीड़िता राधा तथा गोपियों की भेंट दिखाई जाती है और चौथी झाँकी में वे सब कृष्ण के विरह में अनेक प्रकार से विलाप-प्रलाप करती हुई सम्मुख आती हैं। इस अवसर पर लेखक ने अनेक प्रकार की रागरागिनियों का कथात्मक गुणपूर्ण समावेश किया है। पर ये सब गीत लेखक के अपने हैं पुरानी रासलीलाओं में प्रयुक्त सूर नंददास आदि भक्त-कवियों के नहीं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा —

कहाँ कहीं, छप्यो री गोपाल।
व्याकुल फिरति चहुँदिसी बनबिच ये सब ब्रज की बाल।
एक घरी नहीं चैन स्याम बिनु है सब अति बेहाल।
दया करो अब आय मिलो तुम हे जसुमति के लाल।।

तीसरे अंक की प्रथम झाँकी में इन विरहाभिभूत गोपियों का अत्यंत व्याकुलता पूर्वक श्रीकृष्ण के प्रति प्रार्थनापरायण गान है उनकी इस दशा से द्रवीभूत

होकर वे प्रकट होते हैं। अगली झाँकी में सब का पारस्परिक वार्तालाप प्रस्तुत किया गया है जिसमें प्रेमतत्त्व का निरूपण है। चौथी अंक में हमें फिर रास का दृश्य दिखाई पड़ता है। रास के अन्त में सब गोपियाँ मिल कर श्रीराधा और श्रीकृष्ण का विवाह रचाती हैं जिसमें पाणिग्रहण संस्कार की सब विधियों का यथावत् पालन होता है। अन्त में सब मिलकर यमुना में जलविहार करते हैं, यही अन्तिम झाँकी है।

इस संक्षिप्त परिचयात्मक विवेचन से यह स्पष्ट है कि लेखक को रासलीला के मूलरूप को सब नाटकीय तत्त्वों से मण्डित करने की आकांक्षा है और इस कार्य को वह सफलता से सम्पादित करता है। कथावस्तु में नाटकीय आवश्यकता की दृष्टि से परिवर्तन एवं परिवर्धन करते हुए भी वह उसके तात्त्विक आधार को ज्यों का त्यों रहने देता है एक निष्ठावान धार्मिक की भाँति इस कथा पर उसकी श्रद्धा है। तात्पर्य यह कि इस नाटक का विषय तो पुराना है पर शैली नयी और नाटकीय हो गई है। विषय-प्रतिपादन में धार्मिक श्रद्धाजन्य सुरुचि का योग तो है पर आध्यात्मिक व्यंजना क्षीण हो गई है। यह बात हम इस वर्ग के अन्य नाटकों में भी पाते हैं। यदि पुराने 'करुणाभरण' की तुलना इस काल के बलदेव प्रसाद मिश्र के 'प्रभास मिलन' नाटक से की जाय तो हमारे निष्कर्ष की और भी पुष्टि हो जायेगी। दोनों ही नाटकों में दीर्घकालीन वियोग के बाद प्रभास-क्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर श्रीकृष्ण और श्रीराधा तथा अन्य ब्रजवासियों के मिलन की कथा है। दोनों का कथानक एक है पर शैली में बहुत अन्तर हो गया है। करुणाभरण रासलीला के अभिनय और रंगमंच का अनुवर्ती है तो प्रभास मिलन भारतेन्दु-युग के नव-विकसित रंगमंच की परम्परा से शासित और प्रभावित। तात्पर्य यह कि एक अपने मूल रूप में लीला है तो दूसरा विकासोन्मुख नाटक। फिर भी 'प्रभास मिलन' में रास का वातावरण नहीं छूटता वह राधा और कृष्ण के व्यक्तित्व की अलौकिकता में वर्तमान है।

तीसरे वर्ग के नाटक रासलीला के अभिनय और रंगमंच की परम्परा के कुछ-बाह्य उपादान आवश्यकतानुसार ग्रहण करते हुए भी उसके तात्त्विक

आधार का छोड़ चुके हैं। इस वर्ग के नाटकों में राधाचरण गोस्वामी का 'श्रीदामा' विशेष उल्लेखनीय है। इस नाटक के प्रारम्भ में नांदी है और फिर प्रस्तावना। प्रस्तावना में सूत्रधार चतुर्दिक छाये हुए दुष्काल का उल्लेख करता है। दुष्कालजन्य चिन्ता से नटी की तो नाटक खेलने की भी इच्छा नहीं होती। वह कहती है, 'छप्पर पर फूस नहीं ड्योढ़ी पर नाच। तुम्हें आज नाटक सूझा है, मुझे तीन दिन एकादशी करते बीत गये।' जनता की भयंकर भूख की अनुभूति रास के आध्यात्मिक रहस्यवाद को किस प्रकार यथार्थोन्मुख आदर्शवाद में परिणत कर रही है, यह इस नाटक की प्रस्तावना में देखा जा सकता है।

प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी इस देश ने 'अपने आचरण की संस्कृति' का नष्ट नहीं होने दिया है यह इस नाटक का प्रमुख निर्देश है। नाटक के प्रथम दृश्य में हम श्रीदामा और उनकी पत्नी सर्वसहा की अनन्य भक्ति तथा घोर दरिद्रता का मार्मिक चित्र एक साथ देखते हैं। श्रीदामा भगवान् के भजन और ध्यान में इतने तल्लीन हैं कि पत्नी के बार बार याद दिलाने पर भी भीख के लिए नहीं जाते यद्यपि घर में खाने के लिए एक दाना भी नहीं। श्रीदामा का सिद्धान्त है "आत्मनाच्छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवा"। सर्वसहा पति को इस बात से विरक्त देख स्वयं भोजनान्वेषण के लिए कुछ उद्योग करना चाहती है। पर पति की अनुमति नहीं मिलती इसलिये वह भी भगवान के नामों का एक लक्ष जप करने बैठ जाती है। भजन-पूजन और जपादि में ही संध्या हो जाती है पर घर में भोजन की कुछ व्यवस्था नहीं। पत्नी स्वयं भोजन सामग्री जुटाने के लिए पुनः कुछ प्रयत्न करना चाहती है, पर श्रीदामा निवारण करते हैं। कारण एक तो रात्रि में भोजन निषिद्ध है दूसरे सायंकाल अन्न के अन्वेषण से बिलों में विचरण करने वाले जीव-जन्तुओं के दुःखी होने की सम्भावना है। इसी परिस्थिति में पड़ोसी का एक बालक आकर उन्हें भगवान् का प्रसाद अर्पित करता है।

दूसरे दृश्य में श्रीदामा अपने टूटे-फूटे घर में एक जीर्ण-शीर्ण छप्पर के नीचे सर्वसहा के साथ बैठे दिखाये गये हैं मूसलाधार वर्षा हो रही है। वर्षा देख कर श्रीदामा प्रसन्न हैं क्योंकि मेघ और विद्युत् को देखकर उन्हें बार बार

मान्धाम र-गवार-सुन्दर पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण की स्मृति स्फुरित हो रही है। परन्तु उस वर्षा से रक्षा का एकमात्र साधन छप्पर जो उड़ जाना चाहता है इसलिये सर्वसहा डर रही है और श्रीदामा उसे धैर्य दिलाते हैं। अन्त में छप्पर उड़ ही जाता है दम्पति 'छायाविहीन' हो वर्षा में भीगने लगते हैं। सर्वसहा मल्हार गाकर भगवान् से प्रार्थना करती है।

तीसरे दृश्य में श्रीदामा एक मैली पोटली लिये हुए द्वारका के पथ पर दृष्टिगत होते हैं। वर्षा में घर गिर-गिरा कर बिल्कुल बह गया है, अतएव सर्वसहा ने दुर्निवार हठ करके उनकी इच्छा के विपरीत उन्हें द्वारका जाने को विवश किया है। चौथे दृश्य में हम द्वारका के राजमहलों का दर्शन करते हैं जहाँ श्रीकृष्ण और रुक्मिणी विराजमान हैं। श्रीदामा के आने का समाचार पाकर कृष्ण उन्हें आदरपूर्वक अन्तःपुर में लाते हैं और अपने हाथों उनका सोपचार पूजन करके उनके लाये हुए चावल फाँकते हैं। पाँचवें दृश्य में राजपथ का दृश्य है। श्रीदामा कृष्ण से विदा होकर घर जा रहे हैं परन्तु वे हृदय में बड़े दुखी हैं क्योंकि कृष्ण ने उन्हें कुछ नहीं दिया। पर यात्रासमाप्ति पर जब वे घर पहुँचते हैं तो वहाँ अप्रत्याशित अकल्पित परिवर्तन देख कर आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। इसी समय राजकीय वेशभूषा में अनेक परिचारिकाओं से घिरी सर्वसहा आकर उनका स्वागत करती है।

यह नाटक जनता की धार्मिक चेतना की अभिव्यक्ति का बड़ा सफल साहित्यिक प्रयास है। इस नाटक का गठन सुन्दर है, श्रीदामा और उनकी पत्नी की अन्तःप्रकृति का भी इसमें मनोरम उद्घाटन है और कथो-पकथन भी प्रसंग तथा पात्रों के शील के उपयुक्त है। इस वर्ग के नाटकों का सर्वोपरि महत्व यह है कि इसमें लीला की नाटक के रूप में परिणति की प्रक्रिया प्रायः पूर्णता पर पहुँची देखी जा सकती है। श्रीदामा की तुलना नरोत्तमदास के प्रसिद्ध काव्य 'सुदामा चरित' से करने पर यह बात आसानी से समझी जा सकती है। नाटककार के श्रीदामा के चरित्र में नरोत्तमदास के सुदामा के चरित्र की अपेक्षा अधिक दृढ़ता है जो दर्शक को समाज की भयंकर भूख की ज्वालाओं के बीच धर्म पर आरूढ़ रहने की प्रेरणा देती है।

रामलीला सम्बन्धी नाटकों की संख्या भी कम नहीं है। इन नाटकों में ज्वालाप्रसाद मिश्र का रामलीला (सातों काण्ड) और सीता वनवास, दामोदर शर्मा शास्त्री का रामलीला सप्त काण्ड, शिवनंदनसहाय कृत रामरथ दर्पण, ब्रजचंद ब्रजवल्लभी का रामलीला नाटक, बन्दीदीन दीक्षित के सीताहरण और सीतास्वयंवर, प्रेमघन कृत प्रयाग रामागमन तथा रामनाथाचार्य का कालिदनाग-वध-व्यायोग विशेष उल्लेखनीय हैं। रासलीला सम्बन्धी नाटकों के समान ही ये नाटक भी तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। पहले वर्ग के अन्तर्गत वे नाटक परिगणनीय हैं जो रामलीला के तात्त्विक तथा धार्मिक आधार और उसकी अभिनय एवं रंगमंच की परम्पराओं का विधिपूर्वक पालन करते हैं। दूसरा वर्ग उन नाटकों का है जो इन परम्पराओं को न छोड़ कर धीरे धीरे नवोदित रंगमंच की प्रवृत्तियों से प्रभावित हो रहा है। तीसरे वर्ग के वे नाटक हैं जो प्राचीन परम्परा से नाता तोड़ चुके हैं।

पहले वर्ग के नाटकों में ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत रामलीला (सातों काण्ड) दामोदर शर्मा शास्त्री का रामलीला सप्त काण्ड और ब्रजचंद ब्रजवल्लभी के रामलीला नाटक (बालकाण्ड) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने धार्मिक श्रद्धा और भक्ति के साथ रामलीला नाटकों की रचना की। इसलिए इन लोगों ने रामलीला की अभिनय-परम्परा की अवज्ञा नहीं की है अपितु यथासम्भव उसको अधिकाधिक समुन्नत करने का प्रयत्न किया है। ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अपने रामलीला नाटक की भूमिका में बड़े विस्तार से लीला की विधि बतायी है, जिसमें पात्रों के निर्वाचन से लेकर उनके आहार्यादि के विधान एवं रंगमंचीय विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के नियम प्रस्तुत किये गये हैं। रामलीला के अत्यन्त सुकर नाटकीय विधान ने भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों को अभिनव और रंगमंच सम्बन्धी नयी दृष्टि प्रदान की इसमें सन्देह के लिये अवकाश नहीं। इन रामलीला नाटकों की सामान्य विशेषता यह है कि ये सब के सब रामचरितमानस के आधार पर निर्मित हुए हैं। वस्तुतः इनमें हमें रामचरितमानस का नाटकीकरण उपलब्ध होता है और तुलसी

की उस महिमामयी कला का प्रत्यक्षीकरण होता है जिसने श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य दोनों का समन्वित रूप एक ही आधार में प्रस्तुत किया है। ज्वालाप्रसाद मिश्र की रामलीला रामायण इस कोटि के नाटकों का उपयुक्त प्रतिनिधि है।

ज्वालाप्रसाद मिश्र ने रामायण के प्रत्येक काण्ड को दर्शनों में विभाजित किया है। प्रारम्भ में नांदी है जिसमें बालकाण्ड के प्रारम्भ के मंगलाचरणात्मक श्लोक दोहे और सोरठे संकलित हैं और पादटिप्पणियों में उनका अर्थ दिया हुआ है। इसके बाद प्रस्तावना है जिसमें शिव पार्वती को सूत्रधार और नटी के स्थान पर रख कर रामचरितमानस के उनके संवाद के एक अंश का कथोपकथन के रूप में उपयोग किया गया है। शिव—पार्वती का यह कथोपकथन रामायण की चौपाइयों के ही रूप में चलता है केवल अन्त में शिव जी कहते हैं " यह देखो रावणादि से सब पाये देवता क्षीरसागर में भगवान् के पास जाते हैं हम भी चलें "। इस प्रस्तावना के बाद बालकाण्ड का प्रथम दर्शन क्षीरसागर के तट पर प्रारम्भ होता है जहाँ ब्रह्मादिक सम्पूर्ण देवता और धेनुरूपधारी पृथ्वी स्तुति करते दिखाई देते हैं। बालकाण्ड की कथा इसी प्रकार के ग्यारह दर्शनों में विभक्त है जिसमें दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ से प्रारम्भ करके विवाहोपरान्त राम के घर लौटने तक की घटनाएं समाविष्ट हैं। इसी प्रकार अयोध्याकाण्ड की कथा दस, अरण्यकाण्ड की चार, किष्किन्धाकाण्ड की चार, सुन्दरकाण्ड की चार, लंकाकाण्ड की आठ और उत्तरकाण्ड की तीन दर्शनों में प्रदर्शित है। इन दर्शनों में समस्त रामचरितमानस की कथा विभिन्न पात्रों के कथोपकथन के रूप में सजा दी गयी है। लगभग सारा कथोपकथन दोहा-चौपाइयों में ही होता है केवल किसी विशेष प्रसंग में विशेष पात्र गद्य का उपयोग करता है। पादटिप्पणियों में नाटककार ने अर्थ के अतिरिक्त अन्य कवियों के कवित्त सवैया भजन आदि संकलित कर दिये हैं जिनका उद्देश्य कदाचित् यह है कि रामलीला के अभिनेता और व्यवस्थापक रोचकता लाने और विविधता लाने के लिये उनका भी यथास्थान उपयोग कर लें।

ज्वालाप्रसाद मिश्र के वर्ग के कुछ लेखकों ने अपनी रचना का आधार तो रामचरितमानस ही रखा है, पर कथोपकथनों में मूल चौपाइयों का प्रयोग न करके उनका भाव गद्य में अथवा स्वरचित पद्य में विविध पात्रों से कहलवाया है। ब्रजचंद जगदलजी के 'रामलीला नाटक (बालकाण्ड) की यही शैली है। यह नाटक रामचरितमानस का आधार छोड़ कर निकृष्ट कोटि का हो गया है, कारण लेखक की गद्य और पद्य दोनों की भाषा में व्यवस्था, सौष्ठव और विशुद्धता का अभाव है। नाटक की कथा दर्शनों के स्थान पर मरीचिकों में विभाजित है।

दूसरे वर्ग के रामलीला नाटकों का प्रतिनिधित्व करने वाली रचना कमलेश्वर दीक्षित का सीतास्वयंवर (सं १८९६) है। इसमें नांदी और प्रस्तावना का प्रयास नहीं है और कथा दृश्यों में विभाजित की गई है। नांदी और प्रस्तावना के स्थान पर प्रथम दृश्य में मेघरूपिणी धरती मात करती हुई अपनी दुरवस्था का वर्णन करती है। तदुपरान्त सीताजन्म से लेकर धनुर्भंग और परशुराम-संवाद पर्यन्त कथा गद्य-पद्य में वर्णित है। कथोपकथनों में प्रयुक्त गद्य ब्रज खड़ी अवधी सबकी खिचड़ी होने के कारण अव्यवस्थित है। पर रामचरितमानस, रामलला नहछू, रामचन्द्रिका आदि ग्रंथों से कथोपकथन के लिये प्रसंगोपयुक्त पद्यों का बुद्धिपूर्ण चुनाव किया गया है। कवि के विरचित सवैये भी सरस हैं।

इस सदी के तीसरे वर्ग के नाटकों ने रामलीला के लोकधर्मी विधान को छोड़ कर नवोदित रंगमंच के नाट्यधर्मी विधान का अनुसरण किया है। यहाँ भी हम नई परिस्थितियों के अनुकूल लीला को नाटक के रूप में क्रमागत स्वीकार करते हुए देखते हैं। इस वर्ग के नाटकों में प्रेमघन का प्रयागरामागमन और बालमाचार्य गिरिकुल का रविनाथकवमनावीय आदि प्रमुख हैं।—

धार्मिक चेतना के इस विवेचन से यह न समझा जाना चाहिए कि ये लेखक आध्यात्मिक अथवा धार्मिक आदर्शों के नाम पर पाखण्ड अथवा

अंधविश्वास का भी किसी प्रकार समर्थन करते हैं। धार्मिक अन्धविश्वास या पाखण्ड के विरोध में ये आधुनिक से आधुनिक लेखक से भी आगे हैं। भारतेन्दु ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'प्रेमजोगिनी' में धार्मिक पाखण्ड पर अपने व्यंग्य का वज्र गिराया था। 'भारत दुर्दशा' में उन्होंने स्पष्ट घोषित कर दिया था कि धार्मिक अन्धविश्वास किसी भी रूप में उनका समर्थन या प्रश्रय नहीं प्राप्त कर सकता।*

उनके समकालीन प्रसिद्ध लेखकों ने भी उन्हीं के समान धार्मिक पाखण्ड और अन्धविश्वास के दुर्ग को व्यंग्य और प्रहसन की तोपों से ढहा देने का निरन्तर प्रयत्न किया। इस प्रकार के प्रयत्नों में राधाचरण गोस्वामी के 'तन मन धन श्री गुसाईं जी के अर्पण' और 'बूढ़े मुंह मुहासे' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'तन मन धन श्री गुसाईं जी के अर्पण' नामक आठ अंकों के प्रहसन में एक गुसाईं जी का जीवन चित्रित है जो अपने भक्तों से उनकी पत्नियों, बहू-बेटियों का समर्पण कराते हैं। गुसाईं जी ने अपने भक्तों को इसी जीवन में मुक्ति सुलभ करने के लिए रामा नाम की एक कुटनी रख छोड़ी है। उसका भी पूरा चित्र इस प्रहसन में चित्रित है। 'बूढ़े मुंह मुहासे' में लाला नारायणदास नाम के एक परम भगवद्भक्त जमींदार के करतूतों की कथा है जो राम का नाम जप जप कर अपने ही निर्धन किसान चौका तेली की जवान और सुन्दर स्त्री को वश में करने का संकल्प दृढ़ करते हैं। शैली की दृष्टि से भी यह प्रहसन उत्कृष्ट है परन्तु इसमें व्यक्त विचारों की विशद स्पष्टता ही प्रशंसनीय है। संभवतः 'बूढ़े मुंह मुहासे' गोस्वामी जी की मौलिक रचना नहीं है। यह माइकेल मधुसूदनदत्त के 'बूड़ो शालिकेर घाड़े रोँ' का छायानुवाद है।

इन लेखकों की धार्मिक चेतना प्रायः विशद और परिस्फुट होने के साथ ही साथ कितनी सारग्राहिणी थी इसका निदर्शन राधाकृष्णदास का 'धर्मालाप' अर्थात् भारतीय नानाधर्मों का वार्तालाप (व्यंग्य गर्भित)

---

* देखिये — भा० दु० ना० सत्यानाश फौजदार का आगमन।

नामक एकांकी (?) है। इसमें कुल एक ही दृश्य है। वृद्ध सनातन धर्म बीच में बैठा हुआ दिखाई पड़ता है जिसको बहुत से लड़के चारों ओर से घेर कर बैठे हैं। इन बालकों में विभिन्न प्रचलित धार्मिक विचार-धाराओं के प्रतिनिधि पंडित वैष्णवी ब्राह्मण शैव शाक्त कौल वैष्णव रामानन्दी पंचपिरिये (मुसलमान) ब्राह्मो, थियोसोफिस्ट, स्पूर्चुअलिस्ट मैटिक, क्रिश्चियन नेचरिये या नास्तिक मारवाड़ी, साहेबी, लालासाहेब और प्रेमी भक्त आदि सब हैं। सनातनधर्म प्रकृत मानव धर्म अथवा विश्वधर्म इन असंख्य मतवादों के बीच प्राप्त मलाक्रान्त एवं जीर्णग्रस्त है। वह अपनी समुपस्थित सन्तानों से अपनी रक्षा का कुछ उपाय करने को कहता है। इस पर प्रत्येक इन अनुष्ठानों का ब्यौरा उपस्थित करता है जो उसने धर्म को तारने के लिये किये हैं। पंडित कहते हैं — "धर्म की ओर रुचि और श्रद्धा बनाये रखने के लिये हम लोगोंने पाँच पैसे में पठ्यान कराया। अब तक सभाओं में जाकर एक दूसरे का सिर इसीलिए फोड़ते हैं कि धर्म की उन्नति हो।" शैव कहता है — "धर्म के लिये वैष्णवों को लाखों गालियाँ देते हैं, और अगर वक्त पड़ा तो आपस में सिर कटाने को भी तैयार।' मारवाड़ी जी अपने नम्र निवेदन द्वारा "तनमनधन श्री गुसाईं जी के अर्पण के समर्पणवादी सेठ स्वभाव की बात दिखाते हैं — यहाँ तो महाराज पुरोहित जी की आज्ञा बिना कोई काम करें नहीं। घरबार लड़का बाल बच्चा सबका हाल पुरोहितजी जानें।" साहेब जी बड़े सन्तोष से अपनी धार्मिकता का बोध कराते हैं — "मिस्टर जमैरे चंगाजी नामक आदमी और अपना एक पैसा चाण्डाल को दे दिया। अपन तो बाबा पुराने ख्याल रक्खी थे।' इस पर लाला साहब स्पर्धा से बोल उठते हैं "कलमशान कसम हम तो खुदा का नाम लिये बिना कोई काम करते नहीं।" हमारे तो पायोनियर बाबा सहाय हैं" कहकर पंचपिरिये सन्तोष की साँस लेते हैं पर ब्राह्मणजी यह कह कर कि "आप लोगों के मारे कुछ नहीं होने पाता" असन्तोष प्रकट करते हैं। संभवतः ब्राह्मो को अपने धर्मोद्धार कार्य पर विशेष गर्व है क्योंकि वह "शैव चमार को महाचार्य महाशय के साथ मिलाना और ब्राह्मण का विधवा हलालखोर का साथ बिठाना" है। इसी प्रकार अन्य सब लोग अब अपनी-अपनी कह लेते हैं

तो प्रेमी भक्त कहता है– जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई.. परमधर्म हरिपद भजन तजहु न एकहु साँस।

इस प्रकार जब उनमें किसी भी प्रकार मतैक्य नहीं होने पाता तो तब बालक में कहते हैं– 'अपुनो अपुनो मत लै लै सब लगरत क्यों मतिमारे'। इस पर सनातनधर्म दुखी होकर मूर्च्छित हो जाता है।

इस नाटक के संलाप की परिकल्पना बड़ी विलक्षण यथार्थ और उदात्त है। विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों के मुँह से जो जो बातें सुनते ही अनुयायियों का यथार्थ चरित्र –चित्र कल्पना में बरबस उभर आता है। इसके अतिरिक्त लेखक यह भी संकेत करता है कि सनातन धर्म केवल हिन्दुओं का ही नहीं अपितु मानवमात्र का है। पंचपिरिये क्रिश्चियन आदि को उसके बालकों के रूप में दिखा कर लेखक यही निर्देश करता है। इस प्रकार भारतेन्दु युग के लेखक हमें विविध मतवादों से ऊपर उठा कर हमारे मन में एक आधारभूत विश्वधर्म की कल्पना भी जगाते हैं।

राजनीतिक स्वातंत्र्य की चेतना –

जिन लेखकों में अपने देश के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक नैतिक एवं धार्मिक गौरव का रागात्मक बोध इतना गम्भीर हो उनमें उसकी आर्थिक दुरवस्था और राजनीतिक पराधीनता की अनुभूति का अत्यन्त तीव्र होना स्वाभाविक ही है। अकाल भूख की विराट् ज्वाला में जलती हुई देश की बँधी जनता की यन्त्रणाओं की अनुभूति भारतेन्दु में कितनी मर्मस्पर्शी थी यह हम यथास्थल दिखा चुके हैं। उनके युग के अन्य लेखक भी इस दृष्टि से उनके अनुगामी थे यह भी हम दिखाते आ रहे हैं। सांस्कृतिक नैतिक धार्मिक अथवा आध्यात्मिक किसी भी परम्परा के नाटक में वे दुष्काल से ग्रसित अथवा निर्धनतारूपी आर्थिक पतन के वेग से मर्माहत इस दुखी देश को नहीं भूलते हैं। यहाँ तक कि विशुद्ध प्रेमाख्यानक परम्परा के नाटकों में भी वे किसी न किसी बहाने देश के आर्थिक शोषण की चेतना जगा देते हैं। ऐसे लेखकों में राजनीतिक स्वातन्त्र्य की चेतना का उदय अवश्यम्भावी था।

परन्तु उस समय का भारत परम परतन्त्र था। अंग्रेजोंने जनता के आर्थिक और राजनीतिक स्वातन्त्र्य का ही हरण नहीं किया था उसके अंगूठे काट कर और रोजी छीन कर पैरों में गुलामी की जंजीरें ही नहीं पहनाई थी अपितु निर्दयतापूर्वक उसकी जबान खींच कर मजबूती से उसका मुँह भी बन्द कर दिया था। इस युग में वाणी पर कितना कठोर नियन्त्रण था इसका आभास भारतेन्दु ने भारत दुर्दशा नाटक में डिसलायल्टी के कार्य-व्यापार द्वारा दिया है। इस परिस्थिति में भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने जो कुछ कहा और जितना खुल कर कहा वह कटु सत्य और उसकी उतनी प्रखर ज्योति तो सम्भवतः आज की सरकार भी कठिनाई से सहन कर पायेगी। अवश्य इन लोगोंने यह सब प्रायः विक्टोरिया के नाम की दुहाई देते हुए उनकी प्रशंसा की आड़ में कहा। पर ऐसा उन्होंने राजद्रोह के दारुण आरोप से बचने के लिये किया राजभक्ति की अकृत्रिम प्रेरणा से नहीं। तात्पर्य यह कि इस काल के लेखकों ने पहले पहल इस मूक देश को प्रबुद्ध वाणी का प्रसाद दिया उनकी राजनीतिक चेतना आज भी आश्चर्य में डालने वाली है। यह अपने समय के राजनीतिक नेताओं की स्वातंत्र्य चेतना से ही नहीं आगे की कई पीढ़ी के नेताओं की स्वातन्त्र्य-चेतना से भी आगे है। डॉ रामविलास शर्मा ने अपनी भारतेन्दु-युग नामक पुस्तक में इस विषय के अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य दिये हैं[1]। उसका एक अंश उद्धृत कर देने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

" भारतदुर्दशा का लेख उन्नीसवीं शताब्दी और ये रचनाएँ उस समय की राजनीतिक चेतना का प्रमाण हैं। हिन्दी के लेखकों ने देश के जागरण में कौनसा भाग लिया यह जानने के लिये ऐसे लेखों का पढ़ना आवश्यक है। लोगों को यह कहते हुए हम सुना करते हैं कि गांधी बाबा के पहले तो लोग स्वराज का नाम लेते हुए भी डरते थे सरकार के विरुद्ध एक शब्द कहने का उन्हें साहस न होता था ऐसे लोगों को या तो साहित्य की जानकारी नहीं है, या जानबूझ कर वे झूठा प्रचार

---

१ दे० डॉ रामविलास शर्मा–भारतेन्दु युग पृष्ठ १७ १८ १९।

करते हैं। दक्षिण अफ्रीका के बूअर युद्ध में महात्मा गांधी ब्रिटिश सरकार के साथ थे, यद्यपि उन्होंने स्वीकार किया था कि न्याय सरकार के साथ नहीं था। गांधीजी की तब की राजनीतिक चेतना से इस लेख का लेखक कोसों आगे है — उसके समय के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने सरकारी नीति की कभी ऐसी कड़ी आलोचना न की थी। वरन् वे सरकार का साथ देते थे। राजभक्ति से देश को स्वाधीन करना चाहते थे या ब्रिटिश राज में रह कर सुख की सांस के स्वाधीनता को भूल जाना चाहते थे। सरकार, कचहरी और प्रेसीडेंट के मुकाबिले में डट कर इन स्वार्थत्यागी लेखकों ने—जिनका इतिहास में नाम भी स्पष्ट नहीं लिखा है—देश में राजनीतिक चेतना फैलाई।"

राजनीतिक चेतना के समान ही इन लेखकों की आर्थिक चेतना भी सुविकसित थी। भारतेन्दु युग का प्रत्येक लेखक जानता है कि देश की भयंकर भुखमरी और नग्नता का कारण अंग्रेज हैं। भारतेन्दु के स्वर में स्वर मिलाकर युग के सभी प्रमुख लेखक 'धन विदेश चलि जात' का राग जनता के रंगमंच पर अलापते हैं। बड़ों की तो बात ही अलग सज्जाद सुम्बुल' जैसे रूपान्तरित नाटक का लेखक भी खलनायक समशेर के मुँह से अंगरेजों की पोल खोलने का अवसर निकाल लेता है —

दूर बेवकूफ अंगरेज की बात है या कोई और है? रुपये ही तो चाहो इसकी जान की जान खरीद लो। रुपये ही के लिये न ये सात समुद्र पार उतर के यहाँ आये हैं।

इस आर्थिक-राजनीतिक चेतना को भारतेन्दु जी ने पहले पहल भारत दुर्दशा में पुराने प्रतीक-नाटकों की शैली में अभिव्यक्ति प्रदान की। तदुपरांत इस शैली के अनेक नाटक इनके युग में लिखे गये, जिनमें प्रतापनारायण मिश्र का भारत-दुर्दशा रूपक प्रेमघन का भारत सौभाग्य दुर्गादत्त की वर्तमान दशा', खड्ग बहादुर मल्ल का भारत-आरत आदि हैं। राष्ट्रीयता के इतने व्यापक अर्थ में भारतेन्दुयुग का सारा साहित्य राष्ट्रीय है। पर उसका जो संकुचित अर्थ दुर्भाग्य से आज प्रसार

गया है उसके अनुसार ये राजनीतिक आर्थिक चेतनासम्पन्न नाटक ही राष्ट्रीय और भावी नाटकों की राष्ट्रीय धारा के प्रवर्तक माने जा सकते हैं।

इस प्रकार की राष्ट्रीयता के अन्य आनुषंगिक पक्षों अथवा प्रश्नों पर भी इन लेखकों की दृष्टि गई है। ऐसे प्रश्नों में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न राजनीतिक दृष्टि से प्रधान समझा जाता रहा है। भारतेन्दु ने भी कहा था—घर में आग लगे तब जिठानी दौरानी को आपस की डाह छोड़ कर वह आग बुझानी चाहिये। घर में अपमान और दरिद्रता की आग लगी ही थी इसलिए जिठानी के पक्ष के अनेक लेखकों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए वातावरण तैयार करने वाले नाटक लिखे जिनमें अतीव १८९२ ईसवी में प्रकाशित रत्नचंद का न्यायसभा उल्लेखनीय है।

इस नाटक के नायक अकबर के चरित्र में धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का पूर्ण विकास दिखाया गया है। वह बीरबल से कहता है— हमने यह नियम कर लिया है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक ही दृष्टि से देखें जिससे वह बैर जो प्रजा के मन में हमारे कौम के बादशाहों की अनीति से उत्पन्न हो गया है, जाता रहे। बीरबल में हमें नर्मदल के एक ऐसे बुद्धिमान नीतिज्ञ चतुर, वाग्मी एवं पुण्यप्रतिभ नेता के दर्शन होते हैं जो अकबर से मिलकर देश-जाति का हित-साधन करना चाहता है। वह समय समय पर शासन के अभावों की ओर अकबर का ध्यान आकर्षित करता रहता है और इस प्रकार लेखक को अपने समय की नौकरशाही के कुकृत्यों के प्रति आवाज उठाने का अवसर देता है। जब लेखक को आई. सी. एस. परीक्षा के विषय में कुछ कहना होता है तो बीरबल के मुख से वह इस प्रकार कहलाता है— धार्मिक परीक्षा देकर ही सरकारी उच्चपद अकबर के दरबार में प्राप्त होता है। पर इस परीक्षा से हिन्दुओं को वंचित रखने के लिये अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं — (१) वह काबुल में होती है। (२) अरबी के अनेक ग्रंथ उसमें रख दिये गये हैं। (३)

बीस वर्ष से अधिक आयु के लोग उसमें बैठ नहीं सकते। (४) परीक्षक विरोधी होते हैं।'

लेखक संभवतः यह भी जानता है कि अकबर की उदार नीति का प्रभाव इस देश में बहुत दूर तक नहीं पड़ा। इसलिए जब हम अकबर को यह कहते हुए सुनते हैं कि 'कैसी भी दशा हमारी हो या देश की हो हम न्यायमार्ग से च्युत होने की इच्छा नहीं रखते' तो जनता के प्रतिनिधि हरभजनसिंह को यह कहते हुए भी देखते हैं कि 'हजूर सलामत की आज्ञा के विरुद्ध कैसे कैसे अन्याय हमारी आँखों के सामने ही हमारे देशी भाइयों पर करते हैं।' अकबर की शासन-नीति की आलोचना के व्याज से अंगरेजों की भेद-नीति (Divide and rule policy) का रहस्योद्घाटन किया गया है।

इस नाटक का उद्देश्य उदात्त है, इसमें सन्देह नहीं। सम्भवतः भारतेन्दु युग में इसी नाटक में पहले-पहल अकबर की धार्मिक उदारता का चित्रण किया गया है। किन्तु लेखक ने बड़ी कुशलता से यह भी लक्षित कर दिया है कि उसकी यह उदारता भोले-भाले हिन्दुओं को फुसलाने का साधन भर है। इस प्रकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी नाटक उल्लेखनीय है। सामयिक भाव-प्रवाह के बीच बीच पात्रों का शील-वैशिष्ट्य भी कुछ न कुछ प्रकाश में आता रहता है। कथोपकथन की भाषा भी एक योजना का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। उदाहरणस्वरूप अकबर साधु हिन्दी का प्रयोग करता है। पर उसके समक्ष उपस्थित हिन्दू भी (अंगरेजी शासन के और आज के खुशामदी बाबुओं की तरह) उर्दू मिश्रित भाषा बोलते हैं। संवाद अच्छे अवश्य हैं। पर भारतेन्दु युग के उद्देश्यनिष्ठ लेखकों को अपनी बात पूरी पूरी कह लेने की जितनी चिन्ता है उतनी नाट्यकला के निर्वाह की नहीं।

इस श्रेणी के लेखकों की राजनीतिक चेतना का विश्लेषण करने पर हम उनमें पौरुष और विवेक का समान सामंजस्य पाते हैं। वर्तमान के प्रति असन्तोष उन्हें पलायनवादी अथवा निराश नहीं बना पाता अपितु

उनके भीतर ऐसे ओजपूर्ण पौरुष को जगा देता है जो आर्थिक शोषण और राजनीतिक परतन्त्रता के सब आधार-स्तम्भों को हास्य तथा व्यंग्य के प्रहारों से ढहा देने का उत्साह रखता है। भारत-दुर्दशा तथा उसकी अनुवर्ती अन्य व्यंग्यप्रधान रचनाएँ इसी कोटि की हैं। दूसरी ओर अधिक संयत होने पर यही अर्न्तबोध उन्हें राष्ट्रीय ऐक्य-विधायक विविध उपादानों को संगठित करने की प्रेरणा देता है।

सामाजिक चेतना —

भारतेन्दु की चेतना में असह्य वेदना है। वेदना के इस भार के निवारण के लिये उनके आत्मबोध ने अश्रु और हास दोनों का आश्रय लिया है जिसका उत्तम निदर्शन प्रेमयोगिनी में प्राप्त किया जा सकता है। भारतेन्दु के अन्य समकालीन लेखक भी इसी प्रकार सामाजिक जीवन के कटु यथार्थ का तीव्र बोध होने पर खिन्न होते हैं। उनकी यह खिन्नता पहले आँसुओं के रूप में बह जाना चाहती है पर उसमें से ही जब उसका निवारण नहीं हो पाता तो वह हास के रूप में फूट पड़ती है। तात्पर्य यह कि इस समय के लेखकों की सामाजिक चेतना जीवन के यथार्थ रूप के चित्रण में प्रवृत्त है और भारतेन्दु ही के द्वारा प्रारम्भ किये हुए यथार्थवाद के विकास के लिये अनुकूल वातावरण का निर्माण करती है। इन लेखकों का यथार्थवाद वस्तुतः उनके आदर्शवाद का ही दूसरा पक्ष है, जो समय और समाज की जीवनधारा को अवरुद्ध करने वाले विविध अन्तरायों के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन कर कभी हमें रुलाने का उपक्रम करता है और कभी हँसाने का, और इसीलिये जिसको मैंने पहले ही आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का नाम दिया है।

इन लेखकों के सामने समय और समाज की जीवनधारा को अवरुद्ध करने वाले अन्तराय कौन से थे? विचार करने पर स्थूल रूप से वे अन्तराय हमें दो प्रकार के दिखाई पड़ते हैं। एक तो वे असामाजिक प्राणी जो अपनी अनेक प्रकार की मानसिक अथवा शारीरिक विकृतियों को चरितार्थ करने के लिये समाज के जीवन को नष्ट भ्रष्ट और विषाक्त कर रहे थे और दूसरे

वे दुर्बल जीव जो इन विकृतियों के शिकार होकर अनेक प्रकार के निर्दय अत्याचार सहते सहते अपना जीवन समाप्त कर देते थे । दोनों के कारण समाज की स्थिति दयनीय हो रही थी । अतएव इन लेखकों ने दोनों का चित्रण अपने नाटकों में किया । दूसरे वर्ग के चित्रण में यदि उन्होंने अपने हृदय की करुणा उड़ेली तो पहले वर्ग के चित्रण में निर्ममता से हास्य और व्यंग्य के बाण बरसाये । इसी वर्ग को लक्ष्य करके प्रतापनारायण मिश्र ने कहा था— " यद्यपि देशबान्धवों का दुख देख के छाती फटती है, पर ऐसे लोग जिनसे सर्वसाधारण का अनिष्ट सम्भावित है अवश्य दण्डनीय हैं' । अवश्य इन लेखकों में अभी उन मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक कारणों प्रवृत्तियों और परिस्थितियों की सुस्पष्ट चेतना नहीं है, जिनके कारण समाज में अनेक प्रकार की बुराइयों और दुःखदायक रूढ़ियों का जन्म लेना और पनपना सम्भव होता है । परन्तु समाज में वास्तव में दुखी कौन है उनको दुख देने वाली रूढ़ियाँ कौन हैं तथा इन रूढ़ियों की सुरक्षा में जिनका हित और स्वार्थ निहित है, वे व्यक्ति, वर्ग अथवा संस्थाएँ कौन हैं इस सम्बन्ध में इन लेखकों की वस्तुदृष्टि निर्भ्रान्त है ।

इस स्थिति में इन लेखकों की सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति जिन नाटकों में हुई, उनमें वेदना और व्यंग्य किंवा करुण और हास का साथ साथ परिपाक मिलता है । जिन नाटकों में समाज के दयनीय व्यक्तियों और उनकी मार्मिक परिस्थितियों का चित्रण है उनमें करुणा की प्रधानता है । जिनमें विदूषों और उनकी विकृतियों का चित्र है उनमें हास्य और व्यंग्य की प्रमुखता है । वास्तव में सामाजिक दुरवस्था के दो प्रमुख पक्षों को प्रकाश में लाने की ये दो प्रभावशाली शैलियाँ हैं अन्य कोई तात्त्विक अन्तर दोनों में नहीं प्रतीत होता । करुणाप्रधान नाटकों में भी प्रतिपाद्य विषय और प्रसंग के अनुकूल हास्य की योजना है और हास्यरसात्मक नाटक तो व्यंग्य के माध्यम से समाज के शत्रुओं पर आक्रोश प्रकट करते हुए उनके द्वारा पीड़ितों पर हमारी करुणा जगाने के उद्देश्य से ही लिखे गये हैं । पहले वर्ग में भारतीय का 'वधू-पापाचरण और वर्णव्यवस्था', मिश्रिकाक का विवाहिता

विलाप राधाकृष्णदास का 'दुःखिनी बाला', बालदत्त शर्मा का 'बबुआ विलाप नाटक' 'अनमेल ब्याह दुःखरूपक' देवीप्रसाद का 'बालविवाह' और श्यामसुंदरदास का 'वृद्धावस्थाविवाह' आदि हैं। दूसरे वर्ग में प्रतापनारायण मिश्र का 'कलिकौतुक रूपक', बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान' माधवप्रसाद का 'हास्यार्णव एक भाण' तथा किशोरीलाल गोस्वामी के 'चौपट चपेट' आदि अनेक नाटक हैं, जो हिन्दी नाटक की प्रहसन धारा के आधार माने जाते हैं।

पहले वर्ग के नाटकों में उन कुरीतियों का चित्रण है जिनके कारण समाज की जीवनीशक्ति का दिन प्रतिदिन ह्रास हो रहा है। इन कुरीतियों में बालविवाह और अनमेलविवाह आदि वैवाहिक प्रथा की बुराइयों के उन विविध पक्षों का विशेष रूप से उद्घाटन किया गया है जिसके कारण स्त्री-जाति असहाय और पुरुष जाति हीनवीर्य हो रही है। साथ ही वेश्यागमन और मद्य-सेवन आदि की दूषित कुत्सित कुप्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला गया है जिनके कारण पारिवारिक जीवन विघटित और दाम्पत्य जीवन नीरस हो रहा है। इन सब कुरीतियों का दुष्परिणाम सबसे अधिक निःसहाय नारी को भोगना पड़ रहा है। इसलिये उसके साथ इन लेखकों की विशेष सहानुभूति है। दुःखिनी बाला में उसकी विधवा श्यामा का करुण चित्र है जिसे भीतरी सामाजिक परिस्थितियाँ पर-पुरुष-सम्बन्ध स्वीकार करने को बाध्य करती हैं। वह निस्तार का कोई उपाय न देख विष खाकर प्राण दे देती है। अन्य नाटकों में भी इसी प्रकार दुःखान्त सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण है। जाति-प्रथा छुआछूत समुद्र-यात्रा-निषेध फलित-ज्योतिष पर अन्धविश्वास शोषण के कारण गुरु-जी की महार्घता आदि अपने समय की सभी प्रकार की बुराइयों का भी नाटकीकरण इन लेखकों ने किया है। इस वर्ग के नाटक प्रायः प्रचारात्मक अथवा उपदेशात्मक दृष्टि से लिखे गये हैं इसलिये वे आकार में भाण के एकांकियों के समान छोटे हैं। इनमें से अधिकांश नाटक दुःखात्मक हैं, यह इनकी दूसरी विशेषता है। इस वर्ग के कुछ नाटक प्रतीक-पद्धति का भी अवलम्बन करते हैं जैसे अंबिकादत्त

व्यास का 'कलियुग और घी' । इस नाटक में दिखाया गया है कि कलियुग घी को चर्बी का मेल देकर भ्रष्ट करने का प्रयत्न करता है और उत्साह तथा एकता उसकी रक्षा करते हैं। खाद्यपदार्थ में मिलावट जैसे समाज विरोधी कृत्यों पर भी भारतेन्दु-युग के लेखकों की दृष्टि जाती है। सामाजिक चेतना की यह प्रबुद्धता नये से नये लेखकों में भी कम ही दिखायी पड़ती है।

नाटकों के इस वर्ग को कुछ विद्वानों ने समस्या-प्रधान नाटक वाद कहा है[1]। पर समस्या-प्रधान या समस्या नाटक में जिस निःसंग विचारशीलता, तर्क-प्रवणता या बौद्धिकता की माग अपेक्षा रहती है, वह इन नाटकों में नहीं। ये नाटक हृदय को लक्ष्य करके लिखे गये हैं, बुद्धि को नहीं। परिष्कृत भावना अथवा संवेदन की भूमि पर भी इनकी प्रतिष्ठा नहीं हो पाई है। वस्तुतः ये प्राय: आवेग और उद्देश्यप्रधान नाटक है जिसका ध्येय सम्भवतः तत्कालीन आर्य-समाज के आन्दोलन को है। इन नाटकों में समष्टिगत बुराइयों का ही चित्रण है और सामान्य रूप से समष्टि पर उनका क्या प्रभाव पड़ रहा है इसी का निरूपण है। पर विशेष रूप से इनका प्रभाव व्यक्ति पर और समाज पर कैसा पड़ रहा है ऐसे निर्देशों का प्राय: अभाव है। फिर भी इन नाटकों में प्राय: रूढ़िजनित अथवा परम्परापोषित दुराग्रह और अभिनिवेश का सर्वथा अभाव है। ये नाटक अपने युग की गहन तमिस्रा को चीर कर जिस निर्भीकता के साथ प्रत्येक प्रकार की छोटी-बड़ी बुराई को घोषित करते हैं, उसे देख-सुन कर चकित रह जाना पड़ता है।

यह तथ्य प्रहसन-धारा के नाटकों के अनुशीलन से और भी प्रकाश में आ जाता है। भीतर भीतर सब रस चूसे कह कर भारतेन्दु ने बता दिया था कि अंगरेज केवल धन ही नहीं 'चूस' रहा अपितु यहाँ की संस्कृति और नैतिकता का हनन करके जातीय जीवन तन-मन को अन्तःसार-शून्य बना रहा है। इस प्रकार उन्होंने सब बुराइयों के मूल विदेशी शासन (मुसलमान और अंगरेज दोनों का) और उसके विविध

१ देखिये—डॉ सोमनाथ का हि. ना सा का इ पृ ७९ ।

आधार-स्तम्भों का सूक्ष्म विवेक अपने समकालीनों को प्रदान किया था। अतएव उनके प्रबुद्ध समकालीनों ने सामाजिक अधोगति के विधायक उपादानों की कपाल-क्रिया अपने प्रहसनों में विधिपूर्वक की। विदेशी शासन ने जनता को निरस्त्र और निष्प्राण कर दिया था सब प्रकार उसकी स्थिति अरक्षित थी। दूसरी ओर इस शासन ने अपने सहायक कुछ ऐसे वर्गों की सृष्टि कर दी थी जिनको निःसहाय जनता की बहू-बेटी तक पर अपना जन्मसिद्ध हक समझने की खुली छूट थी। बूढ़े मुँह मुँहासे के लाला नारायणदास बहुर ऐयाशों में गढ़ ऐसे ही एक वर्ग प्रतिनिधि के रूप में अंकित किये गये हैं जिसका कामकाज तो बस यही है कि दिनभर बैठे बैठे गड़ गड़ सटक गुड़गुड़ाना और साँझ भई कि अटिये पर आके पड़े। विदेशी शासकों के चरण जहाँ मजबूती से जमे उन नगरों का आचरण कितना भ्रष्ट हो गया था इसका घोर यथार्थवादी चित्रण 'कलिकौतुक रूपक' में प्रतापनारायण मिश्र ने किया है। अंगरेजों की आर्थिक शोषण-नीति के साधक उन धर्मध्वज सेठों और महाजनों के चरित्र-चित्र भी इसमें हैं जो मंदिर, धर्मशाला, मदिरालय और वेश्यालय सबके एक साथ सूत्रधार हैं। साथ ही भारतीयता के कट्टर शत्रु उर्दू के प्रेमियों (कलिकौतुक रूपक के दोस्तलाल) और अंगरेजियत के दीवानों (बंगाली बाबुओं) के भी जीवन्त रेखा-चित्र इनमें प्राप्त हैं। सर्वोपरि नई सभ्यता के प्रकाश ग्राहक उन युवकों के चरित्र के भी कलुषित चित्र हैं जिन्होंने भारतीय नारी के जीवन को रौरव बना दिया है। मिस्टराम की मालती ऐसे एक युवक की चर्चा करती हुई विवशता-पूर्ण नारी-जीवन की मूक विडम्बना को नियमित विद्रोह का स्वर प्रदान करती है—

कभी इनसे बातचीत नहीं इस बात का हमें कुछ दुःख नहीं है। जो बदा था सो भया जी से सुखी रहैं, जो भावै सो करैं। हमारे भाग्य में जो सुख बदा होता तो क्या तिरिया का जन्म पाती। नारी के जन्म समान निगोड़ा जन्म किसी का न होगा जिसने पुरुखे में बड़े बड़े पाप कर रखा है, वही स्त्री का जन्म पाती है। पराधीन तिस पर भी अनेक यातना जैसा पिंजरे में बन्द पखेरू हो ऊँची ऊँची दीवालों से घिरा हुआ घर क्या मानों पिंजरा है। सूर्यदेव भी जिसका मुख कभी नहीं देखते

हो, न हवा अंगस्पर्श कर सकती हो वहीं नारी सती कुलवंती पतिव्रताओं में मुखिया समझी जाती है जो बाहर कभी पाँव न रखती हो। लिखने पढ़ने से चरित्र बिगड़ जाता है इस कुसंस्कार के कारण उन्हें पढ़ना लिखना नहीं सिखलाया जाता। आठ ही वर्ष में उन्हें ब्याह देते हैं सो भी बिना देखे भाले बहुधा एक ऐसे के साथ कि जन्म ही नष्ट हो जाता है।'

भारतेन्दु युग के इन लेखकों ने पददलित और प्रपीड़ित हिन्दू नारी को अपने हृदय की सम्पूर्ण सहानुभूति अर्पित की है। इस प्रक्रिया में लेखकों ने लम्पट पुरुषों की भी खूब छीछालेदर की है। शिक्षादान का रसिकलाल, 'विवाहिता विलाप' का मनधीर, 'बूढ़े मुँह मुँहासे' का बूढ़ा लाला, 'बारांगना रहस्य महानाटक' का रावीवलाचन[1] 'वेश्याविलास'[2] का मकरध्वज, 'आनन्दोद्भव'[3] नाटक का संन्यासी, 'वेश्या नाटक'[4] और 'बूढ़ कली' (पं० जगन्नाथ शर्मा) के मधुकर और काय आदि इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन लेखकों ने ऐसी आदर्श पत्नियों का भी चित्रण किया है जिनके सामने बड़े से बड़े लम्पट पुरुष अपने को असमर्थ और असफल पाते हैं। ये आदर्श नारीपात्र गोस्वामीजी की इस उक्ति की याद दिलाते हैं—

'डिगइ न सम्भु सरासन कैसे। कामी बचन सती मन जैसे॥'

ऐसे आदर्श पत्नी-चरित्रों को प्रस्तुत करने वाले नाटकों में हनुमन्तसिंह रघुवंशी का 'सती चरित्र', रघुवीरसिंह वर्मा का 'मनोरंजनी नाटक', दुर्गाप्रसाद मिश्र का 'सरस्वती नाटक' आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रेम और सौन्दर्य की चेतना—

भारतेंदुयुग के लेखकों ने अपनी प्रेम और सौन्दर्य-चेतना की अभिव्यक्ति के लिये जो नाटक लिखे हैं, उनकी शैली उन संस्कृत नाटकों

---

१ लेखक-निर्दिष्ट
२ देवकीनन्दन त्रिपाठी।
३ कृष्णबिहारी मिश्र।
४ मूल लेखक चौधरी नवलसिंह (उर्दू) अनु० ईश्वरीप्रसाद शर्मा।

जैसी है, जिनका अनुवाद पहले हो चुका था। इन अनूदित नाटकों में शकुन्तला और रत्नावली सर्वाधिक लोकप्रिय थे। भारतेन्दु इस दिशा में कोई मौलिक कार्य करने का अवकाश नहीं निकाल पाये थे। चन्द्रावली उन्होंने भक्तितत्व का कलात्मक निरूपण करने के लिये लिखी थी यद्यपि उसमें प्रेमाकुलतावश्य आवेगोंकी भी ऐसी सघनता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। अतएव इस दिशा में उनकी नाटकीय कृतियों में 'कर्पूर मंजरी' और 'विद्यासुंदर' के रूपान्तर का ही उल्लेख किया जा सकता है जिसमें उन्होंने अपनी रुचि और प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है।

प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता तथा मौलिकता के आग्रही इन उत्साही लेखकों को संस्कृत नाटकों में निरूपित प्रेम का आदर्श ही क्यों रुचिकर हुआ? इसका कारण यह है कि संस्कृत नाटकों में प्रायः प्रेम के बड़े स्वस्थ और मुक्त स्वरूप के दर्शन होते हैं। यह प्रेम यदि अलौकिक नहीं तो माता-पिता और समाज उसके विकास और परिपाक के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं करते। प्रेमियों के मार्ग की बाधाएँ या तो दैवी होती हैं अथवा प्रतिद्वंद्वियों की ईर्ष्या से उत्पन्न। इन बाधाओं के अतिक्रमण की अवधि में प्रेमी-युगल का यौवनगत उद्दाम-आवेग संयत हो जाता है, और मिलन की पुण्यवेला में उनका प्रेम भागीरथी गंगा के समान प्रसन्न और धीर-गंभीर होकर प्रकट होता है। प्रेम के इस मुक्त और पवित्र, निर्बाध किंतु संयत स्वरूप की ओर इन लेखकों का झुकाव होना स्वाभाविक था।

पर बाल-विवाह, अनमेल-विवाह और असंख्य विधवाओं के अभिशाप मय जीवन की गर्हित विडंबनाओं से परिपूर्ण समाज में क्या प्रेम के इस उदात्त आदर्श की प्रतिष्ठा संभव थी? प्रेमाख्यानमूलक नाटकों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि नाटककार बड़ी महत्वाकांक्षा के साथ इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं परंतु सामाजिक विकृति और दरबारी काव्य-परंपरा के कुरुचिपूर्ण संस्कारों के कारण अपने प्रयास में बुरी तरह असफल होते हैं। श्रीनिवासदास जैसे इस काल के समर्थ लेखक भी इन्हीं कारणों से तप्तासंवरण नाटक में सफलता नहीं पाते।

तप्तासंवरण की वस्तु और उसका विन्यास दोनों अभिज्ञान शाकुंतल से प्रभावित है। पहले अंक में तप्ता के लता-मंडप का दृश्य है, जिसमें संवरण पहुँचता है। कण्व के आश्रम में शकुंतला के लता-कुंज के निकट पहुँचने पर दुष्यंत को जिस प्रकार शुभ-शकुन हुए थे, वैसे ही संवरण को भी होते हैं। जब तप्ता आती है तो वह भी वृक्षों की ओट मे छिपकर दुष्यंत की तरह उसको देखता और उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करता है। आगे चलकर जब दोनों का प्रेम परिपक्व होकर गांधर्व विवाह मे परिणति प्राप्त करता है तो इस नाटक में भी दुर्वासा-शाप की घटना की आवृत्ति होती है। गौतम ऋषि के आने पर तप्ता के ध्यान में डूबा संवरण उनका यथोचित सत्कार नहीं कर पाता तो वे शाप देते हैं कि वह जिसके ध्यान में है वही उसे भूल जाय। प्रार्थना करने पर इस शाप के निवारण का उपाय भी वे दुर्वासा के समान ही बता देते हैं। परिणामस्वरूप प्रेमी-युगल को दीर्घकाल तक असह्य विरह-बाधा सहनी पड़ती है। अंततः संयोगवश शाप-मोचन की परिस्थिति भी आ जाती है, और दोनों का विधिवत् विवाह हो जाता है।

अभिज्ञान शाकुंतल की अनुकृति का यह प्रयास साधारण शृंगारी रचना बनकर रह गया है। कारण इसमें पौराणिक औदात्य का सर्वथा अभाव है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से संवरण के रूप में हमें एक निरे स्त्रैण व्यक्ति के दर्शन होते हैं और तप्ता तथा उसकी समवयस्क कुमारियों के चरित्र में भी स्त्रियोचित शील और शालीनता की कमी खटकने वाली है। कथोपकथन अत्यंत आलंकारिक है और उनमें प्राचीन चमत्कारिक उक्तियों को गद्य में प्रस्तुत किया गया है।

(१) तप्ता (लजाकर संवरण से)—महाराज आपका कल्याण हो।

संवरण—प्यारी मेरे कल्याण में अब क्या संशय है। एक खंजन के कमलरूप देखने से अमित लाभ होता है। मैंने तो एक कमल पर दो खंजन निहारे, मेरे कल्याण में क्या संदेह है?

करते निकलता है और वन में मार्ग भूलकर प्रेमपुर के दुर्ग के समीप पहुँच जाता है। वहाँ पहुँच कर वह प्रेमपुर की राजकुमारी रति तथा उसकी सहेलियों के गीत से आकृष्ट होता है। दूसरे दृश्य में कुसुमायुध और रति का मिलन होता है, दोनों में पूर्वराग का उदय होता है। प्रथम मिलन की इस बेला में ही कुसुमायुध की सेना भी उसे खोजते हुए वहाँ पहुँच जाती है, दोनों मिलकर तत्काल बिछुड़ जाते हैं। इस दृश्य की योजना पर अभिज्ञान शाकुन्तल तथा रत्नावली दोनों का प्रभाव पड़ा है। इस दृश्य में अस्वाभाविकता और अनौचित्य भी है। राजकुमार के तीनों सखा राजकुमारी की सखियों में से एक-एक को चुन लेते हैं और अविलम्ब उन्हें 'प्यारी' कहने लगते हैं। विदा होते समय सब रोते भी हैं। तीसरे दृश्य में कुसुमायुध के वियोग का वर्णन है। वह वियोग में अतिशय व्यथित और आत्मविस्मृत है, किन्तु जब उसे योधात्मक सिंह का समाचार मिलता है तो वह उसे मारने को उद्यत हो जाता है यह दृश्य-योजना 'शाकुन्तल' के छठे अंक के अनुसार है। चौथे दृश्य में मनोहर माधुरी के द्वारा कुसुमायुध का पत्र विरहसन्तप्ता रति के पास पहुँचाता है। पाँचवें दृश्य में उपवन में रति का पुनर्मिलन तथा गान्धर्व विवाह होता है। रायबहादुर मस्त जी कल्पवृक्ष भारत-आरत' महाराज हरितालिका नाटक आदि अन्य कृतियाँ भी उपलब्ध हैं। उन सब में रोमैंटिक तत्वों की प्रमुखता है किन्तु कुल मिलाकर मस्त जी की प्रेम-सौन्दर्य-चेतना अपने समसामयिक लाला श्रीनिवास दास, अमानसिंह गोटिया किशोरीलाल गोस्वामी आदि की अपेक्षा अधिक परिष्कृत प्रतीत होती है।

अमानसिंह गोटिया के मदन मंजरी नाटक में भी राजकुमार मदनमोहन तथा राजकुमारी मंजरी के प्रेम में बाधक कुमारी के पिता हैं जो दोनों के पत्र-व्यवहार का पता पाकर राजकुमार को पकड़कर बन्दीगृह में डाल देते हैं। 'मयंक-मंजरी' नाटक में भी मयंक के पिता सुमतदेव उसका विवाह रूपगुप्त से करना चाहते हैं। परन्तु मयंक और मौरेन्द्र परस्पर अनुरक्त हैं, इसीलिये सुमंतदेव मयंक मंजरी के सुकुमार

पहुँचाते हैं, और राक्षस का
शरीर में असंख्य यम-यातना सदृश क्लेश
धर्म ' व्यवहार में लाते हैं। रणधीर प्रेममोहिनी नाटक में राजकुमारी
प्रेममोहिनी के पिता सूरत-नरेश ऐसे ही राक्षस धर्मी हैं, जो रणधीरसिंह
में अनन्य अनुरागवती अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ नहीं होने देते।
इसका कारण यह है कि रणधीरसिंह राजकुमार नहीं वरन् एक साधारण
राजपूत है। इस नाटक की विशेषता यह है कि इसमें आर्थिक वैषम्य के
कारण होनेवाले अनमेल विवाहों की समस्या की ओर संकेत किया गया
है और राजाओं व वर्ग की अहोकोपयोगी तथा समाज विरोधी प्रवृत्तियों को
भी प्रकाश में लाया गया है। सूरत के राजा का अभिमान तथा अविवेकी
पिता का दुराग्रह मिलकर अपनी पुत्री का जीवन नष्ट कर देता है। इस
नाटक का अंत दुखद होता है। इस वर्ग के नाटकों से इस प्रकार के
और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें समाज को वेदनाओं और
संघर्षों का स्वर स्पष्ट सुन पड़ता है और जिनमें युग का यथार्थ जीवन
यौवन और प्रेम सबको धूलों से भरता दिखाई देता है। लाला श्री निवास
दास ने तप्तासंवरण के बाद रणधीर प्रेममोहिनी नाटक लिखा। कहा
जाता है कि उनका प्रथम नाटक प्रह्लाद चरित्र और अंतिम संयोगिता
स्वयंवर था किंतु उनके नाटकों में ' रणधीर प्रेममोहिनी ' को जो लोकप्रियता
प्राप्त हुई वह किसी दूसरे नाटक को नहीं। रणधीर प्रेममोहिनी '
अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय हिंदी नाटकों में से एक था इसीलिए
उसके अनुकरण में कई अन्य नाट्यकृतियाँ लिखी गईं जिनमें शालिग्राम
वैश्य का लावण्यवती सुदर्शन ' जवाहरलाल वैद्य का कमलमोहिनी
' भँवरसिंह ', गोपालमुकुंद पाण्डेय कृत मगोत्री नाटक ' आदि उल्लेखनीय
हैं। ये सब नाटक दुखान्त हैं, और शेक्सपियर की दुखान्तकियों की
दृश्य-योजना से प्रभावित हैं इन नाटकों में रंगमंच पर ऐसे अनेक दृश्य
दिखाये गये हैं जो भारतीय परंपरा में वर्जित हैं।

इस वर्ग के कवि-कल्पित लौकिक प्रेमाख्यानमूलक नाटक अनेक हैं और
उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे भक्तिकाल के सूफियों के
प्रेमाख्यानकमूलक काव्यों से कई बातों में समानता रखते हैं। इन प्रेमा

स्वानक काव्यों में भी प्रायः प्रेमियों के मार्ग में माता-पिता की ओर से ही बाधा उपस्थित की जाती है। प्रेमकाव्यों में जिस प्रकार नायक को प्रेमिका की प्राप्ति के लिये असह्य कष्ट सहन पड़ते हैं, उसी प्रकार इन प्रेम-नाटकों में भी नायक ही प्रणय-मार्ग के अधिक कष्ट झेलते हैं। जिस प्रकार प्रेमकाव्यों में पशु-पक्षियों के सहयोग और अतिप्राकृत उपादानों के उपयोग उदाहरण मिलते हैं, उसी प्रकार के एक दो उदाहरण इन नाटकों में भी उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरण के लिए शालग्राम के नाटक माधवानल कामकंदला के एक पूरे गर्भांक में नायक नायिका अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त एक दूसरे को सुनाते हैं। मदन मंजरी' नाटक के अंत में मंजरी अप्सरा बनकर राजकुमार मदनमोहन के प्रेम की परीक्षा लेती है।

ये सब नाटक रसानुगामी हैं, चरित्रानुगामी नहीं। इनमें विविध अवस्थाओं की अवस्थिति, भावों की कल्पना संवादों की योजना और भाषा का रूप-विधान आदि सब-कुछ रस-विशेष की निष्पत्ति की दृष्टि से किया गया है। इस दृष्टि से इनको सफलता भी मिली है, कारण इन नाटकों में प्रायः विविध स्थायी और संचारी भावों एवं अनुभावों की बड़ी सरस अभिव्यक्ति मिलती है तथा विभावों का विधान भी प्रायः अभीष्ट लक्ष्य के अनुकूल दिखाई पड़ता है। परन्तु चरित्र-चित्रण-प्रधान नाटकों की विशेषताओं का अनुसंधान नाटकों व्यर्थ होगा। प्रेममार्ग की एकान्तिकता की ओर झुकाव होते हुए भी इन नाटकों में लोक-पक्ष की अवहेलना नहीं की गई है। 'रणधीर प्रेममोहिनी का रणधीर [illegible] का होते हुए भी प्रजा का प्रतिनिधि बनकर बोलता है। 'रति कुसुमायुध' का कुसुमायुध भी अत्यंत विरह-विह्वलता की अवस्था में भी गो नायक सिंह का समाचार पाकर उसे मारने को उद्यत हो जाता है।

जिस प्रकार सभी वर्गों के नाटकों में हमें प्रतीक-परंपरा की रचनाएँ उपलब्ध होती आई हैं उसी प्रकार इस वर्ग के लेखकों द्वारा भी इस दिशा में किये गये एकाध अधूरे प्रयास का परिचय हमें मिलता है। इस दृष्टि से शरण बहादुर मल्ल का रति कुसुमायुध नाटक विशेष उल्लेखनीय है। इस नाटक में लेखक प्रेमपुर और अनुरागपुर के रति तथा कुसुमायुध

के प्रेम-प्रसंग द्वारा मानवीय प्रेम और अनुराग के मूल में व्याप्त काम संबंधी शाश्वत प्रश्न को उठाने का उपक्रम करता प्रतीत होता है। दोनों के सहचर-सहचरियों के नाम मधुकर, माधुरी कुमोदिनी, नलिनी आदि इस नाटक के वातावरण के रूप में वर्तमान कुसुमाकर-वसंत की ओर संकेत करते हैं, जो रति और कुसुमायुध का अनन्य सहचर है। पर, समस्या के संबंध में लेखक की दृष्टि बहुत अस्पष्ट है, और प्रतीक विधान इतना दुर्बल है कि इस लक्ष्य को लेकर किया गया लेखक का श्रम भी आसानी से लक्षित नहीं होता।

सांगीत

इस युग के लेखकों की प्रेम और सौन्दर्य-चेतना की अभिव्यक्ति ऐसे नाटकों के द्वारा भी हुई जिनको सांगीत कहते हैं। ये सांगीत वास्तव में नौटंकी के रंगमंच और अभिनय परंपरा को दृष्टि में रखकर लिखे गये गीति-रूपक हैं। नौटंकी हमारे गीति-रूपक नाट्य की अति प्राचीन परंपरा है, यह पहले विस्तार से बताया जा चुका है। गीति रूपक या गीतिनाट्य इसी परंपरा का पल्लवित नाटक है। सांगीतों के रूप में इसी शैली के साहित्यिक नाटक भारतेंदुकाल में प्रस्तुत किये गये और इन्हीं सांगीतों से आगे चलकर हमारे गीति-नाट्यों की साहित्यिक धारा चली।

भारतेंदुकाल के लिखित सांगीतों में प्रतापनारायण मिश्र का 'सांगीत शाकुंतल', भुव बैजीनाथ का 'सांगीत गोपीचंदोपाख्यान', अमानत की 'इन्दर सभा' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें अमानत की 'इन्दर सभा' का प्रणयन सबसे पहले सन् १८५३ ई० में हुआ था, जिसे कुछ विद्वानों ने 'प्राच्य रंगमंचीय नाटकों में सबसे पुरातन नाटक' माना है[1], और इसके ऐतिहासिक महत्व के प्रतिपादन में अनेक तर्क दिये हैं। इस प्रकार के कथन अपनी नाट्य-परंपरा की प्राचीनता के संबंध में हिन्दी भाषा-भाषियों में प्रचलित अज्ञान का परिचय तो देते ही हैं, अपनी अस्पष्टता से अनेक प्रकार के भ्रमों की सृष्टि भी करते हैं। नाटक तत्त्व-

१ डॉ सोमनाथ गुप्त का हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ९।

दृश्यकाव्य होने के कारण उनका रंगमंच-सापेक्ष अर्थात् रंगमंचीय है; अरंगमंचीय कृति नाटक स्वीकार नहीं की जा सकती। पुनश्च रंगमंचीय नाटकों की परंपरा भी हिंदी में लीलाओं के रूप में अविच्छिन्न रूप से शताब्दियों से चली आ रही है, जिनका विवरण हम पीछे प्रस्तुत कर चुके हैं। इनके रहते अमानत की इन्दर सभा को प्राप्त रंगमंचीय नाटकों में भी सबसे पुरातन स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राप्य अर्थात् जिनका अभी प्रकाश में आना है उनकी चर्चा का अधिकार किसे है? 'इन्दर सभा' वास्तव में नौटंकी अथवा स्वांग का वाजिदअली शाह की रुचि के अनुकूल संयोजन (Adaptation) मात्र है। इन्दरसभा में ऐसे कोई विशिष्ट गुण नहीं जो नौटंकी की परंपरा में पहले से ही प्राप्त न हों। इसके अतिरिक्त भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से वह ऐसी भ्रष्ट रचना है, कि उसे समकालीन लेखकों ने हिन्दी नाटकों की परंपरा में सम्मिलित करना ही उचित नहीं समझा था। पं० प्रताप नारायण मिश्र ने तो इसीलिए उसी समय उसे चौपट[1] विशेषण से भूषित किया था और अकबर गोरक्षा-न्याय नाटक के लेखक जगतनारायण ने उसे देश का नाश करनेवाला बताया था[2]।

इस युग में नौटंकी का सब से साहित्यिक रूप हमें प्रतापनारायण मिश्र के 'संगीत शाकुन्तल' में मिलता है। इसकी भूमिका में लेखक ने बताया है कि एक ओर तो वह उपालम्भ भी दूर कर देना चाहता है कि हिन्दी में ऐसा कोई नाटक नहीं जिसे सचमुच नौटंकीवाले गा सकें और

१ दे० प्रतापनारायण मिश्र कृत संगीत शाकुन्तल की भूमिका— किसी उर्दू के रसिया ने उसे अमानत की इन्दर सभा' से भी अधिक चौपट किया है हाय!'

२ दे० 'अकबर गोरक्षा—न्याय' नाटक की प्रस्तावना —
सूत्रधार-प्राणप्यारी! मेरा अभिप्राय इन्द्रसभा इत्यादि नाटकों की भांति यह नहीं है कि जैसे इन नाटकों को देखकर हमारा भारत नाश हुआ है वैसे ही उनके तुल्य एक और [illegible] नाटक करूँ परंतु इच्छा यह है कि नाना बनाया तो इन्हीं की भांति हो किन्तु देशोपकारी और धर्मरक्षक हो।'

दूसरी ओर ' कालिदास की कविता ' को ' उन्हीं के वेश में उसके भ्रष्ट और अनुपयुक्त अनुवाद करके जो दुर्दशा की गई है, उसका प्रायश्चित करना चाहता है । लेखक का पहला उद्देश्य तो सिद्ध ही हुआ, और दूसरा भी इस दृष्टि से सफल हुआ कि उसने कालिदास के विश्वप्रसिद्ध नाटक को प्रत्येक अशिक्षित ग्रामवासी के लिए अत्यंत सरस और सुबोध रूप में प्रस्तुत कर दिया । इस दृष्टि से भी प्रतापनारायण मिश्र की कृति का महत्व है कि इसने नौटंकी की अंतर्निहित शक्ति का फिर से उद्घाटन किया भारतेंदु नीलदेवी रचकर इस दिशा में मार्ग-दर्शन कर गये थे ।

इस संगीत में खड़ीबोली अवधी और ब्रजभाषा तीनों का प्रयोग है । उच्चवर्ग के लोग खड़ीबोली का प्रयोग करते हैं मध्यम अथवा निम्नवर्ग के पात्र अवधी बोलते हैं और गीत ब्रजभाषा में है । इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक कथोपकथनों की पद्यबद्ध भाषा को आश्चर्यजनक रीति से प्रतिदिन के व्यवहार की बोली के निकट ले आया है । पाठय की कला में अभ्यस्त अभिनेता के मुँह से वह गद्य ही प्रतीत होगा । इसके दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) राजा—न जाने क्या व्यर्थ बक रहे हो !
अरे कोई मुनि वह बताते कि जिसस ऋषि भी प्रसन्न
होते जगत में ' हम पुण्य कीर्ति पाते । तपस्वियों पर तो
हम ' जो तन मन भी वार दें ' तो महा उचित है । अभी
उन्हीं के प्रसाद से तो हमारा होता सदैव हित है ।

(२) प्रतीहारी–मैं जीती रहूँ, ' वै फिरि गई घर ।—
जो दौरयनि यह ' मोरे हाथे मां चिट्ठी ।
तौ अपना फिरि न आई नाम ऐसो ।

प्रतिहारी की यह उक्ति हिंदी में अतुकांत काव्य का प्राय: सब से पुराना उदाहरण है । महाकवि निरालाजी ने नाटकीय कथोपकथनों में मुक्तछंद के प्रयोग की आवश्यकता अनुभव की थी[१] । प्रताप नारायण

१ परिमल की भूमिका ।

मिश्र के इस प्रकार के प्रयोग उसके पूर्वरूप माने जा सकते हैं। इनके संगीत में शकुन्तला द्वारा गवाये गये एक-आध गीत¹ असभ्य रूप से भरे भी हैं, जो विश्वमानस में प्रतिष्ठित शकुन्तला की अशेष सौन्दर्य-मंडित गरिमा को असभ्यता के साथ आघात पहुँचाते हैं।

रूपान्तर और अनुवाद

भारतेन्दु ने अनुवादों और रूपान्तरों का जो आदर्श स्थापित किया था उसके पालन में भी इस युग के कुछ लेखकों ने सफलता प्राप्त की। अनुवाद संस्कृत, बंगला और अंगरेजी तीनों के नाटकों के हुए। संस्कृत के नाटकों में कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष की कृतियों के अतिरिक्त 'वेणीसंहार' और 'मृच्छकटिक' के भी अनुवाद हुए। किसी किसी नाटक के तो कई कई अनुवाद प्रस्तुत किये गए। निःसंदेह, इनमें से कुछ अनुवाद अत्यंत भ्रष्ट हुए, जिनको देखकर प्रतापनारायण मिश्र को 'सांगीत शाकुन्तल' की भूमिका में खेद प्रकट करना पड़ा था। अनुवादों में उल्लेखनीय सफलता बालमुकुंद गुप्त की 'रत्नावली' लाला सीताराम के 'मालविकाग्निमित्र' और अंबिकादत्त व्यास के 'वेणीसंहार' को प्राप्त हुई।

हेमचंद्र और भारतेन्दु जी के परिश्रम ने हिन्दी और बंगला के आदान-प्रदान का मार्ग साफ किया था।² भारतेन्दु ने विद्यासुन्दर का अनुवाद प्रस्तुत करके हिन्दी के लेखकों को बंगला साहित्य की ओर उन्मुख किया था। अतएव उनके युग के कुछ लेखकों ने बंगला-अनुवाद का कार्य भी आगे बढ़ाया। इन अनुवादकों में बाबू रामकृष्ण वर्मा का कार्य उल्लेखनीय है। इनके अनुवादों में 'वीर नारी', 'पद्मावती', और 'कृष्णकुमारी' काफी सफल हैं। इस युग में बंगाल के महाकवि माइकेल मधुसूदन दत्त के नाटक हिन्दी में विशेष लोकप्रिय हुए और उनके 'पद्मावती' 'शर्मिष्ठा', 'कृष्णकुमारी' और 'एई कि बोले सभ्यता' के अनुवाद भी प्रस्तुत किये गये।

---

१ "पैयां परों मैं तिहारी राजा मोरा बँगरा छाँड़िना"।

२ देखिए-प्रसाद के काव्यकला तथा अन्य निबंध पृ० ८६।

अँगरेजी के नाटकों के अनुवाद का कार्य भी इस युग में चलता रहा। अनुवाद के लिये प्रायः शेक्सपियर के नाटक ही चुने गये। भारतेन्दु जी ने शेक्सपियर के नाटकों में 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' के प्रति विशेष अनुराग प्रदर्शित किया इसलिए संभवतः उनके युग के लेखकों ने इसके कई अनुवाद कर डाले।[1] इसके अतिरिक्त शेक्सपियर के 'कमेडी ऑफ एरर्स' 'ऐज यू लाइक इट', 'रोमियो जूलियट,' 'मैकबेथ' और 'किंगलियर' आदि के भी अनुवाद हुए, जिनमें पुरोहित गोपीनाथ द्वारा 'ऐज यू लाइक इट' और 'रोमियो जूलियट' के 'मनभावन' और 'प्रेमलीला' के नाम से किये गये अनुवादों में मूल की कुछ न कुछ सरसता भी है।

इस युग के रूपान्तरित नाटकों में केशवराम भट्ट के 'सज्जाद संबुल' और 'शमशाद सौसन' उल्लेखनीय हैं। इनका रूपान्तर बंगला के 'शरत्-सरोजिनी', तथा 'सुरेन्द्र विनोदिनी' के आधार पर किया गया था। मूल कृतियों के प्रमुख हिन्दू पात्र इसमें मुसलमानों के रूप में हमारे सामने आते हैं इसलिए नाटक की भाषा उर्दू ही रखी गई है, हिन्दीपन इसमें थोड़ा ही है। परिस्थितियों की योजना और पात्रों की परिकल्पना में भी इनमें मूल से पर्याप्त पार्थक्य है। मूल कृतियों के हिन्दू पात्रों को मुसलमान बना देने का ठीक कारण समझ में नहीं आता। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है[2]—"इन दोनों नाटकों की विशेषता यह है कि ये वर्तमान जीवन को लेकर लिखे गये हैं। इनमें हिन्दू मुसलमान अंगरेज लुटेरे, जमींदार मुकदमेबाज, मारपीट करनेवाले तथा हुक्म करनेवाले इत्यादि अनेक प्रकार के पात्र आये हैं'। क्या नाटकों की इस भयंकर दुःखपूर्ण घटनावली को मुसलमान पात्रों में केन्द्रित करना ही लेखक ने उपयुक्त समझा? निश्चयपूर्वक इस संबंध में कुछ कह सकना कठिन ही है। संभव है हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतिपादन के लिए लेखक ने मुसलमान नायक-नायिका की योजना की हो। 'सज्जाद-संबुल' का सज्जाद

१ दयालसिंह ठाकुर कृत 'वेनिस का सौदागर', आर्या का 'वेनिस नगर का व्यापारी' आदि।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ४७७।

एक ऐसा ही मुसलमान नायक है, जो मानता है कि सिर्फ जिहालत हठधर्मी और तअस्सुब की वजह से हम लोग इस बुरी हालत को पहुँच गये हैं।[1]

विविध सामाजिक प्रसंग

नाटक लिखने का उत्साह भारतेन्दु-युग के लेखकों में इतना था कि उनमें से कुछ ने तो अपने समय की साधारण से साधारण घटना के नाटकीकरण में भी अपनी शक्ति लगाई। इसका एक उदाहरण इटावा के किन्हीं बलदेवप्रसाद का लिखा 'रामलीला विजय' नाटक है जिसमें सन् १८८६-८७ के लगभग विजयादशमी और मुहर्रम के साथ साथ पड़ने पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे की जो परिस्थिति उत्पन्न हुई थी, उसका नाटकीय विवरण है। मुसलमानों के दुराग्रह से डरकर कलक्टर फिशर ने हिन्दुओं को रामलीला का अपना पुरातन मार्ग बदल देने की आज्ञा दी थी। अंत में संगठित रूप से हिन्दुओं के द्वारा न्याय की माँग करने पर यह आज्ञा रद हुई, राम का विमान पुराने मार्ग से निकला तथा लेखक को 'रामलीला विजय' का मसाला मिला।

इसी शैली के कुछ नाटक उन परिस्थितियों को लेकर निर्मित हुए, जो उर्दू को कचहरियों और दफ्तरों की भाषा स्वीकार करने से उत्पन्न हुई थीं। ऐसी अनेक कृतियों में बलिया के पं० रविदत्तशुक्ल का 'देवाक्षर चरित' एक बड़ा सरस और गंभीर प्रहसन है, जिसमें फारसी अक्षरों के दुर्गुणों से दैनिक व्यवहार में उत्पन्न कठिनाइयों का विवरण है। मेरठ के प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी पं० गौरीदत्त का 'नागरी' नाटक भी इसी श्रेणी में गिना जा सकता है। आर्यसमाज और सनातनधर्म के आपसी झगड़ों को लेकर भी 'दयानन्द पराजय' जैसे एकाध भद्दे नाटक लिख डाले गये।

कथा-वस्तु

आलोच्य युग के नाटककार भारतेन्दु के दिखाये हुए मार्ग पर चले थे इसलिए उनकी दृष्टि अपने युग के प्रेक्षक और रंगमंच दोनों पर

---

१ 'बग्यार संगुल' नाटक, प्रस्तावना अंश।

सदैव रही। परिणामस्वरूप इनके नाटकों में प्रायः अनभिनेयता का दोष नहीं आने पाया और रसवत्ता के गुणों का बाहुल्य रहा जिसके द्वारा प्रेक्षक आकर्षित तथा गुणधर्म में दीक्षित हुए। अपने प्रेक्षकों को अधिकाधिक वैविध्यपूर्ण मनोरंजन प्रदान करने के लिये इन लेखकों ने वस्तु-प्रयोग के अनेक प्रकार के कौशलों का उपयोग करते हुए रूपक और उपरूपक के कई भेदों की अवतारणा की। पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग तथा सांस्कृतिक आध्यात्मिक एवं धार्मिक विषयों को लेकर नाटक और नाटिकाएँ लिखी गईं। रात-रात भर नाटक देखनेवाले दर्शकों की रुचि को दृष्टि में रखकर, जिनकी संख्या आज भी हमारे समाज में कम नहीं, 'रणधीर प्रेममोहिनी' 'संगीत शाकुन्तल' और 'माधवानल-कामकन्दला' जैसे बड़े-बड़े नाटक और 'मयंक मंजरी' जैसे महानाटक भी लिखे गए। महाभारत धर्म के प्रसंगों को लेकर एक ओर जहाँ 'प्रद्युम्न-विजय' तथा 'बारिदनाद-वध' जैसे एकांकी व्यायोग लिखे गये, वहाँ भक्ति, त्याग बलिदान और बालविवाह सामाजिक प्रसंगों को लेकर भी छोटे छोटे नाटक लिखे गये, जिन्हें क्रिया-कलाप की दृष्टि से एकांकी कहना ही उपयुक्त होगा। हमारे यहाँ वस्तुदृष्टिकोण वीथी, नाट्यरासक, काव्य प्रेंखण रासक श्रीगदित और हल्लीश आदि अनेक प्रकार के सरस एकांकी लिखे जाते रहे हैं। परन्तु उल्लिखित एकांकियों से में किसी पर इन वर्गों में से किसी एक के लक्षण पूरे पूरे लागू नहीं होते। हास्य-प्रसिद्ध एकांकियों में भानप्रसाद लिखित 'हास्यार्णव' जैसे भाण और अनेक प्रकारके प्रहसन अवश्य प्राप्त होते हैं। 'रति कुसुमायुध', 'माधवानल-कामकन्दला' और 'रणधीर-प्रेममोहिनी' को वर्ग के प्रेमाख्यानक-नाटक प्रकरण कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनका वृत्त कवि-कल्पित और लौकिक है तथा शृंगार अंगी रस है। कमी केवल इतनी ही है कि इनके नायक प्रायः धीरप्रशान्त विप्र, अमात्य अथवा वणिक न होकर धीरोदात्त या धीरललित राजा किंवा राजकुमार हैं।

इस काल के बहुत से नाटकों में प्रस्तावना मिलती है, जिनमें प्रायः तत्कालीन देश, धर्म अथवा समाज की दशा का वर्णन और नाटक के

उद्देश्य का कथन रहता है । प्रतापनारायण मिश्र के संगीत शाकुन्तल जैसे कुछ नाटकों की प्रस्तावना में सूत्रधार ने कवि का तथा उसके वंश का परिचय भी दिया है । अन्य अनेक नाटकों में प्रस्तावना नहीं है इसका कारण अंगरेजी नाटकों का प्रभाव माना जाता है । वैसे हमारे यहाँ भी प्रेक्षण और रासक आदि असूत्रधार नाटक लिखे और खेले जाते रहे हैं । पता नहीं भारतेंदु युग के असूत्रधार नाटककारों की दृष्टि इस ओर थी अथवा अंगरेजी नाटकों की ओर ।

इसी प्रसंग में यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि इन लेखकों ने अपने युग के प्रेक्षक को दृष्टि में रखकर जहाँ अपने नाटकों में अभिनेयता आदि पहले बताये हुए, अनेक गुणों का समावेश किया वहाँ वे प्रेक्षकवर्ग की बौद्धिक और सांस्कृतिक स्थिति से प्रभावित होने से भी अपने को न बचा सके । इस समय देश में निरक्षरता का साम्राज्य था अतएव नाटकों के प्रेक्षक वर्ग का अशिक्षित होना स्वाभाविक था । फलतः भारतेन्दु काल के लेखक को अपने नाटकों द्वारा ऐसे प्रेक्षकों को युग धर्म का संदेश सुनाना पड़ रहा था जिनमें समीक्षा-बुद्धि का सर्वथा अभाव था और उँगलियों पर गिने जाने योग्य जो थोड़े बहुत पढ़े-लिखे लोग विशेषतः नगरों में थे उनमें भी आलोचनात्मक-वैदग्ध्य का विकास नहीं हो पाया था । भरत और धनंजय के इस देश में इस समय घोर अविद्या के कारण नाट्य-चिन्तन शून्य-बिन्दु तक पहुँचा हुआ था । भारतेन्दु ने 'नाटक' नामक निबन्ध लिखकर नाट्य-चिन्ता का मार्ग तो खोला था पर उस पर चलनेवाले अन्य जन आगे नहीं आ रहे थे । इस परिस्थिति में उस समय का नाटककार यदि अपार विविधता और मनोरंजकता के साथ युगजागृति का संदेश सफलतापूर्वक सुना रहा था तो फिर उससे कला-पक्ष की ओर विशेष ध्यान देने की माँग करनेवाला कोई नहीं हुआ था ।

इसका परिणाम यह हुआ कि इस युग का नाटक-साहित्य जनता को युगधर्मोन्मुख बनाकर प्रगति के पथ पर प्रेरित करने का ऐसा शक्तिशाली साधन बना जैसा सम्भवतः किसी दूसरी भाषा का कम ही हो पाया होगा । परंतु साथ ही साथ उसमें यह कमी भी रह गई

कि उसका कला-पक्ष प्रायः उपेक्षित रहा अतएव वह पेरिमतिरमणीयता से मंडित न किया जा सका। इसीलिए जब हम भारतेन्दु युग के नाटक के वस्तु-विन्यास पर दृष्टि डालते हैं, तो उसमें विविधता के साथ साथ विषमता भी पाते हैं। उसके फलस्वरूप एक ओर जहाँ हमें सुगठित और सुयोजित कथा वस्तु वाले नाटक मिलते हैं तो दूसरी ओर ऐसे भी अनेक मिलते हैं जिनकी वस्तु-योजना शिथिल और विशृंखल है। सुगठित और सुयोजित कथावस्तु-युक्त नाटकों का प्रणयन करनेवालों में राधाचरण गोस्वामी अग्रगण्य हैं। उनके नाटकों में कार्य-व्यापार का जैसा संकलन और समन्वय मिलता है वैसा आज भी बहुतेरे नाटकों में नहीं दिखाई देता। वे अपने नाटकों में प्रायः प्रासंगिक कथा की सृष्टि किये बिना तीर की तरह सीधे लक्ष्य पर पहुँचते हैं। उनके 'अमरसिंह राठौर', चन्द्रावली मौसामा' आदि नाटक तथा अन्य प्रहसन इसके प्रमाण हैं।

बड़े बड़े नाटकों के लिखनेवालों में सबसे व्यवस्थित वस्तु-योजना का विधान करने वाले राधाकृष्णदास हैं। उनका नाटक महाराणा प्रताप' अनेक दृष्टियों से इस युग की अन्यतम रचना है। यह सात अंकों का नाटक है जिसमें गुलाबसिंह और मालती की लंबी प्रासंगिक कथा-पताका है। ऐसे भी कुछ प्रसंग आ गये हैं जिन्हें प्रकरी के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। इसका कथानक उत्तरोत्तर अधिकाधिक गतिशील होता जाता है। निस्संदेह इसमें कतिपय अतिनाटकीय तत्वों की भी योजना है, जो अतिनाटकीयता की प्रेमी उस युग की जनता की रुचि का प्रतिबिम्ब है। शेक्सपियर को भी अपने दर्शकों की रुचि को दृष्टि में रखकर अपने नाटकों में अतिनाटकीय तत्वों (Melodramatic) की योजना करनी पड़ी थी। इस नाटक की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि इसमें न्याय सभा की तरह चरित्र-चित्रण में सीधा-सीधी नहीं की गई है। जो जैसा था वह उसी प्रकार का चित्रित हुआ है। सात अंकों का यह बृहत्काय नाटक कहीं शिथिल अथवा नीरस नहीं होने पाया है। अपनी रचना के प्रायः तीन दशाब्द तक यह हिन्दी रंगमंच का सबसे लोकप्रिय और सफल नाटक रहा है। आज भी यह थोड़े से हेरफेर और परिष्कार के साथ रंगमंच पर बड़ी सफलता से अभिनीत हो सकता है।

इस युग के जिन अन्य नाटककारों को अपनी कुछ कृतियों में वस्तु योजना में अपेक्षाकृत अच्छी सफलता मिली है, उनमें श्रीनिवासदास और प्रतापनारायण मिश्र प्रमुख हैं। इस युग के नाटककारों के वस्तु-विन्यास में जो एक सामान्य गुण दिखाई देता है, वह यह है कि उसमें अधिकतर जटिलता कहीं नहीं आने पाती भले ही अतिनाटकीय तत्वों की अति के कारण वह शिथिल और असंबद्ध हो जाय। लाला खड्गबहादुर मल्ल और किशोरीलाल गोस्वामी के नाटकों के कथानक अतिनाटकीयता के कारण ही शिथिल हो गये हैं। दूसरा सामान्य गुण जो इनमें उपलब्ध होता है, वह यह है कि श्रेष्ठ नाटककार अपने सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश से कुछ मार्मिक छवियों और अनुभूतियों को चुनकर इस खूबी से वस्तु के अंतर्गत सजा देते हैं कि हम रोने अथवा हँसने को बाध्य हो जाते हैं। तीसरा सामान्य गुण इन लेखकों में यह उपलब्ध होता है कि ये रामलीला, रासलीला और नौटंकी आदि की सभी प्राचीन परम्पराओं को दृष्टि में रखकर रचना कर रहे थे और इस प्रकार यहाँ की नाट्यधर्मी और लोकधर्मी दोनों ही परम्पराओं को मिलाकर सच्चे अर्थ में राष्ट्रीय नाटकों की नींव डाल रहे थे। परंतु साथ ही एक दोष भी सामान्य रूप से इन नाटकों में मिलता है जिसकी ओर पहले भी हम संकेत कर आये हैं। वह यह है कि अतीत का सुसमीक्षित बोध न होने के कारण ये नाटककार पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में देश-काल की सम्यक् अवतारणा नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप प्रायः ऐतिहासिक असंगति आदि दोषों के भागी होते हैं[1]।

नेता –

इन नाटकों में दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य एवं उत्तम मध्यम तथा अधम सभी स्थितियों और श्रेणियों के पात्रों का समावेश किया गया है। पुरुष-पात्रों में जहाँ एक ओर हमें उदात्त उद्धत ललित और शान्त सब प्रकार के चरित्र मिलते हैं, तो दूसरी ओर स्त्री-पात्रों में भी हमें स्वकीया परकीया और गणिका सभी प्रकार के शीलवाली नायिकाएँ

१ देखिए—'हम्मीर की रानी और रणधीर प्रेममोहिनी आदि।

मिल जाती है। हमारे सामाजिक परिवेश के प्रत्येक स्तर और प्रत्येक विभाग का कोई न कोई प्रतिनिधि इन नाटकों में कहीं न कहीं अवश्य उपस्थित है। ऊपर से विशेषता यह कि प्रायः वह थोड़े से थोड़े वाक्यों अथवा कम से कम कार्य-व्यापार द्वारा अपने चरित्र और उसकी पूरी सामाजिक पृष्ठभूमि पर सर्चलाइट का सा तीव्र प्रकाश फेंकता है। चरित्र चित्रण की इस कला में भारतेन्दु-काल के कुछ लेखक बेजोड़ हैं। उदात्त चरित्रों के चित्रण में तो इस देश के लेखक सदा से सिद्धहस्त हैं यह उनकी अपनी कला है जिसे दूसरों को उनसे सीखना है। अतएव श्रेष्ठ पात्रों के शील-निरूपण में इस युग के कुछ लेखकों ने प्रशंसनीय सफलता पायी है। राधाकृष्णदास के प्रताप गुलाबसिंह, मालती और पद्मिनी गोस्वामी राधाचरण के अमरसिंह श्रीदामा चंद्रावली और, श्रीनिवासदास के रणधीर आदि भुलाये नहीं जा सकते, वे हिन्दी नाटक साहित्य की विभूति हैं। इनके, विपरीत असुरत्व अथवा असुर-वर्ग के खल-पात्र हैं, जिनके चित्रण में यूरोपीय नाटककारों की सिद्धहस्तता की बड़ी धूम है। शेक्सपियर तथा फ्रान्स के मोलियर आदि अनेक नाटककार इस कला में अद्वितीय माने जाते हैं। पर हमारे प्रताप-नारायण, मिश्र इस कला में भी किसीसे पीछे नहीं रहे हैं। कलिकौतुक रूपक में परकीया श्यामा, कुटना, चम्पा सेठ किशोरीदास, सामान्या कलकरीनाम गुंडा लट्ठासिंह और पतित वणिक-पुत्र पदमसिंह आदि का असाधारण रूप से सजीव चरित्र-चित्रण करके मिश्रजी ने स्वयं कलियुग महाराज को अपना मुख देखकर प्रसन्न होने के लिए दर्पण प्रस्तुत कर दिया है।

इन लेखकों के पास सब प्रकार के चरित्रों को सजीव बनाने का प्रमुख साधन कथोपकथन है। इन कथोपकथनों में वक्ता के शील का सत्य और अंतस् का तत्व निचोड़ कर भर देना इस युग के श्रेष्ठ लेखकों की कला की सामान्य विशेषता है। आवेग अनुराग, मान मनुहार, मुग्धता (भोलापन), लोभ और घृणा आदि सब प्रकार के भावों अनुरूप भाषा लिखने में ये लेखक दक्ष हैं। ये लेखक जहाँ संस्कृत के कवियों की शैली पर आलंकारिकतापूर्ण कथोपकथन लिखते हैं, वहाँ

भी भाषा को अत्यंत सरल और सरस बनाकर अलंकारों को प्रतिदिन के व्यवहार की बोली का अनिवार्य-सा अंग बना देते हैं—

(१) "संवरण—हे मित्र उसने मेरा विश्वास नहीं किया तथापि मेरा मन उसी में लगा रहता है। बाहर पवन के झोंके से उसकी कटि लचकती है, पान की पीक उसके कंठ में झलकती है। जब उसके ओष्ठ की ललाई से मुझे मोती में विद्रुम का संदेह पड़ गया तब उसने मुस्करा के मेरा संदेह हर लिया। अब वही मुस्कान मेरे मन को हरण करती है।"

(२) "हे प्रिया मुझे अकेला देख वन के पशु-पक्षी भी मेरी हँसी करते हैं। हे पिकबयनी मृग के नयन पञ्च की चाल कुंद की कली अनार के दाने कमल का विकास देख मेरे मन को बड़ा दुख होता है, तू जल्दी आकर इनका अहंकार हर।"

—(श्रीनिवासदास कृत तप्ता संवरण नाटक)

मेरा तात्पर्य यह है कि कथोपकथनों में इस युग के प्रतिनिधि लेखक चित्त के स्थायी क्षोभ और भावावेश को इस कौशल और चारुता से व्यक्त करते हैं कि उनके नाटक कम से कम काव्यगुण से कभी हीन नहीं होते। इसके अतिरिक्त ये लेखक पात्रों की सामाजिक स्थिति और प्रादेशिक विशेषताओं को प्रकाश में लाने के लिए भारतीय नाट्यशास्त्र की परंपरा के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर विविध विभाषाओं और बोलियों से भी काम लेते हैं जिनके उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। इन लेखकों की भाषा में व्यंजना, व्यंजकता, शक्ति और मार्मिकता आदि सद्गुण हैं, कमी है तो केवल यह कि इनकी दृष्टि अभी अच्छी तरह से व्याकरण के नियमों पर नहीं गयी है।

रस

इस युग के लेखकों के मुख्य रस करुण और हास्य हैं। इसके सामाजिक कारणों की विवेचना हम अन्यत्र कर चुके हैं। वीर और

शृंगार रस की रचनाएँ यद्यपि संख्या में कम नहीं परन्तु वे भी देशकाल के प्रति करुण परिवेश से आवृत हैं। प्रत्येक नाटक के मर्म में—वह किसी भी रस का हो—राष्ट्र की अजाबमयी वेदना छिपी हुई है, जो हमें बारंबार आँख खोल कर अपने दुखी देश की हृदयमानिनी जनता की ओर देखने को प्रेरित करती है।

विदेशी प्रभाव

अंगरेजी के अनेक नाटकों के अनुवाद इस युग में हो गये थे और पारसी रंगमंच के माध्यम से विदेशी रंगमंचों के आचरण की संस्कृति भी धीरे धीरे प्रसार पा रही थी। इसलिए हिन्दी नाटकों पर भी परकीय प्रभाव पड़ना प्रारंभ हो गया। प्रस्तावना और भरतवाक्य को तो धीरे धीरे त्यागपत्र मिलना प्रारंभ हो गया था, और उनके स्थान पर एक-दो नाटकों में नाट्यशास्त्र में वर्जित ऐसे दृश्यों का समावेश भी प्रारंभ हो चुका था जो सदैव हमारी संस्कृति के परिपंथी समझे जाते रहे हैं। उदाहरणस्वरूप किशोरीलाल गोस्वामी ने 'मयंक मंजरी' महानाटक में मयंक और मंजरी को रंगमंच पर चुम्बन और आलिंगन की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान कर के हिन्दी नाटक को भारतीय नाट्यशास्त्र की सांस्कृतिक मर्यादाओं से मुक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। प्रसन्नता की बात है कि इस प्रकार विदेशी प्रभाव आत्मसात करने का उत्साह इस युग के अन्य श्रेष्ठ नाटककारों में नहीं उमड़ा। उन्होंने विदेशी नाटकों के गुण ही ग्रहण करने का प्रयत्न किया। ऐसे लेखकों में लाला श्रीनिवास दास का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इस युग के नाटकों में दुःखान्तकी का प्रवेश भी विदेशी प्रभाव माना जाता है।

दुःखान्तकी की भावना

इस प्रसंग में एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है, क्या भारतेन्दु युग में हिन्दी में दुःखान्तकी का उदय अंगरेजी के प्रभाव के कारण हुआ? इस प्रश्न का ठीक उत्तर प्राप्त करने के लिये हमें भारतेन्दु-युग के कुछ दुःखान्त नाटकों की परिस्थिति पर विचार करना चाहिए। इसके लिये

हम तीन नाटक चुनते हैं, पहला भारतेन्दु का 'नीलदेवी' दूसरा राधाकृष्णदास का 'दुखिनी बाला' और तीसरा श्रीनिवासदास का 'रणधीर प्रेममोहिनी'। ये तीनों ही रचनाएँ दुखान्त हैं, पर तीनों दुखान्तकी की परिस्थितियों से सर्वथा अलग अलग हैं।

इस विवेचन में प्रविष्ट होने के पूर्व हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि भारतेन्दु के युग तक अँगरेजी से प्रायः शेक्सपियर के नाटकों का ही अनुवाद हिन्दी में हो पाया था। अतएव शेक्सपियर अथवा उसके पूर्व के नाटककारों के दुखान्तकी के आदर्श का ही हिन्दी में लोकप्रिय होना अधिक सम्भव था। शेक्सपियर की दुखान्तकी का मुख्य लक्षण यह है कि उसमें नायक को दुर्दाम्य से ऐसी भाग्यशाली शक्तियों का सामना करना पड़ता है, जिन पर उसका कोई वश नहीं होता[1]। साथ ही उसके नायक श्रेष्ठ पद के और असाधारण श्रेणी के व्यक्ति होते हैं, जिनके स्वभाव में एकांगिता का ऐसा दोष होता है जो ठीक समय पर उनको या तो अकर्मण्य बना देता है अथवा असमय में कोई अनोचित काम करवा डालता है। शेक्सपियर के पूर्व अरस्तू का दुखान्तकी का आदर्श यूरोप में सर्वाधिक मान्य था। उसने भी नायक का श्रेष्ठ होना आवश्यक माना है किन्तु वह न तो परम पुण्यवान होता है और न अपराधशील ही। उसके जीवन की परिणति किसी मानवीय दुर्बलता या वासना के कारण दुखमय होती है, यद्यपि वह स्वेच्छा से अपराध के पथ पर पैर नहीं रखता[2]।

---

१ देखिए—ए. निकोल कृत 'थियरी आफ ड्रामा' पृ० १७२—

It is this almost fatal confronting of the hero with forces beyond his strength that marks the tragedy of shakespeare, '

२ देखिए—वही पृ० १४७—

'The tragic hero for him is' a person neither eminently virtuous nor yet involved in crime by deliberate vice or villainy but by some reason of human frailty "

ध्यान से देखने से ये कोई भी लक्षण भारतेन्दुकालीन दुखान्तकी पर लागू होते नहीं दिखाई देते। 'नीलदेवी' में नायिका नीलदेवी असाधारण श्रेणी की तो है, पर स्वभाव की एकांगिता अथवा किसी अन्य मानवीय दुर्बलता के कारण उसका अन्त दुखद नहीं होता। अपनी असाधारण सफलता के क्षणों में जब वह कौशल्या और कुन्ती आदि राजमाताओं की तरह अपने पुत्र की पथप्रदर्शिका बन कर जीवित रह सकती थी, वह दिवंगत पति की स्मृति में सती हो जाती है। अतएव यह दुखान्तकी शेक्सपियर की दुखान्तकियों के किसी वर्ग में परिगणित नहीं की जा सकती। शेक्सपियर के हैमलट, ओथेलो किंग लियर, मैकबेथ और ब्रूटस आदि सब नायक अपनी इच्छा के विरुद्ध काल के ग्रास बनते हैं, क्योंकि भीतरी और बाहरी सब परिस्थितियां उनके प्रतिकूल हैं और वे अपनी विफलता से भयभीत हैं। इसके विपरीत जब सब दृष्टियों से सभी परिस्थितियां नीलदेवी के अनुकूल हैं और सफलता चरणों पर लोट रही है तब वह स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करती है। जहां शेक्सपियर की दुखान्तकियों से करुण और त्रास की उत्पत्ति होती है और उनका नायक हमारी सहानुभूति का पात्र बनता है, वहां नीलदेवी-का चितारोहण उसके प्रति हमारी श्रद्धा उत्पन्न करता है और त्रास के स्थान पर उत्साह और उल्लास के भावों को जगाता है। इसलिए 'नीलदेवी' दुखान्तकी होते हुए भी शुद्ध भारतीय परम्परा में है, जिसे हम कर्तव्य या बलिदान दुखान्तकी कह सकते हैं। बिहार के रसरत्न ब्रोता 'नीलदेवी' को दुखान्त नहीं मानते। उनका कहना है—"दुखान्त तो तब होता जब धर्म के ऊपर अधर्म की विजय होती या रानी नीलदेवी की पराजय प्राप्त हो जाती। रानी नीलदेवी का ध्येय पूरा होता है। देश स्वतंत्र रह जाता है, पति का हत्याकारी परलोकगामी बनता है और रानी का पुत्र सिंहासनासीन होता है। एक आर्य-ललना को और क्या चाहिए? पति युद्धभूमि में अधर्मियों का संहार करते हुए वीरगति पाता है और पुत्र उसके राज्य को सम्हाल लेता है। रानी स्वर्ग से पति का पुनरागमन कराने में असमर्थ थी अतएव उनसे मिलने को प्रस्थान करती है। इसमें दुख किसको और क्यों हो? प्रेक्षक रानी को चिताारूढ़ नहीं देखते। हां, रानी अन्त में यह कहते

हुए अवश्य सुनी जाती है, " मेरी यही इच्छा थी कि मैं इस चांडाल का अपने हाथ से वध करूँ ...सो इच्छा पूर्ण हुई । अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी ।'

तात्पर्य यह कि इस नाटक को दुःखान्त मानने के विरुद्ध डॉ. ओझा की दो प्रमुख आपत्तियाँ हैं—एक कथावस्तु-विषयक और दूसरी तात्विक । कथावस्तु को लेकर यह आपत्ति कि " दुःखान्त तो तब होता जब धर्म के ऊपर अधर्म की विजय होती " मान्य नहीं हो सकती । कारण मध्यकालीन भारत की सभी क्षत्रियों का जीवन ऐसा ही रहा है । स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करनेवाली इन क्षत्रियों का अन्त अधर्म पर धर्म की विजय तो अवश्य है पर उनकी बलिदान-गाथा लोक-मानस को 'चिरकाल तक करुणा में निमज्जित रखने का अमोघ साधन भी है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । अवश्य यह करुण पाश्चात्यों के आदर्श-करुण से अधिक उदात्त है और यही भारतेन्दु को अभीष्ट भी था । दर्शक रानी को चितारूढ़ नहीं देखते यह तात्विक आपत्ति भी अधिक व्यावहारिक नहीं । रानी के मुख से सती होने का संकल्प सुनकर सहृदय प्रेक्षक उसका कल्पनात्मक तादात्म्य तो कर ही लेते हैं । मेरा मत है कि भारतेन्दु भारतीय नाट्यशास्त्र की मर्यादाओं को स्वीकार करते हुए अपनी परंपरा के अनुकूल दुःखान्त नाटक का ठाठ खड़ा कर रहे थे । यह उनका पहला प्रयत्न अवश्य है पर कार्य की असाधारणता और दुरूहता को देखते हुए उनकी सफलता छोटी नहीं है।

वर्तिनी बाला पर भी अधिकांश पाश्चात्य दुःखान्तकों के लक्षण संगत नहीं बैठते । इसकी नायिका सरला जूलियट और क्लियोपैट्रा आदि की तरह न किसी राजवंश की है और न असाधारण गुण की । उसमें कोई मानवीय दुर्बलता या कामना भी ऐसी नहीं जिसके कारण उसे विष खाने को बाध्य होना पड़ा हो । नियति ने अपितु बालविवाह ने समाज और उसकी रूढ़ियों ने उसे विवश बना दिया है इसलिए उसी समाज के दुराचारी उसके द्वारा ठुकराकर अपनी दूषित वासना चरितार्थ करना चाहते हैं । अन्त तक निरवलंबतापूर्ण दशा में वह अपनी मर्यादा की

के लिए विष लाकर प्राण दे देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस नाटक का लेखक दुखान्तकी की सृष्टि के लिए शेक्सपियर की तरह उच्चवर्ग के सम्राट्-साम्राज्ञी, वीरों और सेनापतियों एवं उनकी प्रेमिकाओं को नहीं चुनता अपितु जन-साधारण के जीवन को उसका आधार बनाकर वर्गगत उच्चता की भावना को धक्का देता है। सामाजिक रूढ़ियों के दारुण निपीड़न-यंत्र में पिसते हुए साधारण से साधारण मानव की महत्ता का प्रभावशाली प्रतिपादन करते हुए यह उच्चता की हमारी परम्परागत भावना को सदा के लिये झकझोर देता है। राधाकृष्णदास की 'दुःखिनी बाला' जैसी रचनाओं ने जिस दुखान्तकी का बीजारोपण किया वही आगे चलकर 'गोदान' के होरी में पूर्ण विकसित रूप में दिखाई पड़ी। इन रचनाओं में दुखान्तकी का जो आदर्श जन्म ले रहा था, उसी का प्रतिपादन इसी समय के आसपास के बेलजियम में मारिस मैटरलिंक कर रहा था।

रणधीर प्रेममोहिनी को दुखान्तकी भी 'रोमियो जूलियट' के समान शुद्ध नियति-कृत (Pure tragedy of fortune) नहीं। हम पहले ही बतला चुके हैं कि उसमें प्रेमी और प्रेमिका के मार्ग में सामाजिक स्थिति का वैषम्य बाधक है क्योंकि सूरत-नरेश रणधीर को एक साधारण राजपूत समझ उसके साथ अपनी राजकुमारी का विवाह करने को प्रस्तुत नहीं होते। अतएव यहाँ भी नायक और विशेषतः नायिका 'दुःखिनी बाला' की सरला की तरह, विपथगामी सामाजिक शक्ति के विरुद्ध अपने को निरवलंब पाकर काल-कवलित होने को बाध्य होती है। ये दोनों कृतियाँ सामाजिक दुखान्तकी कही जा सकती हैं। भारतेन्दुयुग के अन्य दुखान्त नाटक भी इन्हीं दोनों वर्गों में से किसी एक के अन्तर्गत हैं, अर्थात् या तो वे कर्तव्य-दुखान्तकी हैं जैसे 'अमरसिंह राठौर' और 'चन्द्रावली' आदि अथवा सामाजिक दुखान्तकी हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी की दुखान्तकी का उदय स्वतंत्र रूप में शुद्ध सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना की भूमि पर हुआ। शेक्सपियर की दुखान्तकी की तरह भय करुणा और त्रास के

रूप में इस युग की कुत्सात्मकी की प्रतिक्रिया नहीं होती, उसकी प्रतिक्रिया कर्तव्य के प्रति सात्विक उल्लास और कल्याणप्रेरित समाज-सेवा के उत्साह के रूप में होती है।

हास्य और व्यंग्य

भारतेन्दु की प्रतिभा का वैभव करुणा और विनोद के दो रूपों में विशेष प्रतिभात हुआ था। उनके समकालीनों में से प्रायः प्रत्येक ने हास्य और विनोद के सृजन की प्रतिभा का प्रमाण दिया। इसी को लक्ष्य करके आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है[1]— हरिश्चंद्र तथा उनके सम सामयिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीवता या ज़िन्दादिली। सब में हास्य या विनोद की मात्रा थोड़ी बहुत पाई जाती है।......शिक्षित समाज में संचारित भावों को भारतेन्दु के सहयोगियों ने बड़े अनुरंजनकारी रूप में ग्रहण किया। इस काल के हास्य की प्रेरक चेतना का स्वरूप हम पहले ही निरूपित कर चुके हैं। इन जिन्दादिल लेखकों ने अनेक प्रकार के जिन स्रोतों से हास्य की अवतारणा की उन्हीं का संक्षिप्त निर्देश इस प्रसंग में शेष है।

इस युग में जो हास्य हमें प्राप्त होता है, उसको कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) अंगज और वेशज हास्य, (२) चरित्रजन्य हास्य (३) परिस्थितिजन्य हास्य (४) आचरणजन्य हास्य (५) वाणी जन्य हास्य ? (वाणी मर्म)। वेशज हास्य प्रायः विदूषक प्रधान होता है। इस काल के बहुत थोड़े नाटकों में विदूषक का उपयोग किया गया है, परन्तु इस वर्ग के हास्य की अवतारणा अन्य अवसरों पर हुई है। भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' को आधा क्रिस्तानी और आधा मुसलमानी वेष धारण कर इसी कोटि का हास्य उत्पन्न करना चाहा है।

चरित्रजन्य हास्य का सब से सुन्दर उदाहरण 'बूढ़े मुँह मुँहासे' के लाला नारायणदास प्रस्तुत करते हैं जो राम का नाम ले लेकर तेली की

1 देखिये—आचार्य शुक्ल का—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ ४५२।

लड़की को वश में करने की प्रतिज्ञा करते हैं और सोचते हैं कि जब वह हाथ चढ़ जावेगी तो फिर बाद को भगवान से भी निपट लेंगे। धार्मिक ऊँचे दरजे के हैं, इसलिए एक पुराने मंदिर को संकेतस्थल बनाते हैं। ऊपर से तुर्रा यह कि एक इत्र की शीशी भी वहाँ ले जाते हैं, जिसका प्रयोग प्रेयसी के मुख की प्याज की गन्ध का निवारण करने के लिए करना चाहते हैं।

परिस्थितिजन्य हास्य के उदाहरण 'कलिकौतुकरूपक' में अनेक मिलते हैं। श्यामा का उपपति रसिक बिहारी उसके गले में हाथ डाल कर उसको वहूँ के समयोपयुक्त रसीले शेर कहना सिखा रहा है। उसी समय उसका पति किशोरीदास आ जाता है जिसे स्वयं वेश्या के यहाँ जाने की जल्दी है। इधर श्यामा अपने उपपति को छिपा देती है और उधर पति महाशय धार्मिकता का ढोंग रचकर कथा सुनने के बहाने वेश्या के घर की ओर प्रस्थान करते हैं। पत्नी कुछ समय के लिए इस वियोग की चर्चा से बाहर से बहुत दुखी होती है, पर पतिदेव के टल जाने से रसिक बिहारी के साथ एकान्त का उपयोग करती है। इस प्रकार के हास्य के इससे भी और यथार्थवादी अन्य उदाहरण 'कलिकौतुकरूपक' में उपलब्ध हैं।

व्यवहार अथवा आचरणजन्य हास्य का एक उत्तम उदाहरण 'सज्जाद सम्बुल' नाटक का वैज्ञानिक हेमचन्द्र प्रस्तुत करता है। वह मूर्ख नहीं है, बड़ा भारी विद्वान् है। पर उसको डार्विन के विकास वाद की ऐसी सनक सवार है कि वह प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु को उसी के चश्मे से देखता है। सज्जाद से उसका पुराना परिचय है पर एक अनुसन्धान के सिलसिले में जब वह समुद्र की खुदाई करा रहा है तो उसकी भेंट सहसा सज्जाद से हो जाती है, जिसको कुछ डाकुओं ने वहाँ कैद कर रखा था। उसे देखते ही उसके भीतर का डार्विन जाग उठता है—

वा' यूब बोलते पारे देखचाँ ग्रोम क्या मानुष हाय ! ना। एकटा आपटा प्रमाणे किछु विरसाघ उचित नोय। युक्ति शास्त्र नियम विरुद्ध।

हाम या मसुवेर पैये एकटा लम्बा बोले बोव होब्बे । तोमको घुम है कि नहीं देखे । तोम घूम जाओ तो हाम तुमरा घुम देखने को माँगता है ।

वाणी-जन्य हास्य नाटक में कथोपकथन का अंगभूत होता है, इसलिए इसका महत्व बहुत अधिक है। इसका सबसे निकृष्ट साधन विकृत भाषा का प्रयोग और सबसे उत्कृष्ट रूप वाग्वैदग्ध्य है। इन दोनों कोटियों के बीच में भी इस वर्ग के हास्य के अन्य प्रकार और स्तर हैं। भारतेन्दु युग के नाटककारों ने इसमें विकृत भाषा से लगा कर वाग्वैदग्ध्य तक वाणी जन्य हास्य के विविध रूपों का सफल प्रयोग किया है, जिसके कुछ उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। भारतेन्दु जी की हास्य-सृष्टि की कला का उल्लेख करते हुए हमने उनकी जिन विशेषताओं की ओर संकेत किया है, वे इस युग के अन्य लेखकों में भी सहज उपलब्ध हैं।

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भारतेन्दु में हमें नर्म के अनेक प्रकार के प्रयोगों के चमत्कार दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार उनके युग के लेखकों में भी उसका अभाव नहीं। विशेषतः प्रेमाख्यानक नाटकों में हमें इसके अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्रेमाख्यानक नाटककारों में श्रीनिवासदास और खड्गबहादुर मल्ल आदि दो चार लेखक कैशिकी वृत्ति और नर्म के प्रयोग में विशेष कुशल हैं।

अन्त में यह भी कह देना आवश्यक है कि भारतेन्दु-युग में हास्य-रस का प्रवाह धीरे धीरे उद्दाम होकर बाद में वर्षा की बाढ़ तरह बह चला। परिणामस्वरूप इसमें कुछ कूड़े-कचरे का होना स्वाभाविक था। पर उससे इस युग के हास्य और व्यंग्य में जो श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण है, वह निकृष्ट और निर्महत्व नहीं बन जाता। मेरी दृष्टि इस युग के उत्कर्ष की चूड़ा पर निबद्ध है, उसकी उपत्यकाओं पर नहीं। खेद है, कुछ विद्वानों ने भारतेन्दु-युग के हास्य और व्यंग्य के उदात्त पक्ष की उपेक्षा ही की है[1]।

१ देखिये—डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'।

द्विवेदी-युग

अथवा

उत्तर भारतेन्दु-युग

द्विवेदी–युग

(उत्तर भारतेन्दु-युग)

नामकरण की समस्या

भारतेन्दु के बाद हिन्दी भाषा और साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ उसके प्रमुख प्रेरणा केन्द्र पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इसीलिए साधारणतया यह युग द्विवेदी–युग के नाम से अभिहित किया जाता है। इस दूसरे उत्थान में काव्य, उपन्यास कहानी, निबन्ध समालोचना आदि साहित्यांगों की उत्तरोत्तर वृद्धि तो होती रही पर नाटक की प्रगति अवरुद्ध होती हुई दिखाई पड़ी। भारतेन्दु युग के लेखकों का जो अभूतपूर्व उत्साह बहुसंख्यक नाटकों के प्रणयन का कारण बना था वह इस युग में आकर मंद पड़ गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि 'भारतेन्दु के पीछे नाटको की ओर प्रवृत्ति कम हो गई। नाम लेने योग्य अच्छे मौलिक नाटक बहुत दिनों तक न दिखाई पड़े। अनुवादों की परंपरा अलबत्ता चलती रही।'[1] वस्तुतः भारतेन्दु जी का समय हिन्दी नाटकों का स्वर्णयुग कहा जा सकता है, और उनके बाद ही नाटकों के क्षेत्र में जो ह्रासोन्मुखता दिखाई पड़ी थी उससे उस समय के विद्वानों और लेखकों को मार्मिक कष्ट हुआ था। 'चौपट चपेट' नामक प्रहसन में उपलब्ध किशोरीलाल गोस्वामी कथन इसका प्रमाण है—

'हिन्दी के अभाग्यवश जब से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी परलोक सिधारे हैं, तब से साहित्य की बड़ी दुर्दशा हो रही है। गद्य की तो जो हुई है सो हुई है, पर पद्य की दशा ऐसी भयानक हो रही है कि देखते ही शरीर कांप उठता है। बहुत से मूर्खाधिराज 'कविता का श्राद्ध करने पर उतारू भये हैं, अस्तु और नाटक-विद्या को तो कदाचित् बाबू साहब अपने संग ही ले गये हों। उनके पीछे दो-एक रूपक कि जिनसे घंटा भर भी मनै छोड़के और आज तक कोई नाटक नहीं बने जिससे हिन्दी भाषा की पुष्टि होय यह अभाग्य नहीं तो क्या?

---

1 आ रा च शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४९३।

इसी प्रकार रामकृष्ण वर्मा ने भी अपने 'कृष्णकुमारी' नाटक में भारतेन्दु के पीछे नाटकों की हीन अवस्था पर खेद-प्रकाश किया है—

> जब से श्रीयुत भारतभूषण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने और विख्यात विद्वद्शिरोमणि लाला श्रीनिवासदासजी ने इस नाट्यधर्म को छोड़कर स्वर्ग को भूषित किया तब से अभागिनी हिन्दी में कोई भी नाटक उपन्यास अथवा कोई अपूर्व मनोहर ग्रंथ देखने में न आया। नाटकों की जैसी कुछ दुर्दशा इन दिनों है वह केवल वे ही लोग जान सकते हैं जो नाटक के गुण-दोष और लक्षणों से अभिज्ञ हैं। इन दिनों यह परिपाटी पड़ गई है कि दो तीन पुरुषों की बातचीत अथवा रंगभूमि पर व्यर्थ ही हाथ पैर हिलाने ही को लोग नाटक, कह देते हैं। स्वर्गवासी बाबू हरिश्चन्द्रजी ने इन दोषों को दूर करने और लोगों को नाटक के लक्षण और काम समझाने के लिये 'नाटक' नामक एक उत्तम ग्रंथ लिखा था परन्तु आलसी लोग उसे कब देखते हैं ... '।

भारतेन्दु-युग की तुलना में द्विवेदी-युग के प्रारंभ में नाटकों के प्रति लेखकों का जो उपेक्षा-भाव दिखाई पड़ा उसी का यह परिणाम है कि हिन्दी-नाट्य-साहित्य के इतिहास अथवा विकास पर लिखनेवाले प्राय सभी लेखकों ने उसको निर्महत्त्व समझ कर उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार की है। बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है कि "भारतेन्दु जी तथा उनके मण्डल के अस्त होने पर हिन्दी-साहित्य-प्रेमियों ने नाटकों की ओर अपनी कृपादृष्टि एकदम कुछ दिन के लिये बन्द कर ली।"[1] इसीलिए संभवतः उन्होंने अपने हिन्दी-नाट्य साहित्य में भारतेन्दु-काल के नाटकों का स्वतंत्र रूप से विवरण देने के बाद वर्तमानकाल का विवेचन प्रारम्भ कर दिया है और नाटकों की दृष्टि से द्विवेदी युग का स्वतंत्र अस्तित्व और महत्व स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार डॉ० सोमनाथ गुप्त ने भी 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ में १९०५ ई० से १९१५ ई० तक के समय को जो पूर्ण रूप से द्विवेदी जी का ही युग है सन्धिकाल की संज्ञा प्रदान की है। आश्चर्य है पुरुषोत्तम जी ने भी

१ ब्रजरत्नदास कृत हिन्दी-नाट्य साहित्य पृ १२१ द्वितीय संस्करण।

इसी प्रकार सौंधिकाल कह कर द्विवेदी युग की उपेक्षा की है[1]। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ॰ दशरथ ओझा जैसे अन्य लेखकों में भी नाटकों के उत्कर्ष की दृष्टि से द्विवेदी युग के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा पाई जाती है। पर हिन्दी-नाटक-साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग के प्रति इस प्रकार के दुर्लक्ष्य या उपेक्षा-भाव को प्रश्रय देना समीचीन नहीं है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतेन्दु-युग में जितने नाटक लिखे गये संभवतः उसके आधे भी द्विवेदी-युग में नहीं लिखे गये। यह भी सत्य है कि युग-धर्म और अपने युग की सभी समस्याओं को नाटकीयता प्रदान करने का जो अदम्य उत्साह भारतेन्दु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन हमें द्विवेदी-युग के लेखकों में नहीं होते। हिन्दी नाटक और रंगमंच के उत्थान और निर्माण के लिए भारतेन्दु जो न ऐतिहासिक महत्व का जैसा कार्य किया वैसा द्विवेदी जी नहीं कर सके। फिर भी द्विवेदीजी ने नाटक की नितान्त उपेक्षा की ऐसा नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' नामक एक पुस्तिका इस विषय के संस्कृत अंगरेजी, मराठी और हिन्दी के उस समय के सब उपलब्ध ग्रंथ पढ़कर लिखी है। इस पुस्तिका को पढ़कर यह प्रकट होता है कि आचार्य द्विवेदीजी को अपने समय के नाटकों को देखकर बड़ा दुःख हुआ था[2], और वे अभीष्ट दिशा में उनका अधिक से अधिक उत्कर्ष-साधन करना चाहते थे। पर नाट्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान से विहीन जो अनधिकारी लेखक अपनी लेखनी की कालिख नाटक-साहित्य के मुख पर पोतने लगे थे उनकी अवश्य उन्होंने बड़े कड़े शब्दों में भर्त्सना की है—

'नाटक लिखने की प्रणाली का जिन्हें अभ्यास भी ज्ञात नहीं उन्होंने भी हिन्दी में नाटक लिखने की कृपा की है। ऐसे लोगों को समझना

---

१ गुलाबरायकृत 'काव्य के रूप' पृष्ठ ८१।

२ देखिये—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत 'नाट्यशास्त्र' का उपसंहार—'अभाग्यवश हिन्दी में दो चार को छोड़ कर कोई अच्छे रूपक ही नहीं। नाटक लिखना लोगों ने खेल समझ रखा है।'

चाहिए कि इस प्रकार ऊटपटांग लिख कर उसे प्रकाशित करने से हिन्दी की ही नहीं स्वयं उनकी भी हानि है। नाटक लिखना सबका काम नहीं इसके लिये उपयुक्त विद्या-बुद्धि के अतिरिक्त लोक-व्यवहार और मनुष्य-प्रकृति का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए।'[1]

इसी प्रकार उन्होंने उन लेखकों को भी कड़ी फटकार बताई है, जो पारसी कम्पनियों के लिये अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी के ऐसे नाटक लिख रहे थे जिनसे सदाचार की मर्यादा का हनन हो रहा था—

नाट्यकला का फल उपदेश देना है। इसके द्वारा मनोरंजन भी होता है और उपदेश भी मिलता है। चाहे जैसा नाटक हो और चाहे उसे जिसने बनाया हो, उससे कोई न कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो नाटककार का प्रयत्न व्यर्थ है अभिनेता का परिश्रम व्यर्थ है और दर्शकों का नेत्र-व्यापार भी व्यर्थ है। जो लोग इन्द्र सभा और गुलबकावली आदि खेल जो पारसी थियेटर वाले आजकल प्रायः खेलते हैं, देखने जाते हैं उन्हें अपना हानि-लाभ सोच कर वहाँ पधारना चाहिए।[2]

इन अवतरणों से यह सिद्ध है कि आचार्य द्विवेदी हिन्दी नाटक की गति-विधि को बहुत ध्यान से देखते रहते थे कम से कम वे उस ओर से असावधान तो कदापि नहीं थे। उनके द्वारा हिन्दीभाषी जनता के मध्य दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुष्ठान के परिणामस्वरूप जिस साहित्यिक आदर्शवाद का जन्म हुआ था उसने नाटक-साहित्य की प्रगति पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। अवश्य इस साहित्यिक आदर्शवाद से अनुप्राणित ऐसा कोई महान् व्यक्तित्व नाटक के क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ा जैसा आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त का और उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द जी का था। द्विवेदी जी का रोषपूर्ण भृकुटि-भंग देख कर अनधिकारी और व्यवसायी दोनों

---

१ देखिए—वही पृष्ठ ५७।

२ देखिए—वही पृष्ठ ५७।

ही प्रकार के नाटक-लेखकों के दिल दहल गये थे और उनके आतंक के कारण उनके समय के नाटकों की वेगवती धारा मंद पड़ गई थी और क्षीण भी। किन्तु मन्द और क्षीण होकर इस धारा में जो निर्मलता आई, वह हिन्दी नाटक के इतिहास की निर्मूल्य घटना नहीं है। अतएव भारतेन्दु युग की परिसमाप्ति के बाद हिन्दी नाटक की विकास-दिशा में जो परिवर्तन लक्षित होता है, उसका सम्पूर्ण श्रेय आचार्य द्विवेदी जी को प्राप्त होना चाहिए। द्विवेदी जी का प्रभाव हिन्दी नाटक-साहित्य पर कई रूपों में प्रतिफलित प्रतीत होता है। एक तो जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आचार्य जी के आतंक के कारण अनधिकारी लेखक हिम्मत हार बैठे जिसके परिणामस्वरूप उस कूड़े कचरे की बाढ़ रुक गई जो नाटक साहित्य के नाम पर हिन्दी के कलेवर को मलिन बना रहा था। दूसरी बात यह हुई कि अपनी उल्लिखित नाट्यशास्त्र नामक पुस्तिका में आचार्य द्विवेदी ने जो निर्देश दिये[1] उनके प्रकाश में लेखकों ने अपनी प्रतिभा और योग्यता को ठीक ठीक पहचाना। इसका परिणाम यह हुआ कि मौलिक नाटक-रचना की सहज क्षमता रखनेवाले कुछ इने-गिने व्यक्ति ही पूरी तैयारी के साथ इस क्षेत्र में टिके रह पाये। अन्य लोग जिनको हिन्दी नाटक साहित्य को समृद्ध करने की सच्ची लगन थी संस्कृत बंगला अंगरेजी आदि भाषाओं की श्रेष्ठ नाटकीय कृतियों के सफल अनुवाद करने में दत्तचित्त हुए। इसीलिए आलोच्यकालमें उत्तम अनूदित नाटकों की बहुत अच्छी संख्या हमें उपलब्ध होती है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि, पारसी थियेटर के नाम से प्रसिद्ध विशुद्ध व्यवसायी रंगमंच पर हिन्दी और हिन्दूपन दोनों का थोड़ा-बहुत प्रवेश हुआ। द्विवेदी जी ने अपने युग के लेखक और प्रेक्षक को पारसी थियेटर वाले अभिनयों के सम्बन्ध में जो चेतावनी दी,[2] उसका अभीष्ट प्रभाव हुआ। इसी समय पारसी रंगमंच पर राधेश्याम कथावाचक जैसे लेखकों को स्थान मिला जिनकी रचनाओं में हिन्दीपन के साथ साथ भारतीय आचार की मर्यादा का निर्वाह भी दिखाई पड़ता है।

---

१ देखिए आचार्य द्विवेदी कृत-नाट्यशास्त्र का उपसंहार।

२ देखिए-वही।

इस प्रकार हम आचार्य द्विवेदी जी के साहित्यिक आदर्शवाद और नीतिवाद से व्यवसायी रंगमंच को भी थोड़ा-बहुत प्रभावित पाते ही हैं। वैसी उल्लेखनीय बात यह है कि द्विवेदी जी के समकालीनों के अधिकांश मौलिक नाटक उनके साहित्यिक-व्यक्तित्व की मुद्रा धारण करते हैं। इन सब नाटकों में हमें द्विवेदी जी द्वारा अनुमोदित "नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा व्यावहारिक बुद्धिवाद का ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष व्याख्यान सुनाई पड़ता है। परन्तु नाटक मनुष्य की मुख्य विविध शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं का अनुकरण है[1]। इसलिए इतने कठोर प्रतिबन्धों के बीच उसके सहज विकास का रुक जाना भी स्वाभाविक ही है। यही कारण है, द्विवेदी-युग के मौलिक नाटक सजीवता, सरसता और कलात्मक परिपाक की दृष्टि से भारतेन्दु-युग के नाटकों से आगे नहीं जाते। अवश्य उनकी भाषा कुछ अधिक परिष्कृत और परिमार्जित है जो द्विवेदी-काल की सर्वप्रमुख विशेषता है। सम्भवतः इसी कारण से अनेक अव्यवसायी नाटक-मण्डलियाँ जो भारतेन्दु-युग के उन्मुक्त वातावरण में प्रादुर्भूत हो चली थीं, द्विवेदी-युग के घोर नीतिवादी तथा बुद्धिवादी वातावरण में साँस न ले सकीं और कुछ समय बाद काल-कवलित हो गईं। पं० माधवजी शुक्ल जैसे उत्साही नाटक-लेखकों और श्रेष्ठ अभिनेताओं ने भी लखनऊ, जौनपुर और कलकत्ते आदि में जाकर नाटक-मण्डलियों की स्थापना के जो प्रयत्न किए, वे भी असफल हो गये। इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए हम आचार्य द्विवेदी जी के प्रभाव को हिन्दी नाटक के लिए वाधामयी तो नहीं मानेंगे फिर भी समष्टि रूप से उनके व्यक्तित्व की सीमाओं में हम उसको चारों ओर से मर्यादित अवश्य पाते हैं। पर आचार्य के आदर्शनिष्ठ व्यक्तित्व की सीमाओं से मर्यादित होकर हिन्दी नाटक की हानि ही हानि हुई, ऐसा समझना बहुत भारी भ्रम होगा। अपने कठोर साहित्यिक अनुशासन में आचार्य ने हिन्दी नाटक को संयम का जो पाठ पढ़ाया, उसी से वह प्रसादकालीन अभ्युत्थान के उपयुक्त शक्ति संचित कर सका। तात्पर्य यह कि द्विवेदीजी के

---

१ " अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् ' – दशरूपक।

प्रभाव की हिन्दी नाटक के लिए परिणाम में हम घुमावह ही पाते हैं और इसलिए इस आलोच्य अवधि को यदि कोई द्विवेदी-युग कहे तो हम उसे अनुपयुक्त नहीं समझते।

परन्तु आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इस द्वितीय उत्थान-काल में, जिसे काव्यरचना आदि के क्षेत्र में द्विवेदी-युग कहा जाता है, मौलिक नाटकों की रचना की अपेक्षा अनुवाद का कार्य बहुत अधिक हुआ। इसीलिए कतिपय विद्वान् से 'अनुवाद-काल' कहना अधिक संगत समझते हैं। भारतेन्दु के जीवनकाल में हमें जैसा उत्साह मौलिक नाटकों के प्रणयन में दिखाई पड़ता है वैसा ही उत्साह अब नाटकों के अनुवाद कार्य में लक्षित होता है। ये अनुवाद विभिन्न भाषाओं से किये गये पर इनमें बंगला के अनूदित नाटकों की संख्या संभवतः सब से अधिक है और संस्कृत अंगरेजी मराठी गुजराती आदि का स्थान क्रमशः उसके बाद आता है। द्विवेदीजी ने स्वयं विभिन्न भाषाओं से अनेक ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद किया था और इस कार्य को वे निरंतर प्रोत्साहित भी करते रहते थे। अतएव उस युग के लेखकों में अनुवाद-कार्य के प्रति विशेष उत्साह होना स्वाभाविक ही था।

इस युग के मौलिक नाटक पूर्ववर्ती पीढ़ी के नाटकों की अपेक्षा संख्या में बहुत कम तो हैं ही भाषा-परिष्कार को छोड़कर अभिनेयता आदि नाटक के अन्य अन्तर्वर्ती प्यावर्तक गुणों में भी हीन हैं। भारतेन्दु-युग के नाटकों में जीवन के यथार्थ के अभिव्यंजन और अनुकरण का जो अदम्य उत्साह परिलक्षित होता है, वह भी इनमें नहीं है। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के नाटकों में व्यंग्य और परिहास की भी जो सहज वेगवती कल्लोलिनी प्रवहमान है, उसका स्रोत भी अब कुछ सूखता-सा प्रतीत होता है। इन सब दृष्टियों से हम इसे भारतेन्दु-युग के नाटक का ह्रासकाल कह सकते हैं।

किन्तु इस युग में मौलिक नाटकों की सर्जना का प्रयास भले ही मंद पड़ गया हो पर हिन्दी रंगमंच की स्थापना और हिन्दी नाटकों के अभिनय की कलापूर्ण परंपरा के प्रवर्तन का जैसा संगठित प्रयास इस युग में हुआ वैसा

उसके बाद आज तक नहीं हो पाया है। भारतेन्दु के आदर्श से अनुप्राणित अनेक साहित्यकारों और साहित्यप्रेमियों ने स्थान स्थान पर नाटक मंडलियों की स्थापना कर हिन्दी नाटक और रंगमंच के अभ्युत्थान का जो संगठित प्रयत्न किया वह हिन्दी नाटक-साहित्य के इतिहास का सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य अत्यन्त गौरवशाली अध्याय है। खेद है, वह अब तक विस्मृत है। जिस समय यह प्रयत्न किया गया उस समय व्यावसायिक पारसी रंगमंच का साम्राज्य था उसकी होड़ में बिना किसी सहयोग सहायता या समर्थन के यह महाप्राण आन्दोलन असफल अवश्य हो गया पर आने वाली पीढ़ियों के लिये एक महान् आदर्श छोड़ गया। मुझे इस बात पर आश्चर्य है कि आचार्य द्विवेदी जी का आशीर्वाद भी इन प्रयत्नों को नहीं प्राप्त हुआ। कम से कम उसका कोई उल्लेख या प्रमाण नहीं मिलता। मैं आगे इन प्रयासों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करूँगा। भारतेन्दु युग की नाट्य चेतना के इस शक्तिमत्तापूर्ण प्रसार को देख कर इस युग को मैं *भारतेन्दु-युग का उत्तरार्द्ध कहना ही अधिक उपयुक्त समझता हूँ।*

पीठिका

आलोच्यकाल प्रारंभ होने के पूर्व राष्ट्र के जीवन में ऐसी कई महत्वपूर्ण घटनायें घटित हो चुकी थीं जिनका हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। एक तो राष्ट्र की शिक्षा-व्यवस्था में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया था जिसके परिणामस्वरूप देश की सांस्कृतिक भाषा संस्कृत और विविध देशी भाषाओं को पूर्णरूप से अपदस्थ कर उनके स्थान पर अंग्रेजी को प्रतिष्ठित कर दिया गया था। अंग्रेजी के द्वारा अंग्रेजियत का व्यापक प्रचार करके देश की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना को निःशेष कर देने की मैकाले की व्यापक योजना अब पूर्ण रूप में व्यवहृत हो चुकी थी। सन् १८५४ ई० में सर चार्ल्स वुड ने अपनी आयोजना में 'हाईस्कूल तक की प्रारंभिक शिक्षा का माध्यम देसी भाषाएँ और उच्चशिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखने की सम्मति प्रकट की। परन्तु सरकार ने अपने हित-साधन के लिए इन बातों को कार्यक्रम में परिणत नहीं किया और न उनको उसका प्रोत्साहन ही दिया। अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम बनी

रही।' अंगरेजी के माध्यम से उच्च शिक्षा देने के लिए कलकत्ता बम्बई और मद्रास आदि में विश्वविद्यालयों की भी स्थापना हुई। पर, 'अंगरेजी भाषा को माध्यम बनाने से भारतीय साहित्य और जीवन का बड़ा अहित हुआ। भाषाओं की उन्नति रुक गई और देश की क्रियात्मक शक्ति का बड़ा ह्रास हो गया। अंगरेजी शिक्षा पानेवालों पर पाश्चात्य शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ा। परन्तु उससे उनकी मौलिकता और मानसिक शक्ति का विकास न हुआ। विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर जो कुठाराघात हुआ वह शायद संसार के किसी अन्य देश में न हुआ होगा। तात्पर्य यह कि भारतवर्ष में जो शिक्षा-प्रणाली इस समय प्रचलित की गई थी वह यहाँ की जनता के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थी। 'यह देशीय आवश्यकताओं के प्रतिकूल एवं जातीय मनोवृत्तियों के प्रति उदासीन थी। उसका आधार पूर्ण रूप से अंगरेजी था।'[1] भारतेन्दु ने अंगरेजी-शिक्षा के दुष्परिणामों का अनुमान लगा लिया था इसलिए समय समय पर उन्होंने जनता का ध्यान अपनी सहज मनोहारी शैली द्वारा इस दिशा में आकृष्ट किया है। उनकी यह मुकरी बहुत प्रसिद्ध है—

सब गुरुजन को बुरो बतावै अपनी खिचड़ी आप पकावै।
भीतर तत्व न, झूठी तेजी क्यों सखि सज्जन नहिं अंगरेजी॥

द्विवेदी युग तक पहुँचते पहुँचते इस शिक्षा-व्यवस्था के परिणाम चारों ओर अच्छी तरह प्रकट होने लगे थे। इसीलिए सन् १९०२ में जो यूनिवर्सिटी कमीशन नियुक्त हुआ और उसके परिणामस्वरूप सन् १९०४ में जो 'यूनिवर्सिटीज् ऐक्ट' पास हुआ इन दोनों का ही भारतीय जनता द्वारा घोर विरोध किया गया।

परन्तु प्रबल भारतीय संस्कारों की प्रेरणा से अंगरेजी शिक्षा प्राप्त कुछ ऐसे व्यक्ति भी कालान्तर में निकल आये जिनमें अपने देश की हीनावस्था के प्रति असंतोष का उदय हुआ। उन्होंने अंगरेजी शासन की कुनीति और अत्याचार के यथार्थ स्वरूप को समझा इसलिए वे इस स्थिति के प्रतिरोध के

१ डॉ. ईश्वरीप्रसाद कृत 'आधुनिक भारत' पृष्ठ २७१।

लिए कृतसंकल्प हुए। ऐसे ही लोगों द्वारा इस देश में राजनीतिक संघर्ष का बीजारोपण हुआ। राष्ट्रीय आत्मसम्मान का यह उन्मेष राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा उसके परिणामस्वरूप सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में भी असाधारण प्रगति हुई। अब चारों ओर सुधार की माँग होने लगी। समाज-सुधारक राजाराममोहन राय ने ब्रह्म समाजकी स्थापना की। इस समाज ने हिन्दुओं के पारस्परिक भेदभाव को दूर करने के लिए मूर्तिपूजा और जातिभेद का विरोध किया। उधर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ में आर्य समाज की स्थापना की। इस समाज ने वेद-वर्णित उच्च भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार का प्रशंसनीय प्रयास किया। इसके प्रचारकार्य से भारतीयों को अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति गौरव-भाव और अपने अतीत के प्रति श्रद्धाभाव उत्पन्न हुए। इन सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं ने भारतीयता को संबल प्रदान किया और राष्ट्रीयता की उन्नति में योग दिया। आर्यों ने समझा लिया कि हमारी सामाजिक एवं धार्मिक अवनति का मुख्य कारण हमारी राजनीतिक परतन्त्रता है[१]।

इन्हीं दिनों प्लेग और दुर्भिक्ष के देशव्यापी भीषण प्रकोप के कारण चारों ओर त्राहि त्राहि मची हुई थी। मरी और भुखमरी के इस विनाशक दृश्यों को देख कर भारतेन्दु-काल के लेखकों की चेतना किस प्रकार आन्दोलित हुई थी इसका विवरण यथास्थान दिया जा चुका है। इस युग में भी यह स्थिति प्रायः ज्यों की त्यों रही। सन् १८९९ ई० में जब लार्ड कर्जन वायसराय होकर आया उस समय देश दैन्य और दुर्भिक्ष की दुःसह यन्त्रणा के कारण छटपटा रहा था। कर्जन ने सारे देश का दौरा करके असंख्य भारतवासियों को कीड़ों-मकोड़ों की तरह बिलबिलाते तड़पते और मरते देखा और द्रवीभूत होकर उसने स्वयं देश-विदेश के लोगों से पीड़ितों की सहायता के लिए अपील की। कर्जन जैसे घोर साम्राज्यवादी को द्रवीभूत कर देनेवाली इस स्थिति ने राष्ट्र की उदीयमान राजनीतिक चेतना को भी उद्दीप्त किया। चारों ओर अंग्रेजों की शासन नीति की कटु से कटु आलोचना और तीव्र से

---

१ डॉ ईश्वरी प्रसाद कृत- 'आधुनिक भारत' पृ ११७।

तीव्र निन्दा हुई। इन सब बातों का एक परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस, जिसकी स्थापना ए ओ ह्यूम नामक एक सिविलियन अफसर द्वारा सम्भवतः राष्ट्रीय चेतना को प्रभावित करने के लिए हुई थी एक राष्ट्रीय संस्था बन गई। अब कांग्रेस दादाभाई नौरोजी, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी सर फीरोजशाह मेहता श्री गोखले महामना मालवीय प्रभृति नेताओं के प्रभाव में आ गई, जिससे उसकी लोकप्रियता बढ़ी और वह लोकहित और लोकमत की अभिव्यक्ति का एकमात्र प्रभावशाली साधन बनने लगी। इस प्रकार देश में जिन दिनों चारो ओर असन्तोष और क्षोभ बढ़ रहा था ने १९ जुलाई सन् १९०५ को बंग-विच्छेद की अपनी योजना घोषित की। इस योजना ने भारतीयो के जले हृदय पर नमक छिड़का और वह आग जो भीतर भीतर सुलग रही थी उसमें मानो घृत की आहुति पड़ गई। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि, यह घोषणा एक बम के गोले की भाँति गिरी। हमें ऐसा लगा कि हम अपमानित उपेक्षित और प्रवंचित किये गये हैं। बंग-भग की इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने की बड़ी भीषण प्रतिक्रिया हुई, जिसके परिणामस्वरूप वह ऐतिहासिक स्वदेशी आन्दोलन चला जो सात वर्षों तक निरन्तर जारी रह कर अन्त में सन् १९१२ में तभी रुका जब बंग विभाजन का कानून रद्द कर दिया गया। इस स्वदेशी आन्दोलन को निर्मूल करने के लिए सरकार ने कठोर दण्ड का आश्रय लिया, पर उसकी दमन-नीति भी इस विराट् जन-आन्दोलन के समक्ष असफल सिद्ध हुई।

इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बंगभंग से पूर्व राजनीतिक चेतना का प्रसार थोड़े से शिक्षित उच्च और उच्च-मध्यवर्ग तक ही हो पाया था। इसलिए उस समय की राजनीति ने जो वैधानिक नीति ग्रहण की थी वह लिबरल अथवा नरमदलीय कही जाती है। सन् १९०५ तक नरम दल वालों की इस नीति का ही देश की राजनीति में प्राधान्य रहा। पर सन् १९०७ के लगभग देश की राजनीति का सूत्र गरम दलवालों के हाथ में चला गया जो लिबरलों की वैधानिक नीति को निर्बल और व्यर्थ समझते थे तथा उग्रातिउग्र मार्ग का अवलम्बन करके शीघ्र से शीघ्र अंग्रेजी-सत्ता का उन्मूलन कर डालना चाहते थे। गरम

दलवालों में प्रधान लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक थे जिनका केसरी अंग्रेजी शासन का सब से प्रभावशाली शत्रु था। लोकमान्य तिलक की ही नीति के प्रबल पोषक बंगाल के विपिनचन्द्र पाल और पंजाब के लाला लाजपतराय थे। इन गरम दलवाले नेताओं के प्रभाव से राजनीतिक चेतना का प्रसार निम्नमध्यवर्ग और जन-साधारण में भी हो चला और बंग भंग विरोधी आन्दोलन ने इसे पूर्णरूप से सर्वसाधारण तक पहुँचा दिया। सन् १९०६ में कांग्रेस ने भी वैधानिक सुधारों की क्षुद्र भावना का मार्ग छोड़कर अपना ध्येय स्वराज्य घोषित कर दिया था। इतना ही नहीं भारतवर्ष के भीतर ही सावरकर जैसे राष्ट्रप्राण तेजस्वी तरुणों ने अभिनव भारत जैसी संस्थाओं का भी संगठन किया था जिनकी एकमेव प्रतिज्ञा सशस्त्र क्रांति के द्वारा राजनीतिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारतवर्ष को स्वतन्त्र करना थी।

इसी अवकाश में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुईं जिन्होंने हमारी अभ्युदयशील राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित और पुरस्कृत करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस प्रकार की एक उल्लेखनीय घटना रूस और जापान का युद्ध है जिसमें छोटे से एशियाई देश जापान ने रूस को करारी पराजय दी। अभी तक योरोपीय अजेय समझे जाते थे। परन्तु जब सन् १९०५ में एशियाई देश जापान ने रूस जैसे विशाल यूरोपीय देश को पूर्णरूप से पराजित कर दिया तो एशिया के अन्य परतन्त्र देशों की आशा बलवती हो गई[1]। इसके अतिरिक्त विवेकानन्द और रामतीर्थ जैसे महापुरुषों ने योरप और अमरीका आदि जाकर धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में भारतवर्ष की सर्वोपरिता प्रतिपादित और प्रचारित की। इसके पहले ही कालिदास के मेघदूत और अभिज्ञान शाकुन्तल आदि ग्रन्थ योरोपीय भाषा में अनूदित हो चुके थे जिनकी पश्चिमी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। इन सभी बातों से राष्ट्र के प्रबुद्ध आत्मसम्मान की अभिवृद्धि हुई। इसीलिए सन् १९१३ में जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ तो देश में अनुदित हर्ष और उत्साह की लहर दौड़ गई।

१ डॉ॰ ईश्वरी प्रसाद कृत आधुनिक भारत पृष्ठ ३८०।

वस्तुतः सन् १९०५ से १९२० तक का समय भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के विकास का काल है। राष्ट्रीयता के उद्भव और विकास में सहायता देनेवाली शक्तियों और परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण पहले दिया जा चुका है। ध्यान देने की बात यह है कि राष्ट्रीयता का यह नवोत्थान अंग्रेजों के पास अधिकाधिक अधिकारों और राजनीतिक सुधारों के आवेदनपत्र भेज करके ही सन्तुष्ट रहनेवाला नहीं था अब वह संगठित और उग्र होकर स्वराज्य तथा होमरूल के लिये आग्रह और आन्दोलन करने लगा था। इस प्रसंग में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि हमारे आलोच्यकाल का आरम्भ लगभग उसी समय होता है जब देश बंग-भंग विरोधी विराट् जन-आन्दोलन में प्रवृत्त होने वाला है और इसका अन्त भी प्रायः उस समय होता है जब सारा राष्ट्र महात्मा गांधी के नेतृत्व में सन् १९२० का ऐतिहासिक सत्याग्रह आन्दोलन प्रारंभ करने की तैयारी कर रहा है। ऐतिहासिक महत्व के इन दो राष्ट्रीय जन-आन्दोलनों के बीच अवस्थित द्विवेदी-युग के साहित्य ने सदैव शक्तिभर राष्ट्रीयता का पोषण और संवर्द्धन किया।

पर, यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि द्विवेदी-युग की राष्ट्रीयता का ढांचा राजनीति में भी पूर्ण स्वदेशी था। उस पर विदेशी छाप तब तक नहीं पड़ पायी थी। उस समय के प्रायः सभी प्रमुख राजनीतिक नेता भारत के ही गौरवमय अतीत से अनुप्राणित थे। गीता के महान् व्याख्याता लोकमान्य तिलक ही उस समय की राजनीतिक चेतना के प्रमुख सूत्रधार थे। उनके द्वारा राष्ट्रीयता के जिस स्वरूप का निर्माण हो रहा था वह विशुद्ध भारतीय था। उसका विकास भारत की अपनी सांस्कृतिक और राजनीतिक परम्पराओं के बीच से हो रहा था। निःसंदेह हमारे राजनीतिक नेताओं के समक्ष मैज़िनी और गैरीबाल्डी के आदर्श भी आ चुके थे और इन विदेशी देशभक्तों के प्रति हमारे देश के नेताओं और नवयुवकों में श्रद्धा भी थी। पर, वे लोग राम कृष्ण, प्रताप और शिवा को भूले नहीं थे प्रत्युत इन्हीं अपने महापुरुषों के आदर्श उनके जीवन में सतत क्रियाशील थे। इन लोगों के हृदय में अपने देश के लिए जितनी भक्ति थी उतनी ही भक्ति अपने धर्म के लिए भी थी। इसीलिए सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास रखनेवाले

वक्त भी जब फांसी पर चढ़ने थे तो उनके हाथ में गीता और मुख में उसके श्लोक होते थे।

राष्ट्रीयता का यह स्वरूप द्विवेदी-युग के साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में परिलक्षित होता है। हमने इस काल में नाटकों के अनुवाद की ओर अधिक प्रवृत्ति होने का उल्लेख किया है। अनुवाद के लिए चुने गये नाटकों का अध्ययन करने से भी इस धारणा की पुष्टि होती है। इस काल में लिखे गये मौलिक नाटकों में प्रतिपादित विषय-वस्तु से भी इस प्रवृत्ति की सूचना मिलती है कि यह स्वदेशी ढांचे की धर्मप्रवण राष्ट्रीयता के उत्थान का युग था। भारतवर्ष का धर्म और धर्मप्रवणता दोनों ही सदैव नितान्त असाम्प्रदायिक रहे हैं और उनकी व्यवहार-भूमि सर्वथा आध्यात्मिक रही है। फिर भी इस युग के साहित्य में किसी को कहीं साम्प्रदायिकता का आरोपण प्रतीत हो तो उसे उस साम्प्रदायिकता की सहज प्रतिक्रिया या परिणाम माना जा सकता है जिसका पोषण सर सैयद अहमद खां जैसे लोगों की छत्रच्छाया में अलीगढ़ आदि स्थानों में हुआ था और जो अब अंगरेजों से प्रोत्साहन पाकर निरंतर वृद्धि करती जा रही थी।

इस युग की राष्ट्रीयता का स्वरूप सब से अधिक उन अव्यवसायी नाटय-मंडलियों के अभिनयों द्वारा प्रकाश में आया जो इन दिनों विभिन्न नगरों में स्थापित हुई थीं। इन अभिनयात्मक प्रयासों को महामना मालवीय जी का आशीर्वाद और राजर्षि टण्डन जी का सहयोग प्राप्त रहता था और माधव शुक्ल, रामबिहारी शुक्ल तथा महादेव भट्ट जैसे उस समय के प्रमुख अभिनेता सन् १९१५ के आगे-पीछे पुलिस की सूची में प्रथमश्रेणी के क्रान्तिकारी गिने जाते थे। इसी से हिन्दी के इस युग के नाटकीय प्रयासों का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकता है।

इस युग के नाटकों का स्वरूप और उनके प्रकार

इस युग के मौलिक नाटककारों की धार्मिक आध्यात्मिक सामाजिक और राजनीतिक चेतना की परिधि और परिवेश बहुत-कुछ वही है, जो

पिछली पीढ़ी के नाटककारों में उपलब्ध है। पर दो बातों में अंतर अत्यंत स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। एक तो यह कि भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों की हास्य-संज्ञा जितनी विकसित है उतनी इन परवर्ती लेखकों की नहीं। हास्य और व्यंग्य अब भी लिखा जाता है और उसके लिखनेवालों की संख्या भी नितान्त नगण्य नहीं है, पर भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की जिन्दादिली इस हास्य और व्यंग्य में नहीं रह गई है। सम्भवतः द्विवेदी-युग का कठोर नीतिवाद अथवा आदर्शात्मक सुधिवाद इसके लिए उत्तरदायी है। दूसरी बात यह है कि भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने देश की आर्थिक दुरवस्था और राजनीतिक पराधीनता की पीड़ा को जितने असंच्छन्न तथा मार्मिक रूप में व्यक्त किया है, वैसा ये लेखक नहीं कर पाये हैं। इसका कारण सम्भवतः यह था कि अब अंगरेजों का दमन-चक्र अधिक सक्रिय एवं व्यापक हो गया था और राष्ट्र की साहित्यिक गति-विधि को अधिक शंका और संदेह की दृष्टि से बड़ी सूक्ष्मता के साथ जाँचा जाने लगा था। विशेषतः हमारे नाटक और रंगमंच पर साम्राज्यशाही की शनिदृष्टि थी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। प्रयाग में बालकृष्ण भट्ट और मुरलीधर मिश्र जैसे साहित्यसेवियों की प्रेरणासे 'नागरी प्रवर्द्धिनी सभा' की स्थापना हुई थी। इसी के अवकाश में सन् १९०० के आसपास वहाँ 'हिन्दी नाट्य-समिति' की स्थापना हुई, जिसके मुख्य संचालक माधव शुक्ल थे। यह समिति लगभग १९१६ तक चलकर टूट गई। इसके टूटने का कारण यह था कि इसके प्रमुख अभिनेता राजनीतिक क्षेत्र के कार्यकर्त्ता भी थे। सन् १९१६ ई० में इस समिति ने लोकमान्य तिलक को 'महाराणा प्रताप' नाटक का अभिनय करके दिखाया था। नाटक का आरम्भ इस गीत से हुआ था—'जय जय श्री तिलकदेव भारत हितकारी'। इसी कारण समिति को सरकार का कोप-भाजन होना पड़ा और माधव शुक्ल को प्रयाग से हटना पड़ा। समिति के अन्य सामान्य सदस्यों ने यह समझा कि इसमें रहना पुलिस के अत्याचारों को निमंत्रण देना और जेल जाना है। इसलिए माधव शुक्ल के चले जाने पर यह चल न सकी। यही कारण है कि इस काल के मौलिक नाटककार देश की आर्थिक दुरवस्था और राजनीतिक पराधीनता की चर्चा अब उतने खुलकर नहीं करते

थे। उन्हें सामयिक समस्याओं पर जो कुछ कहना होता है, उसे वे पौराणिक अथवा ऐतिहासिक रूपकों में प्रतीकात्मक या सांकेतिक शैली में कहते हैं। विदेशी शासन के विग्रह का प्रभाव इन नाटकों में प्रत्यक्ष है [१]।

नाट्यकला के स्वरूप और विषय-वस्तु का निर्माण और निर्णय अंततः दर्शक मंडली के द्वारा होता है। कहा गया है कि नाटक के नियमों का विधान उसके संरक्षक करते हैं [२]। वस्तुतः नाटक के प्रेक्षक ही उसके संरक्षक होते हैं और प्रेक्षक का भाव-जगत ही नाटक की रूप-रचना का अधिष्ठान होता है। अतएव भारतेन्दु युग के इस शताब्दी अथवा हासकाल के नाटक का स्वरूप समझने के लिए तत्कालीन दर्शक-मंडली की रुचि और प्रवृत्ति से परिचय हो जाना आवश्यक है।

यह बताया जा चुका है कि भारतेन्दु ने हिन्दी की स्वकीय नाट्य-परंपराओं को ध्यान में रखते हुए अपने नाटक लिखे थे और स्वयं उनका

१ देखिए-बदरीनाथ भट्ट कृत 'दुर्गावती' पृष्ठ १००।

कमधारी-क्या तुम विदेशियों के पंजे से अपनी स्वतंत्रता अपने कुल अपने घर, अपने भाई-बंधु अपने खेत और अपने मंदिरों की रक्षा करके संसार में अपनी बात बनाए रखना चाहते हो?

गँवार-हाँ।

देखिए-माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध'—

नारद- सत्ता का दुरुपयोग करने से क्या दुर्घटनायें होती हैं। यह सब का मालूम हो जायगा।

राजमद में आकर श्रेष्ठ राजा भी न्याय के सिद्धान्तों का सम्मान करने में नहीं हिचकते। ऐसी अवस्था में दीन निर्बल की रक्षा का कोई ठिकाना नहीं रहता।

२ The drama's laws the drama's patrons give

अभिनय करके उनके लिए अपने आदर्शों से अनुप्राणित दर्शक-मंडली तैयार करने का प्रयत्न भी किया था। पर उनके युग के उत्तरार्द्ध का कोई भी मौलिक नाटक-लेखक भारतेन्दुजी के इस प्रयत्न को प्रगति न प्रदान कर सका। इस समय के प्रधान मौलिक नाटककार थे मिश्रबन्धु, बद्रीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी जी पी श्रीवास्तव आदि। इनमें से किसी का भी अभिनय या रंगमंच से सीधा सम्बन्ध नहीं था। अतएव नाटक लिखते समय इन लोगों का ध्यान जिन प्रेक्षकों पर रहता था उनकी रुचि या प्रकृति के निर्माता भारतेन्दु जी की तरह ये लोग स्वयं नहीं थे। वस्तुतः इन प्रेक्षकों की रुचि और प्रकृति का यथार्थ दर्पण उस समय की बहुसंख्यक व्यावसायिक पारसी नाटक कम्पनियाँ थी। आलोच्य अवधि के बीच इन कम्पनियों का बढ़ता हुआ प्रभाव तत्कालीन दर्शक की रुचि की सच्ची कसौटी है। किन्तु पारसी नाटक-कम्पनियों के प्रभाव को समाज के लिए अनिष्टकर समझ कर भारतेन्दु के चरण-चिह्नों का अनुगमन करने वाले अभिनय और रंगमंच की कला के कुछ सावधान उपासकों ने हिन्दी का अव्यवसायी रंगमंच प्रतिष्ठित करके प्रेक्षकों की रुचि को परिष्कृत कर उसे अभीप्ट दिशा में प्रेरित करने का प्रयत्न किया। इस व्यवसायी और अव्यवसायी रंगमंच और उसकी दर्शक मण्डली का प्रभाव ज्ञाताज्ञात रूप में उस समय के सब मौलिक नाटककारों पर पड़ा था। इसलिए मौलिक नाटककारों की रचनाओं का अनुशीलन आरम्भ करने के पूर्व तत्कालीन व्यवसायी एवं अव्यवसायी रंगमंच की गतिविधि का अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

व्यवसायी रंगमंच

पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का उद्भव और प्रसार भारतेन्दुकाल में ही हो चुका था। पर भारतेन्दु के नाटक व्यवसायी कम्पनी के रंगमंच पर अभिनीत नहीं हुए थे। हेमेन्द्रनाथ दास गुप्त ने लिखा है कि व्यवसायी रंगमंच पर पहला हिन्दी नाटक १८९८ ई० में खेला गया था[1]। यह कौन सा नाटक था और किस कम्पनी

1 इंडियन स्टेज चतुर्थ भाग पृष्ठ २२७।

द्वारा खेला गया था इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। सम्भवतः पहली पारसी नाटक कम्पनी 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' थी जिसका सन् १८७० ई० तक वर्तमान रहना निर्विवाद माना जाता है।[2] इसमें दो मुसलमान नाटक लेखक थे—मोहम्मद मियाँ 'रौनक' तथा हुसैन मियाँ 'ज़रीफ़'। ज़रीफ़ ने तीस नाटक लिखे थे। सन् १८७७ ई० में खुरशेद बालीवाला ने 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की जिसके लिए काशी के मुंशी विनायक प्रसाद ने 'गोपीचंद', 'हरिश्चन्द्र', 'रामायण', 'कनकतारा' आदि अनेक नाटक लिखे। इन नाटकों की भाषा ज़रीफ़ के नाटकों की अपेक्षा हिन्दी की प्रकृति के अधिक निकट है। इसी समय के आस-पास 'विक्टोरिया पारसी आपेरा कम्पनी' की स्थापना हुई जिसने सन् १८८२ ई० में कलकत्ते के प्रसिद्ध कोरिंथियन स्टेज पर कई नाटक दिखलाये। बम्बई के पारसी 'एल्फिन्स्टन ड्रामेटिक क्लब' के कुछ हिन्दी नाट्य-प्रयोग भी कलकत्ते में बहुत लोकप्रिय हुए थे। सन् १८८४ की फरवरी में बंगाली पत्रकारों के अनुरोध पर इस कम्पनी ने कोरिंथियन स्टेज पर गिरीशचन्द्र घोष के प्रसिद्ध नाटक 'नल-दमयन्ती' के हिन्दी अनुवाद का अभिनय किया था।[3] इस कम्पनी ने 'हरिश्चन्द्र' नाटक का भी अभिनय किया था जिसमें प्रयुक्त हिन्दी भाषा बंगाली जैसी परिमार्जित और संस्कृतनिष्ठ थी।[4]

सन् १८७७ ई० में कावसजी खटाऊ ने 'पारसी एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की। इस कम्पनी ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की जिसका बहुत कुछ श्रेय इसके दो लेखकों को है जिनके नाम हैं सैयद मेहदी हसन 'अहसान' और पं० नारायण प्रसाद 'बेताब'। 'महाभारत', 'रामायण', 'गोरखधंधा', 'पत्नी प्रताप', 'कृष्ण-सुदामा' आदि व्यवसायी रंगमंच के सबसे सफल नाटक समझे जाते थे। कावसजी खटाऊ ने बर्मा तक में अपने नाटकों का अभिनय करके लोकप्रियता

२ डॉ० सोमनाथ गुप्त 'हिन्दी नाट्य-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १००-१०१

३ डे० हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त 'दी इंडियन स्टेज' पृष्ठ २२२

४ वही पृष्ठ २२२।

प्राप्त की थी। सन् १९१० के पश्चात् कावसजी खटाऊ के अभिनयों की कलकत्ते में बड़ी धूम थी। उनके द्वारा प्रस्तुत महाभारत ' रामायण बिल्वमंगल , 'यहूदी की लड़की , पत्नी प्रताप 'धर्मजय आदि के हिन्दी अभिनय बंगाली और हिन्दीभाषी दोनों ही प्रकार की जनता में अतिशय समादृत थे। महाभारत ' में विशेषरूप से शुद्ध हिन्दी शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग किया गया था। ३ दिसम्बर १९१३ ई में बम्बई की पारसी थियेट्रिकल कंपनी तथा एल्फिन्स्टन थियेट्रिकल कंपनी दोनों मिलकर एक हो गयीं। इस विलयन के पश्चात् कम्पनी के लिए पंडित नारायणप्रसाद बेताब ने विशेषरूप से 'रामायण 'महाभारत' 'श्रीकृष्ण-चरित्र, 'सती सावित्री 'नल-दमयन्ती 'मधुर मुरली, 'वीर बालक 'ध्रुव चरित्र' आदि नाटक लिखे। इन नाटकों के अभिनय ने बंगाली प्रेक्षकोंको भी मुग्ध कर लिया। इस कम्पनी की अभिनेत्री कुमारी गौहर ने स्त्री-पात्रों के अभिनय में असाधारण सफलता और प्रसिद्धि प्राप्त की थी। पुरुष-पात्रों के अभिनय में मास्टर मोहन सोराबजी मेहरबाला, धोमाराम मखन आदि को भी ऐसी ही प्रसिद्धि मिली थी।[1]

हिन्दी नाटक-रचना की दृष्टि से इन पारसी कम्पनियों में सबसे अधिक उल्लेखनीय न्यू एलफ्रेड कम्पनी मानी जा सकती है जिसके प्रमुख नाटककार आगा मोहम्मद 'हश्र' काश्मीरी और पं राधेश्याम कथा वाचक थे। हश्र ने उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी में भी लगभग सौ नाटक लिखे हैं। पं० राधेश्याम कथावाचक ने लगभग एक दर्जन हिन्दी नाटक लिखे हैं। इनके कथानक पौराणिक हैं और ये सब की सब आदर्शवादी कृतियाँ हैं। पारसी रंगमंच पर सुरुचि के संचार और हिन्दी के प्रचार का सर्वाधिक श्रेय राधेश्याम कथावाचक को ही दिया जा सकता है। इनके लिखे हुए वीर अभिमन्यु का पारसी रंगमंच पर प्रवेश एक स्मरणीय घटना है क्योंकि इससे पहले हिन्दीपन का कोई नाटक इसके पहले पारसी स्टेज पर नहीं गया था। इसके बाद ही हरिकृष्ण जौहर के पतिभक्ति एवं वीरभारत ' तथा सीताजी के भक्तरमणी ' आदि हिन्दी-प्रधान नाटक पारसी रंगमंच पर पहुंचे थे। उपर्युक्त कम्पनियों के

१ वही पृष्ठ २१०।

अतिरिक्त अन्य अनेक पारसी कम्पनियों का भी उद्भव हुआ जिनमें न्यू एल्फ्रेड शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी, ओरिजनल पारसी थियेट्रिकल कम्पनी जुबिली कम्पनी अलेक्जेंड्रिया कम्पनी आदि हैं। इन व्यवसायी नाटकों के शिल्प का अनुसरण करनेवाले अन्य उल्लेखनीय नाटककार किशनचन्द जेबा ' तुलसीदत्त शैदा ', हरिकृष्ण जौहर, श्रीकृष्ण और हसरत थे।

पारसी नाटकों के अतिरिक्त व्यवसायी रंगमंच के क्षेत्र में कुछ और भी उल्लेखनीय उपक्रम हुए थे। इनमें काठियावाड़ की श्री सूर्यविजय और मेरठ की 'व्याकुल भारत ' नाटक मंडली के नाट्य-प्रयोग भुलाये नहीं जा सकते। इन व्यवसायी नाटक मंडलियों ने अपने अभिनयों को पारसी रंगमंच की बहुत सी कुरुचिपूर्ण एवं असांस्कृतिक प्रवृत्तियों से मुक्त रखने का कुछ प्रयत्न किया था। व्याकुल भारत कम्पनी का बुद्धदेव नाटक अपने समय में बहुत लोकप्रिय हुआ था। इसी कम्पनी में रहकर द्विवेदीयुग के प्रसिद्ध नाटककार गोविन्द वल्लभ पंत ने नाटक लिखने की प्रेरणा प्राप्त की थी। पर व्याकुल जी के असमय देहावसान से यह कंपनी भी दीर्घजीवी नहीं हो पायी। अहिन्दीप्रदेश काठियावाड़ की सूर्यविजय नाटक कंपनी की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इसने अपने सब नाटकों का अभिनय हिन्दी में ही किया। राधेश्याम कथावाचक का अत्यंत प्रसिद्ध और लोकप्रिय नाटक ' श्रवणकुमार ' विशेषतः इसी कम्पनी के लिए लिखा गया था। यह कम्पनी भी दीर्घजीवी नहीं हुई सम्भवतः सम्पन्न पारसी कम्पनियों की प्रतियोगिता में यह टिक नहीं पायी।

हिन्दी नाटक के इतिहास में पारसी रंगमंच के प्रभाव और योगदान का मूल्यांकन कई दृष्टियों से किया जा सकता है। पारसी कम्पनियों ने अपने रंगमंच द्वारा कुरुचिपूर्ण असांस्कृतिक प्रवृत्तियों का खुलकर प्रचार किया यह स्पष्ट ही है। जनार्दन भट्ट ने माधुरी में लिखा था[1]—"कलकत्ते की एक बड़ी प्रसिद्ध पारसी कम्पनी के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध नाटककार से मुझसे बातचीत हुई। उन्होंने बताया कम्पनीवाले कहते हैं ...

१ माधुरी कार्तिक १०५, तुलसी संवत्, 'पारसी रंगमंच और हिन्दी नाटक'।

हम यहाँ रुपया पैदा करने आये हैं कुछ साहित्य-भंडार भरने नहीं। देशोद्धार और समाज-सुधार का हमने ठेका नहीं ले रखा है हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा वही करेंगे।" उन्होंने यह भी लिखा है[2] कि पारसी कम्पनियों ने पहले तो कुरुचिपूर्ण आशिक-माशूक के उर्दू नाटक खेलकर खूब धन कमाया पर अब जनता का ध्यान हिन्दी नाटक की ओर गया .. यहाँ तक कि उर्दू नाटक देखनेवाली मुसलमान जनता भी हिन्दी नाटक पसन्द करने और अपनाने लगी तब तो इन पारसी कम्पनियों ने अपना रुख इधर भी किया। इनका ध्येय रुपया पैदा करना है। .. ये कभी नहीं चाहते कि जनता का ध्यान सुरुचि की ओर खिंचे। ये एकमात्र व्यवसायी हैं रुपया खींचना ही इनका काम है। अब ये पारसी कम्पनियाँ हिन्दी के नाटक करने लग गई हैं अच्छे-अच्छे सामाजिक, ऐतिहासिक और धार्मिक नाटक न करके बे-सिरपैर के नाटक बनवा और लाखों रुपये सीन-सीनरी में नष्ट कर, मैमों को नचवा, जनता के धन और समय का अपहरण करती हैं ...... ।"

पारसी रंगमंच की इन असांस्कृतिक प्रवृत्तियों को उजागर करते हुए आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा था पारसी थियेटर की मिस पुटी भी तो 'सीता' की भूमिका में कलकत्ते के अल्फ्रेड कोरेंथियन के रंगमंच पर उतरती है। नैपथ्य से रंगमंच तक आते आते तक न जाने कितनी बार उसकी कमर बल खा जाती है। उसकी हर एक चंचल चितवन में सीता के आदर्श की हत्या और हर एक मनहर मुसकान में राम की मर्यादा की अवहेलना होती है। और वहाँ के राम भी बड़े रसीले होते हैं। नैपथ्य की ओर जाते समय ऐसी तिरछी निगाहों से साथ सीता को अपनी लटपटी बाँहों में समेट ले जाते हैं कि तालियों की गड़गड़ाहट के मध्य बार-बार उन्हें प्रत्यागमन और भेंट करना पड़ता है। इसी प्रसंग में आचार्य शिवपूजन सहाय जी ने पारसी नाटक के प्रेक्षक पर भी बड़ी सटीक टिप्पणी की है। वे कहते हैं 'रंगमंच तो वास्तविकता स्वाभाविकता और आदर्श के प्रकृत प्रदर्शन का स्थान है यारों के फँसाने का शिकारगृह नहीं। अपने हुनर और

२ वही शीर्षक वही।

नाटकों का इश्तिहार चिपकाने के लिए पोस्टरबोर्ड नहीं। किन्तु इसे समझे कौन? हमारे समाज की जनता ही ऐसी बुद्धू है कि नाटक का बैस्मामूल्य की तरह सिर्फ विलेसिता का एक सामान समझती है।[1]

इन व्यवसायी पारसी कंपनियों के पेशेवर लेखकों की सामान्य विशेषताएं संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं। ...सारी रचनायें कंपनी की सुविधा और विशेषता के भीतर ही सीमाबद्ध हैं। इनके अधिकांश पात्र गद्य में भी तुकबंदियां जोड़कर बोलते हैं, वार्तालाप में भी पद्यों की भरमार करते हैं और खूब गाना गाते हैं। हंसते भी गीत में हैं रोते भी गीत में हैं, किसी काम को करते भी गीत में हैं और किसी काम के करने का आदेश भी गीत ही में देते हैं। फिर गीतों का क्या कहना? एक ही में दादरा भी है, सारंग भी है और भैरवी भी एक ही में चार-चार और पांच-पांच राग-रागिनियां मिश्रित हैं। ताल में भी अभी गुरखाकरता अभी तीन अभी रेद और अभी मङकनाली है। संगीत में सामयिकता भी अनिवार्य नहीं। नौ बजे रात में विहाग या भैरवी तथा दो बजे रात में मालकोष या बागेश्वरी अलापे जाते हैं। पुराणवर्णित या धर्माश्रित घटनाओं की तो जाने दीजिए, काल्पनिक कथानक में भी ये लेखक केवल ड्राप-स्क्रीन की शोभा के लिए बेचारे कृष्ण नारद और धर्मादि देवताओं को जब चाहते हैं—बरहमो से हर जगह घसीट लाते हैं। इनके विदूषक का अपना परिवार ही अलग है।[2] इसके अतिरिक्त पारसी रंगमंच का सामान्य लेखक अस्वाभाविक आवेश और मस्ती की सर्जना करता या उसके स्त्री-पात्रों की नोक-झोंक और भावमयी वाग्विलास की स्थिति तक पहुँचे रहने थे।

इन दोषों के रहते हुए भी पारसी रंगमंच को दो उपलब्धियों का श्रेय दिया जाता है। उनमें से एक यह है कि उनके द्वारा हिन्दी का प्रचार हुआ। विचारणीय यह है कि इन पारसी कंपनियोंने हिन्दी के प्रचार के

---

१ माधुरी, जुलाई १९२० ई०।

२ ललितकुमार सिंह 'नटवर' 'इन हमारा रंगमंच और अभिनय कला', माधुरी वैशाख तुलसी संवत् ३०६।

लिए न तो हिन्दी के नाटक लिखवाये और न उनका अभिनय करवाया। बताया जा चुका है कि पहले ये उर्दू के नाटक ही खेलती थीं। हिन्दी के नाटक तो इन्होंने व्यावसायिक दृष्टि से यह समझ कर खिलाये और खेले कि उनके प्रेक्षक देश के कोने-कोने में उपलब्ध हैं और उन्हीं की संख्या सर्वाधिक है। आज भी यह कहकर कि सिनेमा के द्वारा देश में हिन्दी का प्रचार हो रहा है, एक उल्टी बात प्रचारित की जा रही है। वस्तुतः सिनेमा-व्यवसायी सारे देश में हिन्दी का व्यापक प्रचार देखकर ही हिन्दी फिल्मों का अधिक से अधिक निर्माण करते हैं। पारसी रंगमंच की दूसरी उपलब्धि थी उसके सुशोभन सीन-सीनरियाँ उनका दृश्य-विधान भी यह कला हिन्दी रंगमंच के विकास की एक निश्चित अवस्था मानी गयी है।[1]

अव्यवसायी रंगमंच

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि द्विवेदीयुग का व्यवसायी रंगमंच अत्यंत समृद्ध और साधनसम्पन्न था। दुर्भाग्य से उसे साहित्यिक सुरुचि संस्कृति और सदाचार की चिन्ता नहीं थी। इसके विपरीत इस काल का अव्यवसायी रंगमंच व्यवसायी रंगमंच के अभावों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हुआ था। उसके उत्थान के लिए कुछ संगठित प्रयत्न भी हुए थे कुछ ऐसे व्यक्तियों ने उसके उन्नयन में योगदान दिया था जिनके नाम भारतीय इतिहास में अमर हैं। फिर भी यह अव्यवसायी रंगमंच साधन और समुचित संरक्षण के अभाव में अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका। इस रंगमंच को उस समय की सरकार से सहयोग मिलने की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी। सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह था कि जनता भी इतनी शिक्षित संस्कृत और सुरुचिसम्पन्न नहीं थी कि इस रंगमंच के प्रयत्नों का महत्व समझती और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से उसके विकास की साधक बनती।

इस युग की अवधि में साहित्यिकों और साहित्यप्रेमियों द्वारा लोकरुचि के परिष्कार और संस्कार के लिए जिन हिन्दी नाट्य-परिषदों की

१ हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त-इंडियन स्टेज, चतुर्थ भाग पृ० ...

नाटकों का इश्तिहार चिपकाने के लिए पोस्टरबोर्ड नहीं। किन्तु इसे समझे कौन ? हमारे समाज की ममता ही ऐसी कुछ है कि नाटक को वेश्यावृत्ति की तरह सिर्फ विलासिता का एक सामान समझती है।[1]

इन व्यवसायी पारसी कंपनियों के पेशेवर लेखकों की सामान्य विशेषताएं संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं। '...सारी रचनायें कंपनी की सुविधा और विशेषता के भीतर ही सीमाबद्ध हैं। इनके अधिकांश पात्र गद्य में भी तुकबंदियां जोड़कर बोलते हैं, वार्तालाप में भी पद्यों की भरमार करते हैं और खूब गाना गाते हैं। हंसते भी गीत में हैं रोते भी गीत में हैं किसी काम को करते भी गीत में हैं और किसी काम के करने का आदेश भी गीत ही में देते हैं। फिर गीतों का क्या कहना ? एक ही में दादरा भी है खारज भी है और भैरवी भी .. .. एक ही में चार-चार और पांच-पांच राग-रागिनियां मिश्रित हैं। ताल में भी कभी मुरफाख्ता कभी तीन कभी केहरवा और कभी झपताल है। संगीत में सामयिकता भी अनिवार्य नहीं। नौ बजे रात में बिहाग या भैरवी तथा दो बजे रात में मालकोस या जोगेश्वरी अलापे जाते हैं। पुराणवर्णित या कथाप्रसिद्ध घटनाओं को तो जाने दीजिए, काल्पनिक कथानक में भी ये लेखक केवल ठूंसकर सीन की शोभा के लिए बेचारे कृष्ण नारद और ब्रह्मादि देवताओं को पकड़ लाते हैं—बेरहमी से हर जगह घसीट लाते हैं। इनके विदूषक का अपना परिवार ही अलग है।"[2] इसके अतिरिक्त पारसी रंगमंच का सामान्य लेखक अस्वाभाविक आवेग और मस्ती की सर्जना करता था उसके स्त्री-पात्रों की लोच-लचक और भावभंगी वाहियातपन की स्थिति तक पहुँचे रहते थे।

इन दोषों के रहते हुए भी पारसी रंगमंच को दो उपलब्धियों का श्रेय दिया जाता है। उनमें से एक यह है कि उसके द्वारा हिन्दी का प्रचार हुआ। विचारणीय यह है कि इन पारसी कंपनियोंने हिन्दी के प्रचार के

१ माधुरी, जुलाई, १९२७ ई०।

२ ललितकुमार सिंह 'नटवर' एम० ए० 'हमारा रंगमंच और अभिनय कला' माधुरी वैशाख तुलसी संवत् ३११।

किए न तो हिन्दी के नाटक सिखाये और न उनका अभिनय करवाया। बताया जा चुका है कि पहले ये उर्दू के नाटक ही खेलती थीं। हिन्दी के नाटक तो इन्होंने व्यावसायिक दृष्टि से यह समझ कर सिखाये और खेले कि उनके प्रेक्षक देश के कोने-कोने में उपलब्ध हैं और उन्हीं की संख्या सर्वाधिक है। आज भी यह कहकर कि सिनेमा के द्वारा देश में हिन्दी का प्रचार हो रहा है, एक उल्टी बात प्रचारित की जा रही है। वस्तुतः सिनेमा-व्यवसायी सारे देश में हिन्दी का व्यापक प्रचार देखकर ही हिन्दी फिल्मों का अधिक से अधिक निर्माण करते हैं। पारसी रंगमंच की दूसरी उपलब्धि थी उसके सुशोभन सीन-सीनरियाँ उनके दृश्य-विधान की यह कला हिन्दी रंगमंच के विकास की एक निश्चित अवस्था मानी गयी है।[1]

अव्यवसायी रंगमंच

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि द्विवेदीयुग का व्यवसायी रंगमंच अत्यंत समृद्ध और साधनसम्पन्न था। दुर्भाग्य से उसे साहित्यिक सुरुचि संस्कृति और सदाचार की चिन्ता नहीं थी। इसके विपरीत इस काल का अव्यवसायी रंगमंच व्यवसायी रंगमंच के अभावों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हुआ था। उसके उत्थान के लिए कुछ संघठित प्रयत्न भी हुए थे कुछ ऐसे व्यक्तियों ने उसके उन्नयन में योगदान दिया था जिनके नाम भारतीय इतिहास में अमर हैं। फिर भी यह अव्यवसायी रंगमंच साधन और समुचित संरक्षण के अभाव में अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका। इस रंगमंच को उस समय की सरकार से सहयोग मिलने की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी। सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह था कि जनता भी इतनी शिक्षित सहृदय और सुरुचिसम्पन्न नहीं थी कि इस रंगमंच के प्रयत्नों का महत्त्व समझती और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से उसके विकास की साधक बनती।

इस युग की अवधि में साहित्यिकों और साहित्यप्रेमियों द्वारा लोकरुचि के परिष्कार और संस्कार के लिए जिन हिन्दी नाट्य-परिषदों की

1 हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त-इंडियन स्टेज चतुर्थ भाग पृ० २३२, २३३।

स्थापना हुई थी उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—प्रयाग की हिन्दी नाट्य मंडली और हिन्दी नाट्यसमिति कलकत्ते की नागरी नाटक मंडली तथा भारतेन्दु नाट्य समाज जबलपुर के सप्तम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर स्थापित नाट्य समिति आरा की मनोरंजन नाटक मंडली' मुजफ्फरपुर की नवयुवक समिति और कारिणी समिति छपरा की शारदा नवयुवक समिति आदि। इन हिन्दी नाट्य प रषदों के विषय में ज्ञातव्य यह है कि इनके अधिकांश संचालक और अभिनेता बड़े उग्र राष्ट्रवादी थे और अपने नाट्य प्रयोगों के द्वारा यथा-सम्भव राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार प्रसार का कोई अवसर नहीं चूकते थे। इन नाट्य-परिषदों के इतिहास का यह पक्ष बड़ा गौरवशाली है। जिन दिनों पारसी कम्पनियाँ विलासिता और आचारहीनता का प्रचार कर रही थीं उन्हीं दिनों में साधनहीन नाट्य-परिषदें राष्ट्रीय चेतना को प्रबुद्ध करनेवाले अभिनय आयोजित करती थीं।

आचार्य शिवपूजन सहाय जी के अनुसार उल्लिखित नाट्य-परिषदों में प्रयाग की हिन्दी नाट्यसमिति सबसे पुरानी थी।[1] सन् १८९१ ई. में यह रामलीला नाटकमंडली के रूप में स्थापित हुई थी इसके संस्थापकों में प्रमुख थे पं. माधव शुक्ल पं बालकृष्ण भट्ट के दूसरे पुत्र महादेव भट्ट अल्मोड़ा के लक्ष्मीकान्त भट्ट महामना मालवीय जी के सुपुत्र रमाकान्त मालवीय बाद को अभ्युदय के यशस्वी सम्पादक कृष्णकान्त मालवीय बेनीप्रसाद गुप्त देवेन्द्र प्रसाद बनर्जी आदि। सन् १९०५ ई के जनवरी फरवरी के हिन्दी प्रदीप में बालकृष्ण भट्ट ने प्रयाग की रामलीला नाट्य-मंडली शीर्षक एक लेख लिखा था उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"पुष्पाकर न्याय से बहुधा असंभव भी संभव और असाध्य बात भी सुसाध्य हो जाती है, पर तभी जब पुन बाँध गोन तत्परता के उसके पीछे पड़ता —दृढ़ अध्यवसाय न रहने से बहुधा लोग यत्न करने पर भी पूरी तरह समवाय नहीं होते। यहाँ सुरत से कुछ लोग यत्न करते थे कि

[1] माधुरी मार्गशीर्ष तुलसी संवत् ३०६ पृ० ८५...

नाटक की एक मण्डली कायम करें पर बीच में थोड़ा भी विघ्न आ पड़ने से सब लोग निरस्त हो जाते थे। विघ्न आ पड़ने के अनेक कारण होते थे, बड़ा कारण अगुआ बनने का था। हम अपने एक साधारण विद्यार्थी को धन्यवाद देते हैं जो लोगों से अनुत्साहित होने पर भी अनेक कठिनाइयों को झेल रामलीला नाटक मण्डली के नाम से अभिनय करनेवालों का एक दल कायम ही तो कर डाला और तीन रात तक बराबर रामायण का बड़ी सफाई के साथ नाटक के आकार में अभिनय किया जो दर्शकों को बहुत ही रुचा। इस मण्डली का दूसरा अभिनय ७ जनवरी को भारतेन्दु बाबू रचित सत्य हरिश्चन्द्र' का किया गया। सूत्रधार ने अपने पाठ में हिन्दी की वर्त्तमान दशा को अच्छा दरसाया और सिद्ध कर दिया कि भाषा की उन्नति में एकमात्र नाटक बड़ा सहारा है। उपन्यासों की भरमार और नये नाटकों का किसना एकदम गुम हो जाना अभिनय के बन्द होने से हुआ है। मादकारी पारसी थियेटर में भी इसीलिए लोगों की रुचि बढ़ गई है—मण्डली ने अभिनय बहुत उत्तम किया। हरिश्चन्द्र शैव्या रोहित नारद विश्वामित्र आदि सबों ने अपना अपना नाम बहुत अच्छा दरसाया। अभिनय भी इन सबों का सब भाँति निर्दोष था—छोटा सा बालक रोहित का अभिनय देख दर्शक बड़े चकित और मुदित हुए। अब मण्डली से यही वक्तव्य है कि आपस में फूट का बीज न बो सब लोग मेल-मिलाप से रह नित्य नया नाटक तैयार कर खेलते रहें, तो भाषा और देश दोनों का बहुत कुछ सुधार हो।" इस उद्धरण में जिस 'साधारण विद्यार्थी' का उल्लेख है, वे सम्भवतः माधव शुक्ल थे।

आचार्य शिवपूजन सहाय जी ने बताया है[1] कि इस नाटक मंडली का पहला खेल सीतास्वयंवर' था जिसके दर्शकों में पुण्यश्लोक महामना मालवीयजी भी थे जो उस समय राजनीतिक विचारों की दृष्टि से पूरे माडरेट थे। सीतास्वयंवर' के अभिनय के बीच एक बड़ी स्मरणीय घटना घटित हुई। राष्ट्रीय चेतना से भावित अभिनेताओं में से एक जो जनक का अभिनय कर रहा था बड़े जोश से कह बैठा—

१ वही पृष्ठ ८५१।

" ब्रिटिश कूटनीति के समान कठोर इस शिवधनुष को तोड़ना तो दूर रहा और भारतीय युवक इसे टस से मस भी नहीं कर सके यह अत्यंत दुख का विषय है। हाय ! इस कथन पर प्रेक्षकों में आक्रोश भर गया। मालवीयजी भी उठ खड़े हुए। फिर भी इस मंडली के संचालकोंने अपने नाट्यप्रयोगों में राजनीति और राष्ट्रीयता का पुट बराबर रखा, इस प्रकार की घटनाओं से वे विचलित नहीं हुए। यह रामलीला नाटक मंडली १९०७ तक बराबर चलती रही। माधव शुक्ल इसके मुख्य संचालक थे और उनके मुख्य सहयोगी पं महादेव भट्ट तथा पं गोपालदत्त। पं माधव *शुक्ल असाधारण प्रतिभासम्पन्न नाट्यप्रयोक्ता थे। नाटक के प्रणयन में वे* जितने कुशल थे उतनी ही कुशलता और पटुता से वे रंगमंच पर उसके अभिनय की भी प्रभावशाली व्यवस्था करते थे। उन्होंने भाषा वेष-भूषा भाव आदि में नवीनता एवं स्वाभाविकता का समावेश किया था। किंतु मालवीयजी के परिवार के नवयुवकों से कुछ मतभेद हो जाने के कारण यह मंडली भंग हो गयी फिर भी अप्रतिहत उत्साहसंपन्न पं माधव शुक्लने १९०८ ई में हिन्दी नाट्य-समिति के नाम से इसका पुनर्गठन किया। इस कार्य में उन्हें पं बालकृष्ण भट्ट का पूरा सहयोग मिला। माधव शुक्लने जौनपुर, लखनऊ आदि में भी घूम-घूम कर हिंदी नाटक मंडलियों की स्थापना की थी जिनका उद्देश्य शुद्ध हिंदी के नाटकों का प्रचार था। माधव शुक्ल की भी इस साधना के पीछे पं बालकृष्ण भट्ट की बलवती प्रेरणा बराबर काम करती रहती थी। कहा जाता है कि माधव शुक्ल के अनेक नाट्य-प्रयोगों में पं बालकृष्ण स्वयं सूत्रधार के रूप में उपस्थित होकर अपनी ओजस्वी वाणी से प्रेक्षकों को नाटक के आदर्श और उद्देश्य की भावना से आविष्ट कर देते थे। कुछ और तरुण भी माधव शुक्ल के आदर्शों से अनुप्राणित होकर उनके सहयोगी बन गये थे जिनमें कुछ के नाम हैं—प्रधान चंद्रप्रसाद बाबू भोलानाथ बाबू मुंशिका प्रसाद, पं लक्ष्मीनारायण नागर, रासबिहारी शुक्ल मनोज बाबू देवेन्द्रनाथ बनर्जी प्रमथनाथ भट्टाचार्य आदि। हिन्दी के अव्यवसायी रंगमंच के इतिहास में ये अविस्मरणीय व्यक्तित्व हैं। माधव शुक्ल वीर एवं करुण रस का बहुत अच्छा अभिनय करते थे और प्रमथनाथ भट्टाचार्य शान्त के तथा महादेव भट्ट हास्यरस के

सफल अभिनेता थे। रासबिहारी शुक्ल नायक के अभिनय के लिए प्रसिद्ध थे तथा दवेन्द्रनाथ बनर्जी और मुक्तिकाप्रसाद स्त्री-पात्रों का अभिनय बड़ी स्वाभाविकता से करते थे।

श्रीरामलीला नाटक मंडली के विघटन के बाद जिस हिन्दी नाट्य समिति' का पुनर्गठन हुआ उसके सुन्नायकों में तरुण (राजर्षि) पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे कई अपूर्व उत्साही युवक थे। इस समिति के इतिहास की सबसे स्मरणीय घटना राधाकृष्णदास लिखित महाराणा प्रताप नाटक का अभिनय है। इसको देखने के लिए अत्यंत अस्वस्थ होते हुए भी बाबू राधाकृष्णदास स्वयं प्रयाग आये थे। इस समिति ने प्रयाग में अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के छठे अधिवेशन के अवसर पर माधव शुक्ल का लिखा हुआ महाभारत (पूर्वार्द्ध) नाटक का अभिनय किया था जिसके दर्शकों में भारतेन्दु-सखा बदरी-नारायण चौधरी प्रेमघन और आचार्य द्विवेदीजी भी थे। माधव शुक्लजी ने भीम की भूमिका मे अपना ओजस्वी अभिनय दिखाया। दुर्योधन थे पं बेचीप्रसाद शुक्ल और धृतराष्ट्र थे पं महादेव भट्ट। इन तीनों का अभिनय ऐसा हुआ कि न भूतो न भविष्यति। आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है, आजतक मैंने किसी हिन्दी रंगमंच पर वैसा सफल एवं प्रभावशाली अभिनय नहीं देखा है।[1] इसी प्रकार इस समिति ने लखनऊ के अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर भारतेन्दुजी के 'सत्य हरिश्चन्द्र' का बड़ा सफल अभिनय किया था। इस अभिनय के अवसर पर हिन्दू पंच के यशस्वी संपादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा उपस्थित थे जो पं माधव शुक्ल के साहित्य-गुरु भी थे। वे इस अभिनय से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने लौटकर अपने नगर आरा में मनोरंजन नाटक मंडली की स्थापना की थी। शुक्लजी नाटक को ही हिन्दी प्रचार का अमोघ साधन मानते थे। आचार्य शिवपूजन सहायजी ने उनके सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे प्रतीत होता है कि उनका व्यक्तित्व बड़ा विशाल और तेजस्वी

१ दे० शिवपूजन सहाय का स्व० कविवर माधव शुक्ल शीर्षक लेख विशाल भारत मई १९४४।

था उनका शरीर सुगठित एवं स्वस्थ डीलडौल प्रकाण्ड एवं वाणी गम्भीर थी।[1] तात्पर्य यह कि वीर रस के अभिनय के लिए मानों प्रकृति ने ही उनके व्यक्तित्व को गढ़ा था। उनके साहित्यिक जीवन का निम्नलिखित प्रसंग[2] महाकवि निराला की चारित्रिक दृढ़ता का स्मरण दिलाता है। शुक्लजी वीररसात्मक अभिनय की कला में अद्वितीय थे। वे केवल स्वांग भरनेवाले अभिनेता न थे। उनका सिद्धान्त भी वैसा ही आदर्शपूर्ण था जैसा उनका अभिनय। जिस समय उनका एकमात्र जामाता छत से गिरकर मर गया था, वे राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण जेल में थे। यह कहने पर कि क्षमायाचना करके सान्त्वना देने चलिए, उन्होंने कहा – मैं हरिश्चन्द्र और महाराणा प्रताप का अभिनय करनेवाला व्यक्ति हूँ ऐसे भीषण आघात से विचलित होकर क्षमा-प्रार्थना करना असंभव है। हिन्दी का रंगमंच अब भी माधव शुक्ल जैसे तपस्वी अभिनेता और रंगमंच के सम्पादक की प्रतीक्षा कर रहा है।

प्रयाग की हिन्दी नाट्य-समिति के साथ महामना मालवीय जी का घनिष्ठ सम्बन्ध था। एक विवरण यह भी मिला है कि एक बार समिति ने 'मुद्राराक्षस' नाटक का अभिनय किया था जिसमें बालकृष्ण भट्ट ने रंगमंच पर अभिनेता के रूप में अपने पिता का श्राद्ध किया जिससे उनके घरवाले बड़ रुष्ट हुए थे। जिन परिस्थितियों में प्रयाग की हिन्दी नाट्य समिति सरकार का कोपभाजन बनी उसका विवरण पहले दिया जा चुका है। सम्भवतः सरकार के विशेष कोपभाजन होने के कारण ही पं माधव शुक्ल १९१६ ई में प्रयाग छोड़कर कलकत्ता चले गये और वहाँ जाकर उन्होंने हिन्दी नाट्य परिषद की स्थापना की। उनके कलकत्ता चले जाने के बाद प्रयागस्थ नाट्य समिति को पं महादेव भट्ट रासविहारी शुक्ल आदि ने कुछ दिन चलाते रहने का प्रयत्न तो किया पर पं महादेव भट्ट का स्वर्गवास हो जाने के कारण वह आगे न चल सकी। पं माधव शुक्ल ने कलकत्ते में जिस नाट्य-परिषद की स्थापना की थी वह कुछ दिन बड़ी सक्रिय रही। तत्कालीन परिस्थिति में पारसी कम्पनियों से आक्रान्त कलकत्ता

---

१ शिवपूजन सहाय स्व कविवर माधव शुक्ल शीर्षक लेख विशाल भारत मई १९४८ ई

२ वही।

जैसी महानगरी में उनके नाट्य-प्रयोगों ने हिन्दी का गौरव बढ़ाया। उस समय का बंगला रंगमंच भी पारसी कम्पनियों से प्रभावित था, इसके विपरीत मुखर्जी अपनी नाट्य परिषद द्वारा पारसी कम्पनियों के प्रभाव से मुक्त शुद्ध राष्ट्रीय-परंपरा और चेतना के नाटक प्रस्तुत करते थे। दुर्भाग्य से यह 'नाट्य-परिषद' भी अधिक दिन जी नहीं पायी। इसके दो कारण थे — एक तो मुखर्जी राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेते थे और जेल जाते थे। वे कम से कम चार बार तो जेल गये ही थे और लम्बी सजायें भोगी थीं। दूसरा कारण यह था कि उनके जैसा ध्येयनिष्ठ दूसरा समर्थ नाटकलेखक और अभिनेता आगे नहीं आया जो उनके रिक्थ को सहेज कर उसे आगे बढ़ाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सकता।

प्रयाग की नाट्य-परिषदों से पं रासबिहारी शुक्ल का घनिष्ठ सबंध रहा था। कुछ वर्ष पूर्व इनके विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए मैं उनसे लखनऊ में मिला था। वे अल्मोड़ा के निवासी हैं किन्तु अवकाश प्राप्त कर लखनऊ में रहने लगे थे। उन्होंने बताया था कि उपर्युक्त परिषदों के आविर्भाव के पूर्व प्रयाग में ग्लैड्स्टन थियेट्रिकल क्लब नाम की एक अव्यवसायी नाट्यसंस्था थी पर उसके रंगमंच और अभिनय का आदर्श पारसी कम्पनियाँ ही थीं। इसके अतिरिक्त पं बालकृष्ण भट्ट द्वारा स्थापित नागरी प्रवर्द्धिनी सभा भी वर्ष में एकाध बार नाटकों के अभिनय कर लेती थी। दशहरे के अवसर पर यह सभा मालवीयजी के निवास-स्थान पर कोई न कोई नाटक अवश्य खेलती थी। उन्होंने यह भी बताया कि वसंत पंचमी के अवसर पर पं गंगानाथजी के निवास-स्थान पर भी संस्कृत हिन्दी अंगरेजी आदि के नाटकों के अभिनय होते थे। हिन्दी-नाटकों के अभिनय के लिए वे माधव शुक्ल आदि उपर्युक्त नाट्य समिति के सचालकों को आमंत्रित करते थे। इन राष्ट्रवादी युवकों का अभिनय देखकर पं गंगानाथजी कहा करते थे कि "तुम लोग सर्वत्र देश घुसेड़ दिया करते हो।" रासबिहारी शुक्ल से यह भी ज्ञात हुआ कि सन् १९१० ई० में प्रयाग की प्रसिद्ध प्रदर्शिनी के अवसर पर पैंड ओरियंटल थियेटर का जो वैभवशाली प्रदर्शन हुआ था उसमें प्रेमघनजी के प्रयाग रामागमन नाटक के कई दृश्य बड़ी सफलतापूर्वक दिखाये गये

साहित्यिक रंगमंच की परंपरा कभी निःशेष नहीं हुई। जिस ओज-तेज के साथ उसका आविर्भाव भारतेंदुयुग में हुआ था भले ही उसका सम्यक् निर्वाह परवर्ती युग में न हो पाया हो। भारतेंदुयुग के पश्चात् वाराणसी की रंगमंचीय प्रतिभा को प्रकाश में लानेवाली दो नाट्य-संस्थायें मानी जा सकती हैं—वे हैं 'भारतेंदु नाटक मंडली' और 'नागरी नाटक मंडली'। इन नाट्यमंडलियों के आविर्भाव और भारतेन्दुयुगीन नाटकीय क्रियाशीलता के बीच एक व्यवधान दिखायी पड़ता है जिसे दूर करने का प्रयास १९०४-५-६ ई० के आसपास कुछ तरुणों ने 'व्यापक ड्रामटिक क्लब' नाम की एक संस्था स्थापित करके आरंभ किया था। इन तरुणों में जिन लोगों का उल्लेख प्राप्त हुआ है, उनमें भारतेन्दुजी के भ्रातुष्पुत्र बाबू ब्रजचंद मूठे गोलेवाले गोपालदास चड़ीवाले श्रीचंद गुप्त राय जगन्नाथदास आदि थे। बाबू बालकृष्णदास (बच्चीबाबू) के कथनानुसार इस क्लब का पहला कार्यक्रम राय जगन्नाथ दास के घर पर एक छोटे कमरे में एक छोटा पर्दा लगा कर भारतेन्दु के 'अंधेर नगरी' और 'नीलदेवी' के अभिनय द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस क्लब का यही प्रथम और अंतिम कार्यक्रम था वह आगे नहीं चल सका। इस क्लब के असफल होने पर इसके जैन अग्रवाल सदस्यों ने 'जैन नाटक मंडली' की स्थापना की जिसमें उपर्युक्त क्लब के कुछ को छोड़कर प्रायः सब सदस्य सम्मिलित थे। इन लोगों ने कुछ जैनधर्म संबंधी नाटकों के अभिनय कुछ समय बाद इस मंडली की प्रवृत्ति बदल गयी और इसने पारसी कंपनियों के 'सिकन्दर' 'किंग' और 'काली नागिन' आदि नाटक खेलने आरंभ कर दिये। इसी बीच सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज में भी एक 'ड्रामेटिक क्लब' की स्थापना हुई जिसके प्रधान कार्यकर्त्ता रामगोपाल मिश्र नाम के एक सज्जन थे। रामगोपाल मिश्र ने 'ड्रामेटिक क्लब' के तत्वावधान में कॉलेज में राधाकृष्णदासके 'महाराणा प्रताप' के अभिनय का आयोजन किया। इसके लिए उन्होंने बाबू ब्रजचंद से प्रार्थना की कि वे 'जैन नाटक मंडली' से पर्दे आदि दिलवा दें। बाबू ब्रजचंदने जैन नाटक मंडली के कर्णधार श्रीचंदजी से उन्हें आवश्यक सामग्री दे देने का अनुरोध किया। ब्रजचंदजी के सामने वचन दे दिया पर समय पर आपने वचन का पालन नहीं किया। इस व्यवहार से क्षुब्ध होकर बाबू ब्रजचंद ने सन् १९०७ के उत्तरार्द्ध अथवा १९०८ के पूर्वार्द्ध में

नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्तक मंडली नामक नाट्यसंस्था की स्थापना की।

इस मंडली के संस्थापकों में प्रवर्तकजी के अतिरिक्त भारतेन्दुजी के दूसरे भ्रातृपुत्र कृष्णचंद्र एवं खड्गबंश के बाबू कृष्णदास प्रमुख थे। प्रारंभ में काशी के कई प्रमुख नागरिकों में से प्रत्येक ने इसके वस्त्र सीन-सीनरी पर्दे आदि बनवाने के लिए दो सौ रुपयों की सहायता की। इसके प्रथम सभापति श्रीकृष्णचन्द्रजी थे और इस मंडली के द्वारा अभिनीत पहला नाटक भारतेन्दुरचित सत्य हरिश्चंद्र था। इस नाटक के अभिनय के अवसर पर मंडली के संचालकों में बड़ा उग्र मतभेद उत्पन्न हो गया। जब इस नाटक के अभिनय की तिथि निकट आ गयी तो कृष्णचंद्रजी ने मंडली में यह प्रस्ताव रखा कि इसका नाम बदलकर 'भारतेन्दु नाटक मंडली' कर दिया जाय। मंडली की बैठक में सबने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और सब लोगों ने निमंत्रणपत्र भी इसी नाम से छपवाने तथा बाँटने का निश्चय किया। किन्तु निमंत्रणपत्रों के इस नाम से बँट जाने के बाद बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी। कुछ सदस्योंने यह कहना आरंभ किया कि बाबू कृष्णचंद्र अपने खानदान की ख्याति चाहते हैं इसलिए उन्होंने प्रबंधकारिणी में इस नाम का विरोध किया। इस विरोध में परिस्थिति ऐसी विषम हो गयी कि नाटक का अभिनीत होना ही संदिग्ध हो गया। कृष्णचंद्रजी 'भारतेन्दु नाटक मंडली' के नाम से ही नाटक अभिनीत करने को दृढ़संकल्प थे और विरोधी अपना हठ नहीं छोड़ रहे थे। इस बात को लेकर आपस में बड़ी कटुता उत्पन्न हो गयी। अंत में कुछ लोगों के उद्योग से यह निश्चय हुआ कि यह नाटक 'भारतेन्दु नाटक मंडली' के नाम से ही अभिनीत हो और उसके बाद इस मतभेद को दूर करने के लिए उचित उपाय कर लिया जाय। अतएव ऐसा ही हुआ पर इसके परिणामस्वरूप नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्तक मंडली दो शाखाओं में विभक्त हो गयी—एक 'भारतेन्दु नाटक मंडली' और दूसरी 'नागरी नाटक मंडली'।

जब ये दोनों मंडलियाँ अलग हुईं, तो दोनों के भाग भी अलग हो गये। दोनों में 'नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्तक मंडली' की प्रत्येक वस्तु

आधी-आधी बाँटी गयी। 'भारतेन्दु नाटक मंडली' का सारा उत्तरदायित्व बाबू कृष्णचंद्र और बाबू व्रजचन्द्र के मत्थे पड़ा। बाबू व्रजचंद्र भारतेन्दु नाटक मंडली में खूब रुचि लेते थे और उसके लिए अधिक से अधिक समय भी देते थे। इस मंडली का पहला अभिनय भारतेन्दुरचित 'सत्य हरिश्चंद्र' का किया गया जिसको लेकर 'नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्तक मंडली' का विघटन हुआ था। यह अभिनय अत्यंत सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था। इस नाटक के अभिनय में भाग लेनेवालों में गोविन्द शास्त्री दुग्वेकर (हरिश्चन्द्र) हरिदास माणिक (शैव्या) जगमोहनदास शाह (नारद) धर्मदत्त कुम्हार (विश्वामित्र) वृन्दावनदास गुजराती (इंद्र) बच्ची बाबू (धर्म) हरिभाऊ (सत्य) आदि प्रमुख थे। सत्य हरिश्चन्द्र नारद एवं विश्वामित्र का अभिनय अत्यंत उत्तम हुआ था। इस नाटक के सीन-सीनरी आदि प्रसिद्ध चित्री श्री टी॰ के॰ मित्र ने प्रस्तुत किये थे और उन्होंने अपनी शक्ति भर प्राचीन वातावरण का ध्यान रखा था। फिर भी यह कमी रह गयी थी कि पौराणिक पात्रों के अनुरूप वेष-भूषा की व्यवस्था नहीं हो पायी थी। इस नाटक के अंत में भगवान् के प्रकट होने के समय ट्रांसफरसीन के प्रयोग द्वारा श्मशान का दृश्य स्वर्ग में परिवर्तित किया गया था। बाबू कृष्णचंद्र और व्रजचंद्र के जीवनकाल में इस मंडली ने दो उल्लेखनीय अभिनय किये—एक था 'महाराणा प्रताप' और दूसरा 'सौभद्रहरण'। 'सौभद्र हरण' का अनुवाद गोविन्द शास्त्री दुग्वेकर ने मराठी से हिंदी में किया था। इन दोनों भाइयों ने भारतेन्दुरचित 'विद्यासुन्दर' तथा 'उत्तर रामचरित' (हिन्दी अनुवाद) के अभिनय की योजना भी बनायी थी। उसका अभ्यास भी पूरी तैयारी के साथ आरंभ हो गया था। किन्तु किन्हीं अनिवार्य कारणों से यह योजना कार्यान्वित नहीं हो पायी। इस योजना के असफल होने पर दोनों भाइयों को बड़ा दुख रहा।

'नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्तक मंडली' के विघटन के पश्चात् 'भारतेन्दु नाटक मंडली' की स्थापना हो जाने पर बाबू व्रजचंद्र के प्रयत्न और बाबू शिवप्रसाद गुप्त के सहयोग से 'भारतेन्दु प्रकाशन मंडल' नाम की एक संस्था स्थापित की गयी। इस संस्था के तत्त्वावधान में 'भारतेन्दु' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला गया जिसका संपादन

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर करते थे। बाबू शिवप्रसाद गुप्त के तेजस्वी व्यक्तित्व एवं अनन्य राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित यह साप्ताहिक थोड़े ही दिनों में सरकार का कोपभाजन बना और बन्द हो गया तथा इसके साथ ही प्रकाशन मंडल भी बैठ गया। भारतेन्दु नाटक मंडली' कृष्णचंद्र और ब्रजचंद्र के संरक्षण में कुछ दिन और चली। पर सन् १९१२-१४ के बीच दुर्भाग्यवश बाबू ब्रजचंद्र का स्वर्गवास हो गया। भाई की मृत्यु के दारुण आघात से कृष्णचंद्र मडली की ओर से उदासीन हो गये और मडली बिलकुल निष्क्रिय हो गयी।

भारतेन्दु नाटक मडली' की इस निष्क्रियता से खिन्न होकर रायबहादुर बटुकप्रसाद खत्री ने सन् १९१६ ई के आसपास इसको पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया। सम्भवत सन् १९१८ के सितम्बर में बाबू कृष्णचंद्रजी की भी मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् बटुकप्रसाद खत्री आदि ने इसे दो-तीन वर्ष तक 'भारतवर्ष महामण्डल' के तत्वावधान में चलाया। इस अवधि में मंडली ने दो उल्लेखनीय अभिनय किये—एक था गोविन्द शास्त्री दुगवेकर का लिखा हुआ हर हर महादेव और दूसरा पं माधव शुक्ल रचित महाभारत'।

' भारतेन्दु नाटक मडली को निष्क्रिय देखकर काशी के कुछ कला प्रेमी नागरिकों ने जिसमें बाबू मनोहरदास पं जानकीराम बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री विष्णु बोमा भालचिर आदि प्रमुख थ आदर्श भारतेन्दु नाटक मंडली नामकी एक नवीन संस्था बनायी। इस नाटक मंडली ने भी माधव शुक्ल क महाभारत नाटक का अभिनय किया। इस प्रकार के उपलब्ध उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि उस युग में पं माधव शुक्ल अभिनेता और नाटककार दोनो ही रूपों में सर्वाधिक लोकप्रिय थे।

सन् १९२० ई के आसपास एक बार पुन भारतेन्दु नाटक मंडली के उद्धार का सफल प्रयत्न किया गया। केदारनाथ रुगटा के प्रयत्नों से मंडली को भारतवर्ष महामण्डल' के प्रभुत्व से मुक्ति मिली। इन्होंने मंडली को नवजीवन प्रदान किया, नये नये सदस्यों की भरती

की और अनेक नाटकों के अभिनय आयोजित किये। कहा जाता है कि इन्होंने अभिनेता के रूप में अनेक प्रतिभाशाली तरुण साहित्यिकों का सहयोग प्राप्त किया जिनमें महेन्द्रलाल मेहू, कुंवरकृष्ण कौल, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा (अब डॉक्टर) पंड्या पुरुषोत्तम बस्सी बाबू आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। मंडली ने जिन नाटकों का अभिनय कर लोकप्रियता अर्जित की उनमें राधेश्याम का अभिमन्यु द्विजेन्द्रलाल राय के मेवाड़ पतन दुर्गादास शाहजहाँ आदि तथा विश्वनाथ कृत भीष्म प्रेम और नादिरशाह आदि हैं। किन्तु इस मंडली के कृतित्व का सबसे गौरवशाली पक्ष प्रसाद के नाटकों का सफल अभिनय है। प्रसाद के नाटकों के सर्वथा अनभिनेय होने का जो प्रवाद उस समय प्रचारित कर दिया गया था उसे इस मंडली के अभिनयों ने असत्य प्रमाणित कर दिया। इस मंडली ने नागरी प्रचारिणी सभा के अर्धशती महोत्सव पर ' चन्द्रगुप्त ' नाटक का सफल अभिनय किया। काशी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर ' स्कन्दगुप्त ' नाटक का बड़ा सफल अभिनय हुआ जिसके प्रेक्षण का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को भी प्राप्त हुआ था। द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथोत्सव के अवसर पर ' ध्रुवस्वामिनी ' का सफल अभिनय हुआ था। उस समय तक ' ध्रुवस्वामिनी ' प्रकाशित नहीं हुई थी यह अभिनय प्रसाद जी की पाण्डुलिपि के आधार पर किया गया था। सम्भवतः प्रसाद जी के नाटकों के अभिनय के प्रमुख सूत्रधार बाबू बालकृष्णदास जी बाबू थे।

नागरी नाटक मण्डली

यद्यपि भारतेन्दु नाटक मंडली और नागरी नाटक मंडली दोनों एक ही मूल संस्था से आविर्भूत हुईं किन्तु नागरी नाटक मंडली प्रायः एक वर्ष बाद क्रियाशील हुई, इसलिए कुछ लोग भारतेन्दु नाटक मंडली को उससे एक वर्ष ज्येष्ठ मानते हैं। इस मंडली ने पहले-पहल १७ जुलाई १९०९ को भारतेन्दु जी के एक नाटक का अभिनय किया था जिसमें हरिदास माणिक और धर्मदत्त दुर्जर का अभिनय अत्यंत प्रशंसनीय हुआ था। उसी वर्ष २० नवम्बर को इस मंडली ने राधाकृष्णदास जी के महाराणा प्रताप नाटक का अभिनय किया। इस नाटक के प्रदर्शनों में कई राजा महाराजा और

सम्मानित नागरिक थे जिन्होंने अभिनय से प्रसन्न होकर इस मंडली को विशेष प्रोत्साहन और सहायता प्रदान की। काशी विश्वविद्यालय के शिलान्यास महोत्सव के अवसर पर देश के कई नरेशों ने इस मंडली का अभिनय देखा था और प्रसन्न होकर उसके लिए नाट्यशाला के निर्माण के निमित्त पुष्कल सहायता देने का वचन दिया था। काशीनरेश को स्वाधीन शासक का अधिकार प्राप्त होने के अवसर पर इस मंडली ने 'युधिष्ठिर' नाटक का अभिनय किया था। इस मंडली ने एक बार महाराणा प्रताप नाटक का अभिनय कर काशी विश्वविद्यालय के लिए चंदा भी एकत्र किया था। ९, जनवरी १९२९ ई० को इस मंडली ने अत्याचार नामक नाटक का अभिनय कर संयुक्त प्रान्त के बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए चार सौ बीस रुपये भजे थे। इन उल्लेखों से यह सिद्ध है कि यह मंडली साहित्यिक कार्यों के साथ साथ अनेक लोकोपकारी कार्य भी करती रहती थी। इस मंडली के उन्नायकों में डॉ० भगवानदासजी भी थे और राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के वंशज राजा तिलकधारीसिंह ने भी इसके उत्कर्ष में विशेष योग दिया था।

इस मंडली ने जिन नाटकों के अभिनय द्वारा विशेष लोकप्रियता प्राप्त की थी उनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय थे—'महाराणा प्रताप' 'सम्राट् युधिष्ठिर सम्राट् अशोक महाभारत भीष्मपितामह, 'वीरबालक अभिमन्यु भक्त सूरदास 'विल्वमंगल संसार स्वप्न 'कलियुग-पाप परिणाम अत्याचार आदि। मंडली के अभिनयों में जिन लोगों की प्रतिभा अभिनेताओं के रूप में विशेष रूप में प्रकाशमें आयी उनके नाम हैं पं० राधाकुमार व्यास काशीनाथ (बच्चूजी) दुर्गाप्रसाद खन्नी बाबू श्यामसुन्दरदास हरिदास माणिक बाबू आनंदप्रसाद कपूर, बनवारीप्रसाद अवस्थी बनारसीदास खन्ना बाबू ठाकुरदास बाबू शिवप्रसाद, पं० श्रीकृष्ण शुक्ल पं० अयोध्यानाथ शास्त्री पं० विश्वेश्वरनाथ पं० रविमाराम आदि। बाबू आनंदप्रसाद कपूर नाटककार भी थे, वे बहुत दिनों तक मंडली के संचालक रहे थे। उनका अभिनय-कौशल असाधारण था। अव्यवसायी रंगमंच के सफल अभिनेताओं में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है— "मैंने भी मंडली का अभिनय देखा है। देखने से अनुभव हुआ कि मंडली के अभिनयों में अभी पारसीपन की बू बाकी है।

हरिश्चंद्र जैसे नाटकों की भाषा भी अधिकांश उर्दू थी। मुसलमान डाइरेक्टरों के निर्देशन में तैयार नाटकों की भाषा का ढांचा उर्दू होना स्वाभाविक ही था। लगभग दो वर्ष तक झालावाड़ में मिर्जा नजीरबेग महाराजा के विशेष कृपापात्र बने रहे। परन्तु अकस्मात् एक घटना ऐसी घटी जिससे उन्हें अपने आमरा के साथियों के साथ झालावाड़ छोड़कर जाना पड़ा। मिर्जा के द्वारा आयोजित एक विशेष अभिनय में महाराजा स्वयं पधारनेवाले थे। परंतु उसी दिन सहसा राजमाता अस्वस्थ हो गयीं और रात्रि में उनकी मृत्यु हो गयी। इस घटना के कारण मिर्जा नजीरबेग के अभिनय अशुभ माने जानेलगे तथा महाराजा एवं उनके सरदारों ने उनका प्रेक्षण अमांगलिक मानकर त्याग दिया। फलतः मिर्जा तथा उनके साथी अभिनेताओं को झालावाड़ छोड़ देना पड़ा।

मिर्जा नजीरबेग के चले जाने के बाद १९०६ में इस नाट्यसंस्था की व्यवस्था का उत्तरदायित्व तुलसीराम नाम के एक सज्जन ने अपने ऊपर लिया। वे झालावाड़ के स्थानीय अभिनेताओं की सहायता से अपना काम चलाते रहे। किन्तु थोड़े ही समय में तुलसीराम का स्वर्गवास हो गया इसलिए नाटकों के अभिनय कुछ समय के लिये बंद हो गये। नाट्यसंस्था के भवन में ताला पड़ गया। इसका रंगमंच जो अब तक अस्थायी था उजड़ गया।

किन्तु झालावाड़ की नाट्यचेतना एक बार फिर पुनरुज्जीवित हुई और कुछ नाट्य प्रेमियों ने मिलकर १९०८ ई० में धर्मेन्द्रोर ड्रामेटिक कंपनी नाम की एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था ने महाराज के जन्मदिवस तथा विशिष्ट राजकीय अतिथियों के सम्मानमें कुछ अभिनय प्रस्तुत किये। इससे प्रसन्न होकर महाराजा सर भवानीसिंहने अपने होम मिनिस्टर को आदेश दिया कि वे कोई अच्छी जगह चुनकर स्थायी रंगमंच का निर्माण करवा दें। तदनुसार राजभवन के कोने में सन् १९१० ई. में स्थायी रंगमंच का निर्माण करवाया गया। इसी का नाम आगे चलकर भवानी नाट्यशाला हुआ। इस स्थायी रंगमंच पर गुलनार-फीरोज नामक नाटक पहले-पहल खेला गया। इस नाटक के दर्शकों में स्वयं महाराजा सर भवानीसिंह भी थे।

प्रेक्षागृह में रुपये और गिन्नियाँ लेकर बैठे थे और अभिनय के बीच में अच्छे अभिनेताओं को पुरस्कृत करने के लिए रंगमंच पर बरसाते थे। इस अभिनय को देखकर महाराज ने इस नाट्यसंस्था के उन्नयन की ओर विशेष ध्यान दिया। इसीलिए उन्होंने एक बार फिर मिर्जा नजीरबेग को झालरे से बुलवाने का आदेश दिया।

महाराजा भवानी सिंह को गुलनार-फीरोज नाटक बहुत पसंद था। वे इस आशय का कोई अंगरेजी नाटक पहले देख चुके थे। इसलिए उन्होंने इसके अभिनेताओं के प्रसाधन के लिए चाइना ड्रेस चोटीदार बाल आदि वैसी ही सामग्री विदेशों से मँगवाई। रंगमंच पर प्रदर्शित दृश्यों की भूमिका में उसी वेशभूषा में अभिनेताओं के चित्र खिंचवा कर महाराजा प्रति तीसरे मास के अन्त में इंगलैण्ड के किसी नाटकक्लब को भेजते थे। महाराजा अपने संबंधी एवं मित्र नरेशों को भी कभी-कभी अपने रंगमंच पर नाटकों के अभिनय दिखलाते थे। अभिनेताओं के अभ्यास और उत्साह-वर्द्धन के लिए महाराजा ने सन् १९११ ई. में राजमंडल को कार्तिक के मेले के अवसर पर नाटकों के अभिनय प्रस्तुत करने का आदेश दिया। ये अभिनय जनता को कई दिनों तक मुफ्त दिखाये गये।

सन् १९१४ ई में महाराजा भवानी सिंह ने बंबई की पारसी थियेट्रिकल कंपनी से अभिनेताओं के प्रशिक्षण के लिए मास्टर पुरुषोत्तमदास को बुलवाया। ये बड़े अच्छे अभिनेता एवं संगीतज्ञ थे। इन्होंने खूबसूरत बला और महाभारत नाटक अभिनय के लिए तैयार करवाये। सन् १९१५ ई में सोहराबजी की कंपनी से मद्रास से अब्दुल रऊफ भी नाटकों की तैयारी में सहायता देने के लिए बुलाये गये। पुरुषोत्तम दास और अब्दुल रऊफ दोनों का सारा जीवन झालावाड़ राज्य की इस नाट्यसंस्था की सेवा में बीता, यहीं दोनों की मृत्यु भी हुई।

सन् १९१७ ई. में भवानी नाट्यशाला में कुछ अंगरेजी नाटकों के अभिनय भी सफलतापूर्वक किये गये। इन नाटकों के अभिनय के लिए उत्तम से उत्तम ड्रेस आदि इंगलैण्ड से मँगवाये गये थे। जिन

इस नाट्यसंस्था की प्रवृत्तियों का जो विवरण दिया गया है उससे यह स्पष्ट है कि पहले इसके द्वारा जो नाटक खेले जाते थे उन पर पारसी रंगमंच का बहुत प्रभाव था। निर्देशक और अधिकांश अभिनेता भी व्यवसायी पारसी कंपनियों से वेतन देकर बुलाये गये थे। उनकी भाषा भी अधिकांश अरबी-फारसी-मिश्रित अर्थात् उर्दू की ओर झुकी रहती थी। महाराजा राजेन्द्रसिंहने जब से इस संस्था में अभिरुचि लेना आरंभ किया उस समयसे इस प्रकार की भाषा का स्थान हिन्दी को मिला।

इस नाट्यसंस्था की सबसे बड़ी उपलब्धि इसकी नाट्यशाला है जिसकी जोड़ की नाट्यशाला उस समय देश में दुर्लभ थी। यह नाट्यशाला इंग्लैंड की अच्छी से अच्छी नाट्यशालाओं को देखकर उनके नमूने पर बनवायी गयी थी। इस पर सब प्रकार के नाटक प्रस्तुत किये जा सकते थे और सब प्रकार के जटिल से जटिल दृश्य भी प्रदर्शित किये जाते थे। इस नाट्यशाला में शेक्सपियर के लिखे हुए अनेक अंगरेजी नाटकों का भी मूल में अभिनय होता था। इन नाटकों के लिए हजारों रुपय लगाकर सभी प्रकार की अपेक्षित सामग्री इंग्लैंड से मंगायी गयी थी। जिस समय मैंने इस नाट्यशाला को देखा था उस समय विभिन्न अंग्रेजी नाटकों के लिए वेशभूषा आदि के सेट अलग अलग संदूकों में बड़े सुरक्षित रखे थे। बड़ी से बड़ी व्यवसायी पारसी नाटक कंपनी भी अभिनय और रंगमंच के उपकरणों की दृष्टि से इतनी समृद्ध रही होगी इसमें संदेह है। इस नाट्यशाला के नेपथ्यगृह की वीथी में अभिनेताओं के सजावट के अलग-अलग अनेक कक्ष थे जिनमें वे स्वतंत्र रूप से अपनी तैयारी करते थे। प्रेक्षागृह भी सभी श्रेणी के दर्शकों को ध्यान में रखकर बनाया गया था। खेद है यह उत्तम नाट्यशाला उस समय भी हिंदी नाट्य-साहित्य के विकास में किसी प्रकार का योगदान न कर सकी और आज भी वह अज्ञात पड़ी हुई है। परिशिष्ट में इस नाट्यशाला का जो चित्र दिया जा रहा है उससे इसके स्वरूप का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

जिन प्रमुख अव्यवसायी नाट्यसंस्थाओं का विवरण यहां प्रस्तुत किया गया है उनके अतिरिक्त और भी बहुत सी अव्यवसायी नाट्य-समितियां थीं। इन सब नाट्यसंस्थाओं की गतिविधि का लेखा कर सकना कुमारसिंह

अक्सर न इसकी बड़ी यथार्थ गाथा प्रस्तुत की थी —" हमारी अधिकांश नाटक समितियाँ पेशेवर पारसी स्टेजों की भद्दी नकल हैं। यही इसलिए कि पारसियों की वह चुस्ती वह मस्ती वह प्रोफेशन नाम-मात्र को भी नहीं होते केवल हाथ-पैर और नाक-मुँह के बेतरह सञ्चालन वेशभूषा तथा उच्चारण की थोड़ी बहुत नकल अवश्य की जाती है। उसमें या विराम-नियमानुसार रुक-रुक कर बोलने का प्रयास अधिकतर बेमौके और बेढंगे तौर पर किया जाता है। नियम है कि पद्य के अंतिम चरण के अंतिम दो शब्दों का उसके पहलेवाले शब्द को बड़े चढ़ाव पर लाकर उतार पर लाते हैं। और एक से दूसरा चरण कुछ चढ़ाव पर चढ़ता-कहीं एक ही स्थान पर भी ठहरता—हुआ उच्चरित होता है। इस तरह के तीन और पाँच चरणवाले पद्यों की बड़ी प्रशंसा है। इनके गद्य भी कहीं कहीं पद्यात्मक ढंग के ही रहते हैं—इनमें भी चढ़ाव उतार होता है, परन्तु ऐसा प्रयोग सब जगह नहीं होता न सभी पात्र ही ऐसा करते हैं। बड़ा आवेग और बड़ी मस्ती है इसमें। जनता फड़क उठती है उमड़ पड़ती है। पारसियों की यह खास विशेषता है मगर है यह अस्वाभाविक। हमारे नकलची नट निरंतर अभ्यास न होने के कारण इसकी और भी रद्दी हालत बना डालते हैं। थियेट्रिकल तर्जों की तो और भी मट्टी पलीद की जाती है। इसी प्रकार पारसी ढंग के स्त्री-पात्रों के उच्चारणमें इतनी लोच और भाव-भंगी में इतनी लचक और फाहिशापन होता है कि कुछ न पूछिए। हमारी नाटक-समितियाँ उनका बड़ा बुरा अनुकरण करती हैं। इससे समाज को जितनी उससे हानि पहुँचने की संभावना नहीं होती—उससे अधिक निकट सम्बन्ध के कारण इन नाटक समितियोंमें पतन की सम्भावना रहती है। वेशभूषा की भी भद्दी नकल की जाती है ...... थोड़ी सी दूसरी प्रकार की नाटक समितियाँ हैं, जो बंगला स्टेज की नकल करती हैं। इनमें अधिकतर शिक्षित कहे जानेवाले सज्जन सम्मिलित हैं। कविता और कुछ साधारण वार्तालाप को छोड़कर बंगला का उच्चारण व्याकरणानुसार होता है। शब्दों को हटाकर केवल ध्वनि का प्रवाह सुना जाय तो साफ मालूम होगा कि अंगरेजी स्पीच का ढंग है। वैसे ही विराम उसी तरह का चढ़ाव-उतार और आवेग के साथ बड़ा धीमा-धीमा कर थरथराहट भरी आवाज निकालना बंगला स्टेज

इस युग के तीसरे वर्ग के मौलिक साहित्यिक नाटक-लेखकों की कृतियों को लक्ष्य कर भी जगदीशचंद्र माथुर[१] ने लिखा है कि उनको भारतेन्दु-शैली के ही अंतर्गत माना जा सकता है, क्योंकि उनकी कृतियों में उन्हीं गुणों का विकास मिलता है जिनकी झांकी भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारों के नाटकों में मिल चुकी है, इसमें कोई संदेह नहीं कि इस वर्ग के नाटककारों की कृतियां भारतेन्दुयुगीन नाट्यपरंपरा का ही अनुसरण करती हैं, पर इनके ऊपर समसामयिक पारसी रंगमंच की नाट्यप्रविधि का भी प्रभाव पड़ा है जिससे भारतेंदु और उनके सहयोगियों के नाटक प्रायः मुक्त थे। डॉ सोमनाथ गुप्त का यह कथन सर्वथा उचित है कि इस काल के नाटककारों का यह प्रयत्न था कि समसामयिक सभी नाट्यप्रवृत्तियां यथासंभव मिलकर एक हो जायें। साहित्यिक और रंगमंचीय नाटकों में भेद भाव न रहने पावे और अंगरेजी तथा संस्कृत नाट्यविधान में भी समन्वय की स्थापना हो। पारसी रंगमंच के चमत्कार और व्यवसायी होने के कारण इसमें और भारतीय रंगमंच में जो ऊपरी भेद दिखाई देता था वह मिट जाये[२]। इस प्रकार का प्रयत्न उस काल के प्रमुख नाटककारों की कृतियों में स्पष्ट दिखायी देता है।

बदरीनाथ भट्ट

इस वर्ग के नाटककारों में बदरीनाथ भट्ट प्रमुख हैं। उन्होंने 'चंद्रगुप्त' 'तुलसीदास' 'दुर्गावती' 'कुरुवनदहन' 'वेन चरित्र' 'चुंगी की उम्मेदवारी' 'मिस अमेरिकन' आदि कई नाटक लिखे हैं। इन नाटकों में दुर्गावती और वेन चरित्र' सबसे सफल माने गये हैं। भट्टजी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में भारतेंदु युग के ऐतिहासिक नाटककारों की अपेक्षा ऐतिहासिकता का अधिक ध्यान रखा है। फिर भी उन्हें ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण में वह सफलता नहीं मिली है जो प्रसादजी के नाटकों का आधारभूत वैशिष्ट्य है भट्टजी के नाटकों की भाषा अभिनयोपयुक्त सरल, सरस चमत्क और मुहावरेदार है और अतिशय स्वगत-कथनों का छोड़कर उनके कथोपकथन

१ आलोचना— हिंदी रंगमंच और नाट्यरचना का विकास' पृ २६-२७।
२. डा सोमनाथ गुप्त हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास पृ ६

भी मंजे और मायम-भौमा के नहीं हैं । परन्तु इनके कथोपकथनों में पद्यात्मकता की भरमार है । यहाँ तक कि दैनिक व्यवहार की कामचलाऊ बातें भी पद्यों—उर्दू और हिंदी दोनों प्रकार के छंदों—में कही गयी हैं जो अस्वाभाविक होने के साथ साथ पारसी रंगमंच के गहरे प्रभाव का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। 'दुर्गावती' नाटक के आरंभ में ही अकबर का स्वगत कथन है—

हारा हुआ न रानी ऊधम मचा रहा है,
फौजों को पहाड़ों पर मेरी नचा रहा है।

इस प्रकार स्वगत-कथन करते हुए अकबर को लक्षित कर पृथ्वीराज भी इसी प्रकार स्वगत-कथन करते हैं—

किस पर मला माँ आज यह त्योरी चढ़ी है आपकी ?
क्यों, चांद किस पर हुक्मरानी है तमाम इस भाप की ?
हाँ क्यूं यों ममराजसे किस पर उठाया दम है ?
किसका प्रबल घमंड होने को मभी मत खम है ?
इसी प्रकार रानी दुर्गावती अपने सैनिकों से कहती है—
यही आशा है मेरी मेरे सैनिक शत्रु की रोकें
लगाई अग्नि जो उसने उसी में उसका घर झोंकें,
न था सीसोदियाओं का मिला, यह यश मिले हमको,
भगावें हम सदा को मौत का भय मारकर यम का।

विचारणीय है कि ये कथन प्रतिभाशाली गद्य में प्रस्तुत किये जाने पर अधिक प्रभावशाली होते। परंतु कुशल नाटककार परम्परा और विभिन्न समसामयिक प्रवाह से अभिभूत होने के कारण वैसा नहीं कर सका। भट्ट जी के पूर्ववर्ती भारतेंदु के नाटकों में तथा परवर्ती प्रसादजी के आरंभिक नाटकों में भी पद्यात्मक कथोपकथन मिलते हैं। पर भारतेंदु अथवा प्रसादने प्रायः सामान्य दैनिक व्यवहार के तथ्यों और कथ्यों को पद्यात्मक संवाद के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। उन्होंने विशिष्ट भावपूर्ण और रागात्मक अवसरों पर ही प्रायः पद्यात्मक कथनोपकथनों की योजना की है। यह विवेक भट्टजी एवं उनके समसामयिक नाटककारों में नहीं है।

भट्ट जी हास्य और व्यंग्य के सिद्ध लेखक थे अतएव इन तत्वों की सफल योजना उन्होंने नाटकों में की है। उस समय हास्यरस की योजना

की दृष्टि से तीन प्रकार के नाटक लिखे जाते थे—१) विदूषक संयुक्त २) प्रहसन शृंखला युक्त, और ३) हास्य पात्र संयुक्त। पूर्व संस्कृत-परंपरा के नाटकों में विदूषक की योजना की जाती थी। स्वयं प्रसादजी ने स्कंद गुप्त नाटक तक इस परंपरा को निभाया है। यह पहले बताया जा चुका है कि पारसी रंगमंच के लिए जो नाटक लिखे जाते थे उनमें मुख्य कथावस्तु से स्वतंत्र प्रहसनों की शृंखला रहती थी। भट्टजी ने हास्यरस की अवतारणा की इन दोनों ही शैलियों को अपने नाटकों में स्थान नहीं दिया है। तीसरी हास्यपात्र संयुक्त शैली का प्रयोग उन्होंने अवश्य कई प्रकार से किया है। उनके नाटकों में जो हास्य मिलता है वह प्राय आधिकारिक कथानक के कुछ प्रमुख पात्रों द्वारा ही अभिव्यक्त कराया गया है। उदाहरणस्वरूप 'दुर्गावती' नाटक में भिखारीसिंह छिनेलसिंह अमेलसिंह गिरधारीसिंह आदि पात्रों के द्वारा जो रानी दुर्गावती के आमीरदार हैं हास्य की सृष्टि की गई है। यह हास्य प्राय शिष्ट, और मर्यादित होते हुए भी व्यंग्य के तीखेपन से युक्त है। दुर्गावती नाटक के दूसरे अंक के चौथे दृश्य में उपर्युक्त पात्रों के कथोपकथन में स्वार्थी देशद्रोही एवं कायर सरदारों के चरित्र को हास्य एवं व्यंग्य के माध्यम से उद्घाटित किया गया है।[1] भट्ट जी में हास्य की

---

१ अमेल॰—आपका कहना ठीक है कि व्यर्थ लड़ना—झगड़ना क्या है! आदमी न हुए, कोई जानवर हुए।

छिनेल॰—परमात्माने मनुष्य को इसलिये पैदा नहीं किया है, कि वह अपनी ही-जैसी सूरत के दूसरे प्राणियों से झगड़ता फिरे अरे भई तुझे एक वस्तु की आवश्यकता है तो तू लेले-जाने दो छोड़। बस इतनी ही नम्रता दिखाने से दुनिया पिघलकर मोम हो जाती है, और सब झगड़ा-टंटा मिट जाता है।

अमेल॰ — राव गिरधारी सिंहने जो उपदेश इस समय राजपूतों को दिए हैं व मुझे बहुत अच्छे लगते हैं।

छिनेल॰ — क्या हैं वे?

अमेल॰ — वैसे तो रावजी मसखरे हैं किन्तु उन्होंने अपने भरोसे के आदमियों द्वारा यह कहलाया है कि हे राजपूतो सच्ची वीरता आत्म-संयम-पूर्वक क्रोध को जीतने और शत्रु को क्षमा करनेमें है, न कि व्यर्थ प्राण देने और लेने में।

सृष्टि के लिए नामों में कुछ विकृति अथवा विलक्षणता लाने की प्रवृत्ति मिलती है। गिरधारी सिंह को गिरधाड़ी सिंह बना देना और मंगेलू सिंह, छिंगलू सिंह आदि नाम इसके प्रमाण हैं। भट्टजीने 'चुंगी की उम्मेदवारी विवाह-विज्ञापन मिस अमेरिकन', आदि कुछ स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे हैं। ये प्रहसन जी पी श्रीवास्तव के प्रहसनों की तरह बलात् किसी पूर्व निर्धारित साँचे में फिट नहीं किये गये हैं। इनके हास्य और व्यंग्य का लक्ष्य अपनी सामाजिक विकृति है। इनमें जी पी श्रीवास्तव जैसी तीव्रता तो है, पर अशिष्टता नहीं। इनका हास्य प्रायः शीलतापूर्ण और मर्यादायुक्त है। केवल मिस अमेरिकन को इसका अपवाद माना जा सकता है। मिस मेयोने भारतीय राष्ट्र का अपमान करने के लिए मदर इंडिया नाम की जो कुख्यात पुस्तक लिखी थी उसकी राष्ट्रव्यापी रोषपूर्ण प्रतिक्रिया हुई थी। उसके उत्तर में विविध भारतीय भाषाओं में अनेक ग्रंथ लिखे गये थे। मिस अमेरिकन नामक भट्टजीका प्रहसन भी उसी प्रसंग में लिखा गया था। उस क्षोभपूर्ण प्रतिक्रिया के आवेश में इस प्रहसन के हास्य का कुछ अमर्यादित हो जाना स्वाभाविक था।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त भट्टजी के नाटकों में कतिपय पात्रों के अंतर्द्वन्द्व का भी अच्छा चित्रण मिलता है[1]। उनके कतिपय नाटकीय गीत भी बड़े सरस हैं। ये ही विशेषताएँ आगे चलकर प्रसादजी के नाटकों

---

१ दे दुर्गावती नाटक दूसरा अंक दूसरा दृश्य बदनसिंह का स्वगत-कथन—
बदनसिंह — (आप ही आप) बहुत सोचता हूँ परंतु कुछ उपाय नहीं सूझता। इन दोनों चिट्ठियों ने मुझे डाँवाडोल कर दिया। सारा किया कराया मिट्टी में मिला जाता है। सुमति की आँसुओं की धार में मेरी प्रतिमा कागज की नाव की भाँति औंधी-सीधी बही जाती है। ...... (उदास होकर) किन्तु, बदनसिंह! बदनसिंह! क्या तू कायर है? क्या तू सच्चा क्षत्रिय नहीं? .. .. .. (हँसता हुआ) सुमति तू रानी होगी सुत होगा राजकुमार नित्य ही प्रेमपूर्ण दरबार जुड़ा करेगा। बादशाह सलामत ने मुझे 'राजा' की उपाधि देकर नियम पूर्वक तिलक तो कर ही दिया है। .. (सोचता हुआ) किन्तु देशद्रोही! अरे सुमति क्या कहती है? देशद्रोही कौन है? ... ।

अनुवाद —

द्विवेदी–युग में इतने अधिक नाटक हिंदी में अनूदित हुए कि बहुत से विद्वान इसे अनुवाद–काल कहना ही समीचीन समझते हैं। ये अनुवाद देशी विदेशी सभी भाषाओं से किये गये। विदेशी भाषाओं से अनुवाद का माध्यम अंग्रेजी था। इस प्रकार के प्रयत्नों में अवधवासी लाला सीताराम के द्वारा किया हुआ शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद उल्लेखनीय है। उन्होंने हैमलेट रिचर्ड द्वितीय, मैकबेथ आदि कई नाटकों का अनुवाद किया था। सं १९६७ में हैमलेट 'का जयंत नाम से एक दूसरा अनुवाद भी हुआ था। लाला सीतारामने संस्कृत के नागानंद ' मृच्छकटिक महावीर चरित उत्तरराम चरित ' मालती माधव और मालविकाग्निमित्र का भी हिंदी अनुवाद किया था। पं सत्यनारायण कविरत्नने भी भवभूति के 'उत्तर रामचरित और मालती माधव 'का बड़ा सरस अनुवाद प्रस्तुत किया।

इस युग में बंगला मराठी आदि भारतीय भाषाओं के नाटकों के भी अनुवाद हुए। इस प्रयत्न को आचार्य द्विवेदी जी का समर्थन प्राप्त था। बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करनेवालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने बनवीर, 'बभ्रुवाहन देशदशा' विद्याविनोद आदि बंगला नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किये एवं रवि बाबू की चित्रांगदा का भी हिंदी अनुवाद किया। बंगला नाटकों के दूसरे समर्थ अनुवादक पं रूप नारायण पाण्डेय थे जिनके अनुवाद–कार्य का प्रारंभ द्विवेदी युगमें होता है, और जो प्रसाद–युग का भी अतिक्रमण कर जाता है। उन्होंने द्विजेन्द्रलाल राय के प्रायः सब नाटकों का हिंदी अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने गिरीश घोष, क्षीरोद कवीन्द्र रवीन्द्र आदि प्रसिद्ध बंगला नाटककारों की कृतियों का भी अनुवाद किया। पांडेयजी के अनुवाद बड़े सरल हैं, उनमें मूल के आत्मा को अधिक से अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। इस क्षेत्र में पं रूपनारायण पाण्डेय का कृतित्व अनुपम है।

मराठी का नाट्य साहित्य और रंगमंच भी बंगला की ही तरह समृद्ध एवं संपन्न है। उसमें बंगला के रंगमंच की अपेक्षा वरानुकरण कम तथ निजत्व अधिक है। आचार्य द्विवेदीजी बंगला की अपेक्षा मराठी के अधिक

निकट थे अतएव बहुतसे मराठी नाटकों के भी हिन्दी अनुवाद हुए। मराठी-नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत करनेवालों में पं॰ लक्ष्मीधर वाजपेयी का नाम प्रमुख है। उन्होंने अच्युत बलवंत कोल्हाटकर लिखित 'स्वामी विवेकानंद' नाटक के अपने अनुवाद की भूमिका में अपना उद्देश्य इस प्रकार निरूपित किया है[1] —"मराठी पाठकों को यह नाटक बहुत ही रुचिकर प्रतीत हुआ है हम आशा करते हैं कि हिंदी-पाठक भी इसे प्रेमपूर्वक अपनायेंगे। यदि हमारी हिंदीभाषी नाट्यमंडली इसे स्टेज पर लाने का भी प्रयत्न करेगी, तो अच्छा होगा। हम यह बात जानते हैं कि अभी हिंदी में संगीत-नाटकों के विषय में ही विशेष उत्साह नहीं देखा जाता, फिर बिल्कुल गद्य-नाटक उनके खेलने में बहुत प्रिय मालूम नहीं हो सकता। तथापि मनोरंजन की जो मात्रा इस नाटक में रखी गयी है उससे संगीत की कमी बहुत अंशों में पूर्ण हो जाती है इसके सिवाय अंग्रेज पात्रों के आने की विलक्षणता भी इस नाटक को रमणीय तथा कौतूहलवर्द्धक बनाती है, जो हम पहले ही कह चुके हैं। महाराष्ट्र इत्यादि में गद्य-नाटक खेलने का भी खूब प्रचार है, और 'शाहू नगरवासी नाटकमंडली' तो गद्यनाटक खेलकर ही जो सफलता और कीर्ति प्राप्त कर चुकी है वह बहुत कम संगीत मंडलियों ने प्राप्त की है। सच तो यह है कि अभिनय कर्तागण अपने कार्य में निपुण होने चाहिए फिर वे चाहे गद्य-नाटक हो चाहे पद्य उसे दर्शकों के सामने इस प्रकार अभिनीत करते हैं कि दर्शक लोग वाह वाह करके ही मस्तक हिलाने लगते हैं। इसी लिए हम चाहते हैं कि हमारे हिंदी भाषी नवयुवक भी गद्य-नाटकों का अभिनय प्रारंभ करके अपनी अभिनय-निपुणता का परिचय देना प्रारम्भ कर दें। इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि हमारे अनुवादक विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं की साहित्यिक प्रगति के संपर्क में थे और उनके ग्राह्य उपादानों को हिंदी में आत्मसात करने के लिए प्रयत्न करते रहते थे।

रवीन्द्रनाथ का अभ्युत्थान —

रवीन्द्रनाथ का आविर्भाव भारतीय साहित्य-जगत की एक महत्वपूर्ण घटना है। उनका बड़ा व्यापक एवं बहुमुखी प्रभाव प्रायः सभी भारतीय

---

१ स्वामी विवेकानंद (हिंदी अनुवाद) प्र॰ सं॰ सं॰ १९७४ ग्र॰ हिंदी गौरवर्धन माला।

भाषाओं के साहित्य पर पड़ा। नाटक का क्षेत्र भी उससे अछूता नहीं रहा। रविबाबूने यद्यपि नाटक कम ही लिखे पर शान्तिनिकेतन में तथा कलकत्ता में भी वे नाट्य-प्रदर्शन की योजना किया करते थे और स्वतः उसमें सम्मिलित होते थे। अभिनय-कला का एक सरल किन्तु सुरुचिपूर्ण निर्माण रवि बाबू के प्रयत्नों से सम्पन्न हुआ। रंगमंच में प्राचीन वातावरण और प्रसाधन की योजना भी उन्होंने की और इस कार्य में शान्तिनिकेतन के प्रसिद्ध कलाकारोंने विशेषतः श्रीनंदलाल बोसने उन्हें पूरा योग दिया। गीत और नृत्य की नई पद्धति रंगमंच पर प्रतिष्ठित हुई। कहा जा सकता है कि शान्तिनिकेतनसे अभिनय और रंगमंचीय प्रसाधन की एक नई परिपाटी ही चल निकली और केवल बंगाल में ही नहीं भारत के अन्य प्रदेशों पर भी उसका प्रभाव पड़ा केवल नाटक-लेखन के क्षेत्र में भले ही रविबाबू का कोई उल्लेखनीय प्रभाव तत्कालीन हिन्दी नाटककारों पर न पड़ा हो पर आगे चलकर नवीन रंगमंच तथा तथा नये अभिनय एवं नृत्यगीत-शैली का जो अभ्युदय हुआ उस पर रविबाबू की कुछ न कुछ छाप अवश्य है।

उपसंहार —

द्विवेदी-युग एवं प्रसाद-युग की विभाजक रेखा अत्यन्त क्षीण है। प्रसाद-युग के प्रायः सभी लेखकों का रचनाकाल द्विवेदी युग में आरंभ होता है। प्रसाद जी की आरंभिक नाट्यकृतियां द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्यकृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है वह उन्हें द्विवेदी युग के लेखकों से पृथक कर देता है। ऐसा ही अन्य नाटककारों के संबंध में भी कहा जा सकता है। इस वर्ग के लेखकों में माखनलाल चतुर्वेदी का स्थान विशिष्ट है। उनकी अन्य कृतियां द्विवेदी-युग के आगे की वस्तु हैं। पर उनका कृष्णार्जुन-युद्ध नाटक द्विवेदी-युग के रंगमंचीय विधान और साहित्यिक परंपरा का समुचित समन्वय है। भारतेंदु युग के नाटककारोंने जिस प्रकार नाटकीय पात्रों के माध्यम से समसामयिक राजनीतिक परिस्थिति पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है वही शैली इस नाटक में चतुर्वेदी जी ने भी अपनायी है। इन्द्र कुबेर, नारद आदि के वार्तालाप में समसामयिक राजनीतिक परिवेश का परिचय मिलता है। 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक द्विवेदी-युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि है जिसमें प्राचीन परंपराओं का प्रतिपालन एवं नवीन अभ्युदय का आभास मिलता है।

सहायक पुस्तक-सूची

(अ) हिन्दी नाटक

पुस्तक	लेखक
(अ)	
अकबर गोरक्षा-न्याय नाटक	जगत नारायण शर्मा
अथ रामचरित नाटक	जय गोविन्द मालवीय
अद्भुत नाटक	कमलाचरण मिश्र
अनर्घ नल चरित	सुदर्शनाचार्य
अभिमन्यु नाटक	शालिग्राम वैश्य
अमरसिंह राठौर	राधाचरण गोस्वामी
अर्जुन-मद-मर्दन	
अश्रुमति नाटक	उदित नारायणलाल वर्मा
अष्टयाम	देवादि
अहिरावण लीला (हस्तलेख)	उदय
अंधेर नगरी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(आ)	
आनन्दोद्भव नाटक	कृष्णबिहारी गुप्त
आनन्द रघुनन्दन	महाराज विश्वनाथसिंह
आत्मस्तुति प्रहसन	नागर
आर्यमत मार्तण्ड	रुद्रदत्त शर्मा
(इ)	
इन्द्रसभा (अमानत)	कृष्णबिहारी शुक्ल (नाटक रूप में संगृहीत)
इश्क चमन या स्वांग बिस्मिल परिवार का	शालिग्राम वैश्य
(उ)	
उत्तर भारत	मिश्रबन्धु

पुस्तक	लेखक
गोवध निषेध नाटक	देवकीनन्दन शर्मा
गोरखधन्धा	—
गो संकट नाटक	अम्बिकादत्त व्यास
गौनेवारी लीला	—
गंगा माहात्म्य	वंशीधर पाठक
ग्राम पाठशाला	काशीनाथ शर्मा
(च)	
चीरहरण लीला	ललितकिशोरी
चौपट चपेट	किशोरीलाल गोस्वामी
चन्द्रावली	भारतेन्दु
चन्द्रगुप्त	बदरीनाथ भट्ट
चुंगी की उम्मेदवारी	
(छ)	
छद्मयोगिनी	वियोगी हरि
(ज)	
जय नारसिंह की	देवकीनन्दन त्रिपाठी
जानकी रामचरित	हरिराम
जैसा काम वैसा परिणाम	बालकृष्ण भट्ट
जोगलीला (हस्तलेख)	उदय
जोगी लीला	—
जोहरा बहिराम नाटक	मुहम्मद अमानुल्ला
(त)	
तप्ता संवरण	श्री निवासदास
तुलसीदास	बदरीनाथ भट्ट
(द)	
दमयन्ती स्वयम्बर	बालकृष्ण भट्ट
दयानन्द पराजय	"
दर्याई इन्द्र सभा	रामभजन मिश्र
दशावतार (मराठी)	—
दामोदर लीला	देवीदास
दुर्गावती	बदरीनाथ भट्ट
देवाक्षर चरित्र	रविदत्त शुक्ल
दो मित्रों का वार्तालाप	भारतेन्दु

पुस्तक	लेखक
उद्धव नाटक	गोप
उद्धव बधोठि नाटिका	विद्याधर त्रिपाठी
उषा हरण	कार्तिक प्रसाद खत्री
(ए)	
एक-एक के तीन-तीन	देवकीनन्दन त्रिपाठी
एई कि बोले सभ्यता ?	अनु०
(क)	
कनक तारा	विनायक प्रसाद
कन्या धर्मोपदेशिनी नाटक	कामताप्रसाद
कपटी मुनि नाटक	परशुराम पांडेय
कमल मोहिनी भँवरसिंह	जवाहरलाल वैद्य जैन
करुणाभरण नाटक (हस्तलेख)	लच्छीराम
कल्पवृक्ष नाटक	खड्ग बहादुर मल्ल
कलि कौतुक रूपक	प्रतापनारायण मिश्र
कर्ण पर्व	विष्णु गोविन्द शर्मा
काली नागिन	
काली सीमा	ब्रजवासीदास
कंस वध	रामनारायण मिश्र
काशी दर्शन नाटक	हरशंकर प्रसाद
किंग लियर	अनु० लाला सीताराम
कुन्द कली नाटक	जगन्नाथप्रसाद शर्मा
कुरुवन दहन	बदरीनाथ भट्ट
कृष्णाकुमारी	अनु० रामकृष्ण वर्मा
कृष्ण नाट्यम्	मानवेद
कृष्णार्जुन युद्ध	माखनलाल चतुर्वेदी
(ख)	
ख्याल राजा भरथरी	मातादीन
(ग)	
गुन्नौर की रानी	काशीनाथ खत्री
गोपीचन्द	विनायक प्रसाद
गोपीचन्द नाटक	श्रीमती मालती

सहायक पुस्तक-सूची

पुस्तक	लेखक
गोवध निषेध नाटक	देवकीनन्दन शर्मा
गोरक्षा ...	—
गो संकट नाटक	अम्बिकादत्त व्यास
गौनेवारी लीला	—
गंगा माहात्म्य	बंशीधर पाठक
ग्राम पाठशाला	काशीनाथ शर्मा
(च)	
चीरहरण लीला	ललितकिशोरी
चौपट चपेट	किशोरीलाल गोस्वामी
चन्द्रावली	भारतेन्दु
चन्द्रगुप्त	बदरीनाथ भट्ट
चुंगी की उम्मेदवारी	
(छ)	
छद्मयोगिनी	वियोगी हरि
(ज)	
जय नारसिंह की	देवकीनन्दन त्रिपाठी
जानकी रामचरित	हरिराम
जैसा काम वैसा परिणाम	बालकृष्ण भट्ट
जोगलीला (हस्तलेख)	उदय
जोगी लीला	—
जोहरा बहिराम नाटक	मुहम्मद अब्दुल्ला
(त)	
तप्ता संवरण	श्री निवासदास
तुलसीदास	बदरीनाथ भट्ट
(द)	
दमयन्ती स्वयम्बर	बालकृष्ण भट्ट
दयानन्द पराजय	"
दर्जी दरबार सभा	रामभजन मिश्र
दशावतार (मराठी)	—
दामोदर लीला	देवीदास
दुर्गावती	बदरीनाथ भट्ट
देवाक्षर चरित	रविदत्त शुक्ल
दो मित्रों का वार्तालाप	भारतेन्दु

पुस्तक	लेखक
द्रौपदी वस्त्र हरण	राम प्रभुलाल
(ध)	
धन और विद्या का विवाद (हस्तलेख)	नरहरि
धर्मालाप	राधाकृष्णदास
ध्रुव तपस्या	महाराम मारवाड़ी
(न)	
नल दमयन्ती	नित्यबोध विद्यारत्न
नहुष	गिरधरदास
न्याय सभा नाटक	रत्नचन्द वकील
नवीन वेदान्त नाटक	
नागरी विलाप	रामगरीब चतुर्वेदी
नाट्य संभव	किशोरीलाल गोस्वामी
निकृष्ट नौकरी	काशीनाथ खत्री
नीलदेवी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
नेत्रोन्मीलन	मिश्रबन्धु
नौका लीला	ललित किशोरी
नौटंकी	लछमन
नन्द विदा	बल्देवप्रसाद मिश्र
नृसिंहावतार	रामभजन मिश्र
(प)	
पग पखारन लीला	कोई बालक
पत्नी प्रताप	नारायणप्रसाद बेताब
पति भक्ति	हरिकृष्ण जौहर
पद्मावती	रामकृष्ण वर्मा
परीक्षित	आनन्दप्रसाद कपूर
परम प्रकाश विष्णु नाटक (हस्तलेख)	महाराज रघुराजसिंह
पाखंड विडंबन	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
पुरविक्रम	शालिग्राम वैश्य
पुलिस नाटक	मूलचन्द
पूर्व भारत	मिश्रबन्धु
प्रद्युम्न विजय	हरिऔध
प्रद्युम्न विजय (हस्तलेख)	गणेश
प्रबोध चन्द्रोदय	ब्रजवासीदास

सहायक पुस्तक सूची

पुस्तक

प्रबोध चन्द्रोदय
" "
" "
" "
" "
प्रभास मिलन
"
" "
प्रयाग रामागमन
प्रह्लाद चरित्र-नाटक
प्रह्लाद चरित्र नाटक
प्रह्लाद चरितामृत
प्रेम की बेल
प्रेम जोगिनी
प्रेम वाटिका
प्रेम मंजरी
प्रेम लीला
प्रेम स्वरूप
प्रेम सुन्दर
प्रेमियों की सैर

(फ)

फलचारी लीला

(ब)

बलवीर नाटक
बयालीस लीला
बाल खेल या ध्रुव चरित्र
बाल विधवा संताप नाटक
बाल्य विवाह दूषक
बाल्य विवाह नाटक
बाल्य शिशु विवाह
बनवारी लीला
बीर नारी (अनुवाद)
बैल छै टके को

लेखक

नानकदास
अनु० देवीदीन
अनु० महादेव दुबे
गुलाबसिंह
घौंकल मिश्र
मधुसूदनदास
काशीकृष्ण मुखोपाध्याय
बल्देवप्रसाद मिश्र
प्रेमघन
महाराज दीन दीक्षित
श्रीनिवास दास
जगन्नाथशरण
ब्रज जीवन दास
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
धीरजेन्द्रसिंह
"
अनु० गोपीनाथ पुरोहित
ब्रज जीवनदास
शिवाधार लाल
कृष्ण बिहारी शुक्ल
रसिक बिहारी जी
गोपालराम गहमरी
बाबाहित वृन्दावनदास
रामाधार शास्त्री
काशीनाथ
देवदत्त मिश्र
देवीप्रसाद शर्मा
शिव करण रामरतन
दयाशंकर त्रिपाठी

पुस्तक	लेखक
बीर बालक	नित्यबोध विद्यारत्न
बेन चरित	बदरीनाथ भट्ट
(भ)	
भक्त सूरदास	श्रीलाल उपाध्याय
भारत भारत	खड्ग बहादुर मल्ल
भारत भारत (भा० १ १८८५)	(रसिक पंच अप्रैल जून जुलाई)
भारत डिमडिमा नाटक	जगतनारायण
भारत सौभाग्य	बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन
भारत सौभाग्य	अम्बिकादत्त व्यास
भारत जननी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
भारत दुर्दशा	"
भारती हरण (हस्तलेख)	देवकी नन्दन त्रिपाठी
भारतोद्धार नाटक	शरत्कुमार मुखोपाध्याय
भारतेन्दु नाटकावली	व्रजरत्नदास
भारतेन्दु नाटकावली	
भोरा मीला	माधुरी जी
(म)	
मधुर मुरली	नित्यबोध विद्यारत्न
मदन मंजरी	धर्मानसिंह व जामदार
मन भावन	मनु गोपीनाथ पुरोहित
मनोरंजनी नाटक	रघुवीरसिंह वर्मा
मयंक मंजरी	किशोरीलाल गोस्वामी
महाअंधेर नगरी	विजयानन्द
महाभारत नाटक	माधव शुक्ल
महामोह विद्रावण नाटक	विजयानन्द त्रिपाठी
महाराणा प्रताप	राधाकृष्ण दास
महारानी	खड्ग बहादुर मल्ल
महारानी पद्मावती	राधाकृष्णदास
महाराम	खड्ग बहादुर मल्ल
मरप सभा	भवनराम श्री माली
माधव विनोद नाटक	सोमनाथ
माधवानल कामकन्दला	शालिग्राम
मान माधुरी	बालम

सहायक पुस्तक-सूची

पुस्तक	लेखक
मनलीला	चौबे रामप्रसाद
मालती बसंत	
मालती माधव माया	लाला सीताराम
मालविकाग्निमित्र	अनु० लाला सीताराम
मिथिलेश कुमारी	बिन्ध्येश्वरप्रसाद राय
मिस अमेरिकन	बदरीनाथ भट्ट
मीराबाई	बल्देवप्रसाद मिश्र
सुन्दर सभा	सूर्य नारायणसिंह
मैकबेथ	अनु० लाला सीताराम
मोरध्वज	शालिग्राम वैश्य
(य)	
युगल बिहार नाटक	द्विजकृष्णदत्त
यौवन योगिनी	गोपाल राम गहमरी
(र)	
रणधीर प्रेममोहिनी	श्री निवासदास
रति कुसुमायुध	लक्ष्म बहादुर मल्ल
रत्नावली	अनु० बालमुकुन्द गुप्त
रावलान लीला	
राधानन्द कुमार	रामशरणदास
रामकरुणाकर नाटक (हस्तलेख)	उदय
रामचरित	मिश्रबन्धु
रामचरित नाटक	जय गोविन्द मालवीय
रामचरित नाटक	द्विजदास
रामानाट्यम्	केरल वर्मा
राम यश दर्पण (आठ कांड)	शिवशंकरलाल वाजपेयी
रामलीला या नाटककार रामायण (उ. कांड)	दामोदर शास्त्री
रामलीला नाटक (हस्तलेख)	देवकी नन्दन त्रिपाठी
रामलीला विजय नाटक	बल्देवप्रसाद मिश्र
रामलीला कौमुदी	बच्चूलाल
रामलीला सहायक नाटक	दाशरथिदास 'दिव्य'
रामलीला नाटक रामायण	गोस्वामी नारायण सहाय
रामलीला नाटक	व्रजचन्द वनवासी

पुस्तक	लेखक
रामलीला रामायण	ज्वालाप्रसाद मिश्र
रामलीला नाटक	
रासछद्म विनोद	चाचाहित वृन्दावनदास
रामलीला विहार	लक्ष्मणशरण मधुकर
रामकथा (लक्ष्मण संग्राम नाटक)	उदय
रामायण	विनायक प्रसाद
रामाभिषेक नाटक	अनु० रामगोपाल
रामायण नाटक	प्राणचन्द
रुक्मणीहरण नाटक	देवकीनन्दन त्रिपाठी
रूपवती	परमेश्वर मिश्र
रोमियोजूलियट	अनु० गोपीनाथ पुरोहित
(ल)	
लवड़ धौंधौं	बदरीनाथ भट्ट
ललित माधव	रूप गोस्वामी
ललित (मराठी)	
लल्ला बाबू	बलदेवप्रसाद मिश्र
ललिता नाटिका	अम्बिकादत्त व्यास
लव जी का स्वप्न	काशीनाथ खत्री
लावण्यवती सुदर्शन	शालिग्राम वैश्य
(व)	
वंशी लीला	
वारांगना रहस्य	बद्रीनारायण चौधरी
विद्या-विनोद नाटक	गोपालराम गहमरी
विद्या विलासी मुलर्वालिनी	श्रीकृष्ण काश्मीरी
विधवा दुर्दशा नाटक	रामरतन
विधवा सन्ताप नाटक	काशीनाथ खत्री
विवाह विडंबना नाटक	तोताराम वकील
विवाहिता विलाप नाटक	निहिलाल
विषस्य विषमौषधम्	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
विश्वामित्र	कैलाशनाथ बाजपेयी
विषयाचन्द्र हास	सी० एल० सिन्हा
विज्ञान नाटक	शंकरानन्द तृतीय
विचित्र नाटक	गुरु गोविन्दसिंह

सहायक पुस्तक-सूची

पुस्तक	लेखक
वीर अभिमन्यु	राधेश्याम कथावाचक
बुद्धदेव	व्याकुल भारत कम्पनी
वीर भारत	हरिकृष्ण जौहर
वीर बाला	बैजनाथ
वीर नारी	अनु॰ रामकृष्ण वर्मा
वेनिस नगर का व्यापारी	आर्य उपनाम महिमा
वेणी संहार	अम्बिकादत्त व्यास
वेश्या नाटक	चौधरी नवलसिंह
	(अनु॰ शिवप्रसाद शर्मा)
वेश्या विलास	देवकीनन्दन त्रिपाठी
वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
बहु-विवाह नाटक	घनश्यामदास
बृहन्नला	बालकृष्ण भट्ट
बभ्रुवाहन	अनु॰ गोपालराम गहमरी
बनवीर	" "
विद्या विनोद	
(श)	
शकुन्तला (हस्तलेख)	धाकस मिश्र
शकुन्तला	नेवाज
शकुन्तला नाटक	हाकिम मुहम्मद मसुल्ला
शमशाद सौसन	केशवराम भट्ट
शर्मिष्ठा	अनु॰ रामकृष्ण वर्मा
शिवाजी	मिश्रबन्धु
शील सावित्री	कन्हैयालाल
श्यामानुराग नाटिका	सूर्यनारायण सिंह
श्रवण कुमार	राधेश्याम कथावाचक
(स)	
सत्य हरिश्चन्द्र	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
सज्जाद संबुल	केशवराम भट्ट
सती नाटक	उदित नारायण वकील
सती चन्द्रावली	रामचरण गोस्वामी
सती चरित्र नाटक	हनुमन्तसिंह रघुवीरसिंह
सती प्रताप	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

पुस्तक	लेखक
सत्यवती नाटक	मगनलाल कासलीवाल
सत्य हरिश्चन्द्र नाटक	रामभजनमिश्र 'स्वतन्त्र'
सत्योदय	नन्हेमल
सबै जात गोपाल की	भारतेन्दु
समयसार नाटक	बनारसीदास
सँपेरा नया सँपेरा पुराना	(मागर सभा)
सरस्वती	दुर्गाप्रसाद मिश्र
सर्राफी नाटक	गौरीदत्त
सावित्री	लाला देवराज
सिन्धु देश की राजकुमारियाँ	काशीनाथ खत्री
सिलवर किंग	(पारसी थियेटर)
सीता वनवास नाटक	ज्वालाप्रसाद मिश्र
सीता स्वयम्बर नाटक	बल्देवीन दीक्षित
सीय स्वम्बर नाटक	माधव शुक्ल अम्बिकादत्त त्रिपाठी
सुग्रीव सनाप नाटक	सम्पूलाल गुप्त
सुदामाजी का स्वाँग व नाटक	कैलाश कपूर, मेहरा राधेश्याम नरबामन
सुदामा चरित्र	मरोत्तमदास
सुलोचना सती या सती महात्म्य	बल्देवजी मनहरि
सुलोचना सती नाटक	मवदेव
सूरत की बड़ील सूरत	बालकृष्ण भट्ट
सेनापति ऊदल	वृन्दावनलाल वर्मा
सोमा सती	वीरेन्द्र किशोर
सौभद्र हरण	प्रनु० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर
संगीत शाकुन्तल	प्रतापनारायण मिश्र
संयोगिता स्वयम्बर	श्री निवासदास
ससार सागर रत्न अर्थात् वैश्य नाटक	मोहनलाल
संगीत गोपीचन्द	लखमन
संगीत रानीचन्द	इन्द्र
संगीत रामलीला	कुँवर सेम साहब
संगीत प्रह्लाद	लखमन
संगीत सपुरमंगा	—
सांग राजा नरवन	पृथ्वीराम
सांग रूप बसन्त	लखमन के शिष्य

सहायक पुस्तक-सूची

पुस्तक	लेखक
संगीत ध्रुव	चिरंजीलाल तथा सत्याराम शर्मा
श्री दामा नाटक	रविदत्त शुक्ल
संगीत प्रह्लाद	चिरंजीलाल तथा सत्याराम शर्मा
मोरध्वज	" "
" गोपीचन्द	" "
" पूरनमल	"
(ह)	
हनुमन्नाटक	हृदयराम
हनुमान नाटक (हस्तलेख)	उदय
हर-हर महादेव	गोविंद शास्त्री दुगवेकर
हरिकथा (मराठी)	—
हरितालिका नाटक	जङ्ग बहादुर मल्ल
हरिश्चन्द्र	विनायक प्रसाद
हरिश्चन्द्र नजास भाषा	—
गर्दिश तकदीरें	नजीर बेग
हिन्दी साहित्य की दुर्दशा	प्रयाग प्रसाद त्रिपाठी
हिन्दी उर्दू का नाटक	रत्नचन्द्र बी० ए०
होली रूपक नाटक	शिवराम पाण्डेय वैद्य

(आ) अन्य हिन्दी पुस्तकें

पुस्तक	लेखक
अजंता का कला मंडप	रविशंकर रावल
अध्यात्म रामायण	
अभिनव भारती (हिन्दी टीका)	अभिनव गुप्तपादाचार्य
अभिनव नाट्य शास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी
अलबेरूनी का भारत	
अशोक	भंडारकर
आधुनिक भारत	ईश्वरीप्रसाद
आधुनिक हिन्दी साहित्य	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	श्रीकृष्ण लाल
आर्य संस्कृति के मूलाधार	बलदेव उपाध्याय
उर्दू साहित्य का इतिहास	सय्यद एहतिशाम हुसैन
उर्दू साहित्य परिचय	

पुस्तक	लेखक
एकांकी कला	रामकुमार वर्मा
कल्याण का भागवतपुराण अंक	
कवितावली	गोस्वामी तुलसीदास
कवि वचन सुधा (पत्रिका)	अंक मई, १८७१ ई०
कृष्णोपनिषद्	
कांग्रेस का इतिहास	पट्टाभि सीतारमैया
कामायनी सौंदर्य	फतहसिंह
कामसूत्र	वात्स्यायन
काव्य कला तथा अन्य निबन्ध	जयशंकर प्रसाद
कुश नाटक	
गदाधर भट्ट की वाणी	
गीत रघुनन्दन (हस्तलेख)	महाराजा विश्वनाथसिंह
चैतन्य भागवत	वृन्दावनदास
छलना	भगवतीप्रसाद वाजपेयी
छद्मयोगिनी	वियोगी हरि
जीवन और स्वर्ग (भूमिका)	उदयशंकर भट्ट
जानकी रामचरित	हरिराम
नाट्य कला दर्पण	चन्द्रराज भंडारी
नाटक की परख	एस. पी. खत्री
नाट्य प्रबन्ध	बलदेवप्रसाद मिश्र
नाट्य निर्णय	रमाशंकर शुक्ल रसाल
नाट्य शास्त्र	महावीरप्रसाद द्विवेदी
निबन्ध-नवनीत	प्रतापनारायण मिश्र
निम्बार्क माधुरी	बिहारीदास
पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ	कन्हैयालाल
प्रसाद पीयूष	डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी
प्रसाद समीक्षा	प्रेम नारायण टंडन
ब्रिटिश भारत का आर्थिक इतिहास	केशवदेव
भक्तमाल	नाभादास
भक्त कल्पद्रुम	महाराजा प्रतापसिंह
भक्त नामावली लीला	ध्रुवदास
भागवत सम्प्रदाय	बलदेव उपाध्याय

पुस्तक	लेखक
भारतेन्दु की नाट्य कला	प्रेमनारायण शुक्ल
भारतेन्दु युग	रामविलास शर्मा
भक्त कवि व्यास	वासुदेव गोस्वामी
भारत का धार्मिक इतिहास	शिवशंकर मिश्र
भारत दुर्दशा (भूमिका)	सम्पा० वार्ष्णेय
"	सम्पा० रामप्रकाश अग्रवाल
"	सम्पा० सत्यव्रत सिन्हा
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	नगेन्द्र
भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच	मोहनवल्लभ पन्त
भारतीय नाटकशास्त्र (मराठी)	हनुमती केतकर
भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास	सत्यकेतु विद्यालंकार
भारतेन्दु का नाट्य साहित्य	वीरेन्द्रकुमार शुक्ल
भारतेन्दु की नाट्यकला	प्रेमनारायण शुक्ल
भारतेन्दु जी का जीवन चरित्र	राधाकृष्णदास
भारतेन्दु मंडल	व्रजरत्नदास
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	"
महाकवि सूरदास	नन्ददुलारे वाजपेयी
महावाणी	हरिव्यास
मिश्रबन्धु विनोद भाग १ २ ३	मिश्रबन्धु
मम्मनी महारानी (भूमिका)	सद्गुरुशरण अवस्थी
राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज	द्वितीय भाग
राजस्थानी लोक नाट्य	देवीलाल सामर
राजपूत पेंटिंग्स	आनन्दकुमार स्वामी
राधाकृष्ण ग्रन्थावली	
रामचरित मानस	गोस्वामी तुलसीदास
रामभक्ति भावना में मधुर उपासना	भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'
रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय	भगवतीप्रसादसिंह
राम पंचाध्यायी	नन्ददास
राम और रामायणी काव्य	दशरथ ओझा एवं दशरथ शर्मा
राधावल्लभ सम्प्रदाय — सिद्धान्त और साहित्य	विजयेन्द्र स्नातक
रामनी भानुदत्त और श्री नारायण भट्ट	बाबा कृष्णदास

पुस्तक	लेखक
रास सर्वस्व	राधाकृष्णदास
रूपक रहस्य	श्यामसुन्दर दास
रूपक विकास	उपाध्याय वेदमित्र व्रती
मावनी का इतिहास	स्वामी नारायणानन्द सरस्वती
लोकधर्मी नाट्य परम्परा	श्याम परमार
लोकमान्य	
व्रजलोक संस्कृति	कृष्णदत्त वाजपेयी
ब्रजोत्सव चन्द्रिका	
ब्रह्मसूत्र	
विक्टोरिया राजदर्पण	
वेदान्तांक (कल्याण भाग ११)	
वैदिक दर्शन	फतहसिंह
विज्ञान गीता (हस्तलेख)	केशवराम (डा० ब्रजरत्न दास द्वारा प्राप्त)
सन् १८५७ के गदर का इतिहास खण्ड ४	शिवनारायण द्विवेदी
सभा की १३वीं खोज रिपोर्ट	काशी नागरी प्रचारिणी सभा
समीक्षा के सिद्धान्त	सत्येन्द्र
सर्व दर्शन संग्रह	
समीक्षाशास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी
संगीत कलाधर	डाह्याभाई शिवराम
संदेश रासक	हरिवल्लभ भियाणी
संस्कृत साहित्य का इतिहास	कन्हैयालाल पोद्दार
संस्कृत साहित्य का इतिहास	बलदेव उपाध्याय
साहित्य	शिवनारायण शर्मा
साहित्य-परिचय	सत्यदेव चतुर्वेदी एवं गिरिजा मोहन चतुर्वेदी
साहित्य समीक्षांजलि	सुधीन्द्र
सूर सागर	सूरदास
सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ	
हमारी नाट्य परम्परा	श्रीकृष्णदास
हमारी नाट्य साधना	राजेन्द्रसिंह गौड़
हरिवंश पुराण पूर्वार्द्ध	टीका० गदाधर शर्मा

पुस्तक	लेखक
हरिश्चन्द्र	लक्ष्मीसागर
हरिश्चन्द्र जीवन चरित्र	शिवनन्दन सहाय
हरिश्चन्द्र चन्द्रिका	दि० १८७७ ई०
हरिश्चन्द्र मैगजीन	१५ अगस्त १८७३ ई०
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी का सामयिक साहित्य	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
हिन्दी साहित्य का आदिकाल	हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास	ग्रियर्सन
हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास	दशरथ ओझा
हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास	सोमनाथ गुप्त
हिन्दी नाटककार	जयनाथ नलिन
हिन्दी नाटकों का विकास	शिवनाथ
हिन्दी नाट्य साहित्य	ब्रजरत्नदास
हिन्दी में नाट्य शास्त्र का विकास	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
हिन्दी साहित्य—एक अध्ययन	रामरतन भटनागर
हीरक जयन्ती ग्रन्थ	काशी नागरी प्रचारिणी सभा

(ख) संस्कृत एवं पाली ग्रन्थ

नाट्यशास्त्र	भरतमुनि कृत (१९२६)
ऋग्वेद	" (द्वि० म० १८४१)
साहित्य दर्पण	आचार्य विश्वनाथ (शालिग्राम शास्त्रीकृत टीका)
दशरूपक	आचार्य धनंजय (हिन्दी टीका डा० त्रिगुणायत एवं डा० भोलाशंकर व्यास)
भावप्रकाशनम्	शारदातनय (१९३०)
अभिज्ञान-शाकुन्तलम्	महाकवि कालिदास
विक्रमोर्वशीयम्	" "
मालविकाग्निमित्रम्	"
मेघदूतम्	" "
उत्तर रामचरितम्	महाकवि भवभूति
महावीरचरितम्	" "
मालतीमाधवम्	" "
हनुमन्नाटक	श्री पवनकुमार श्री हनुमज्जी प्रणीत

पुस्तक	लेखक
गीता भाष्य	(")
ब्रह्मसूत्र भाष्य	(")
शतपथ ब्राह्मण	(" ")
भागवतसंदर्भ	जीवगोस्वामी
भक्ति विवेक	नारायणभट्ट
श्री मद् भागवत महापुराण	
नाट्यदर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र
रामायण (वाल्मीकीय)	"
रामायण (अध्यात्म)	" "

(ई) अंग्रेजी के ग्रन्थ

Books	*Writers*
A History of Hindi Literature	Keay (Modern period)
A History of Indian Literature	Winternitz Vol. I
A History of Modern India	Dr Ishwari Pd. and S.K. Subedar
An Advanced History of India	R.C Majmudar Raychaudhari and Datta
Ancient Indian Theatre	D.R. Mankod
Annals of antiquities of Rajasthan	Todd
Archaelogical Survey of India (1033—4)	Dr Theodore Bloach
Bagh Caves	India Society London
Bengali Literature	Anand Shanker and Lila Roy
British Drama	A. Nicoll
Buddhist India	Rhys Davis
Catalogue of Manuscripts in the Library of H.H. Maharana of Udaipur	
Die Sagents offe des Rigveda	Maxmuller
Drama in Sanskrit Lit.	R.V Jagirdar
History of Classical Sanskrit Lit	M. Krishnamachari
History of Bengali Language and Literature	Dinesh Chandra Sen

पुस्तक	लेखक
कर्पूरमंजरी	राजशेखर
प्रसन्नराघव	जयदेव
प्रबोध चन्द्रोदय	कृष्णमिश्र
मुद्राराक्षस	विशाखदत्त
कृष्णोपनिषद्	
चण्डकौशिकम्	आर्य क्षमीश्वर एवं आशुतोष विद्याभूषण नित्यबोध विद्यारत्न
मृच्छकटिकम	शूद्रक (टीकाकार ब्रह्मानन्द शुक्ल)
दूतांगदम्	सुभट कवि (टीकाकार अनन्तराम शास्त्री)
वेणी संहार	भट्टनारायण
विमानवत्थु (पाली)	सं० रिसडेविस तथा कार्पेंटर
दिग्घ निकाय (पाली)	सं० ,, ,,
जातक कथा	,,
वाजसनेय संहिता	' ,,
तैत्तिरीय संहिता	
नारदीय भक्तिसूत्र	,,
शाण्डिल्य सूत्र	
भक्तिरसामृत सिंधु	रूपगोस्वामी
उज्ज्वल नीलमणि	रूप गोस्वामी
भक्तिरस तरंगिणी	नारायण भट्ट
नवरत्न अथवा स्वधर्मपद्धति	हरिराम व्यास
नारायणभट्टाचार्य चरितामृत	गोस्वामी जानकीदास
लघु नारायणभट्ट चरितामृत	
प्रेमांकुर	श्री नारायण भट्ट
रसमाला	रूप गोस्वामी
विदग्ध माधव नाटक	
ललित माधव	
दानकेलि कौमुदी	
चैतन्य चन्द्रोदय	कवि कर्णपूर
प्रसन्न राघव	
वेदान्त संग्रह	(रामानुजाचार्य)
वेदान्त सार	( )
वेदान्त प्रदीप	(,, ,,)

पुस्तक	लेखक
गीता भाष्य	(„ „)
ब्रह्मसूत्र भाष्य	(„)
शतपथ ब्राह्मण	(„)
भागवतधर्म	जीवगोस्वामी
भक्ति विवेक	नारायणभट्ट
श्री मद् भागवत महापुराण	
नाट्यदर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र
रामायण (वाल्मीकीय)	
रामायण (आध्यात्म)	„

(६) अंग्रेजी के ग्रन्थ

Books	*Writers*
A History of Hindi Literature	Keay (Modern period)
A History of Indian Literature	Winternitz Vol. I
A History of Modern India	Dr Ishwari Pd. and S.K. Subeda
An Advanced History of India	R.C. Majmudar Raychaudhari and Datta
Ancient Indian Theatre	D.R. Mankod
Annals of antiquities of Rajasthan	Todd
Archaelogical Survey of India (1933—4)	Dr Theodore Bloach
Bagh Caves	India Society London
Bengali Literature	Anand Shanker and Lila Roy
British Drama	A. Nicoll
Buddhist India	Rhys Davis
Catalogue of Manuscripts in the Library of H.H Maharana of Udaipur	
Die Sagentsoffe des Rigveda	Maxmuller
Drama in Sanskrit Lit	R.V Jagirdar
History of Classical Sanskrit Lit.	M. Krishnamachari
History of Bengali Language and	Dinesh Chandra Sen

India Today	R. Palme Dutt.
Indian Theatre	E.P. Horwitz
Introduction portion of Bharat Natya Shastra	Man Mohan Ghosh
Indian Antiquary 1963	
Mathura District Memoirs	S L. Growse
Mirror of Gesture	
On Poetry in Drama	Harlea Granville Barker
Philosophy of Veda and Upanishads	Keith
Sanskrit Drama	Keith
Sanskrit Drama and Dramatists	K.P. Kulkarni
Social and Religious Movement in the 19th Century	C.S. Shrinivasachari
The Indian Stage Vol. I	H.N. Das Gupta
" " II	"
" " " III	" "
" " IV	"
The Concept of Vajra in Vedic Sociology	Dr Fateh Singh
The Concept of Vedic Sociology	" "
Theory of Drama	Allardyce Nicoll
The Theatre of the Hindus	H.H. Wilson
The Types of Sanskrit Drama	D.R. Mankad
World Drama	A. Nicoll